
131521

जनवरी 2001

पुरोधा







उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा जनवरी २००१ वर्ष ३९, अंक ४, पूर्णांक ४१०

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के ४० और पुरोधा के ५० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी॰ पी॰ पी॰ से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ८०० रु॰ देकर अग्निशिखा के और १,००० रु॰ देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	१,०००	८००	१,८००
वार्षिक शुल्क	५०	४०	९०

संपर्क-सूत्र— संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा फरवरी २००१ वर्ष ३९, अंक ५, पूर्णांक ४११

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के ४० और पुरोधा के ५० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ८०० रु० देकर अग्निशिखा के और १,००० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	१,०००	८००	१,८००
वार्षिक शुल्क	५०	४०	९०

संपर्क-सूत्र— संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

फरवरी २००१

पुरोधा



उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा मार्च २००१ वर्ष ३९, अंक ६, पूर्णांक ४१२

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा... में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के ४० और पुरोधा के ५० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ८०० रु० देकर अग्निशिखा के और १,००० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	१,०००	८००	१,८००
वार्षिक शुल्क	५०	४०	९०

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

पुरोधा



उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा अप्रैल २००१ वर्ष ३९, अंक ७, पूर्णांक ४१३

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के ४० और पुरोधा के ५० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ८०० रु० देकर अग्निशिखा के और १,००० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	१,०००	८००	१,८००
वार्षिक शुल्क	५०	४०	९०

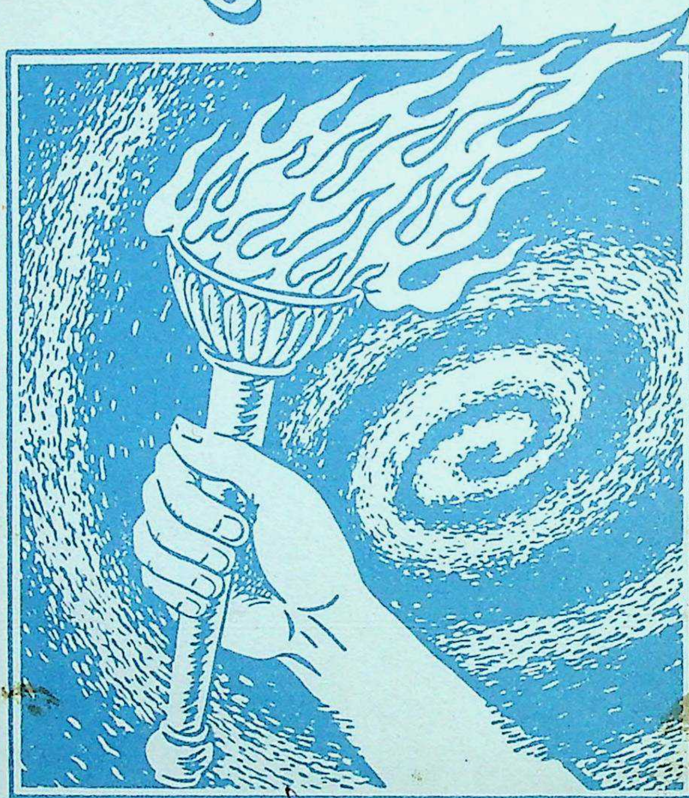
संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

अप्रैल

पुरोधा

२००१



उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा मई २००१ वर्ष ३९, अंक ८, पूर्णांक ४१४

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के ४० और पुरोधा के ५० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ८०० रु० देकर अग्निशिखा के और १,००० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	१,०००	८००	१,८००
वार्षिक शुल्क	५०	४०	९०

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

मई

पुरोधा

२००१



उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा जून २००१ वर्ष ३९, अंक ९, पूर्णांक ४१५

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा ... में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के ४० और पुरोधा के ५० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ८०० रु० देकर अग्निशिखा के और १,००० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	१,०००	८००	१,८००
वार्षिक शुल्क	५०	४०	९०

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

पुरोधा



उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा जुलाई २००१ — वर्ष ३९, अंक १०, पूर्णांक ४१६

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के ४० और पुरोधा के ५० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ८०० रु० देकर अग्निशिखा के और १,००० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	१,०००	८००	१,८००
वार्षिक शुल्क	५०	४०	९०

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

जुलाई २००१

पुरोधा



उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा अगस्त २००१ वर्ष ३९, अंक ११, पूर्णांक ४१७

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के ४० और पुरोधा के ५० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ८०० रु० देकर अग्निशिखा के और १,००० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	१,०००	८००	१,८००
वार्षिक शुल्क	५०	४०	९०

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

अगस्त

पुरोधा

२००१



उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा सितम्बर २००१ वर्ष ३९, अंक १२, पूर्णांक ४१८

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के ४० और पुरोधा के ५० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ८०० रु० देकर अग्निशिखा के और १,००० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	१,०००	८००	१,८००
वार्षिक शुल्क	५०	४०	९०

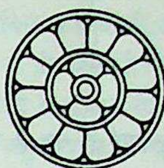
संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वन्दना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

सितम्बर २००

पुरोधा





प्रार्थना और ध्यान

३१ मई १९१४

शांत झुटपुटे के समाहित ध्यान में जब सूर्यास्त हुआ तो हे प्रभो, मेरी सारी सत्ता मूक पूजा-भाव और पूर्ण आत्मदान के साथ तेरे आगे साष्टांग हो गयी। तब मैं पूर्ण पृथ्वी थी और संपूर्ण पृथ्वी तेरे आगे साष्टांग हो गयी, तेरे प्रकाश के आशीर्वाद और तेरे प्रेम के परमानंद के वरदान की याचना करने लगी। ओ, पृथ्वी घुटने टेके हुए तेरे आगे अनुनय-विनय कर रही थी, तब रात की नीरवता में अपने अंदर केन्द्रित होकर, वह एक ही साथ धैर्य और चिंता में तीव्र रूप से काम्य प्रकाश की प्रतीक्षा करती रही। यदि जगत् में कार्यरत तेरा दिव्य प्रेम होने में एक मधुरता है तो उतनी ही अधिक मधुरता है वह अनंत अभीप्सा होने में जो उस अनंत प्रेम की ओर ऊपर उठती है। और इस तरह बदलने में समर्थ होना, उत्तरोत्तर, लगभग युगपत् रूप से, देनेवाला और ग्रहण करनेवाला, जो रूपांतरित करता और जो रूपांतरित होता है, पीड़ादायक अंधकार और सर्वशक्तिमान् दीप्ति होना और इस दोहरे तादात्म्य में तेरे परमोच्च एकत्व का रहस्य पाना, क्या यह तेरी परम इच्छा को प्रकट करने और उपलब्ध करने का एक तरीका नहीं है ? . . .

हे मेरे मधुर स्वामी, मेरा हृदय प्रदीप्त पूजा-गृह है और तू वहां स्थायी रूप से उच्चतम प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित है; तेरा रूप मेरे आगे इसी तरह से, महिमा-मंडित होकर, तेरे लिये मेरे हृदय को स्वाहा करती हुई ज्वालाओं के बीच दिखायी देता है, और साथ ही मैं अपने मस्तिष्क में तुझे अकल्पनीय, अज्ञेय, निराकार देखती और जानती हूं और इस दोहरी दृष्टि में, दोहरे ज्ञान में संतोष की परिपूर्णता है।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

जनवरी

१. इस क्षण जो चीज सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है वह है चेतना का परिवर्तन।

२. हम जो पढ़ाना चाहते हैं वह केवल एक मानसिक आदर्श नहीं है। यह है जीवन का एक नया भाव और चेतना की उपलब्धि। यह उपलब्धि सबके लिये नयी है और दूसरों को यह ठीक तरह पढ़ाने का एक ही तरीका है—इस नयी चेतना के अनुसार जीना और अपने-आपको उसके द्वारा रूपांतरित होने देना।

३. हम जगत् के इतिहास के एक निर्णायक मुहूर्त में हैं। वह अतिमानस के आने की तैयारी कर रहा है और इस कारण जीवन का पुराना तरीका अपना मूल्य खो रहा है। हमें अपने-आपको हिम्मत के साथ, उसकी नयी मांगों के बावजूद, भविष्य के मार्ग पर फेंक देना चाहिये। एक समय जो तुच्छताएं सह ली जाती थीं अब उन्हें न सहा जायेगा। हमें अपने-आपको अधिक विस्तृत करना होगा ताकि जो जन्म लेनेवाला है उसे हम ग्रहण कर सकें।

४. मनुष्य केवल एक मध्यवर्ती सत्ता है जो मानसिक चेतना में निवास करता है, लेकिन उसमें एक नयी चेतना, सत्य चेतना प्राप्त करने की संभावना है, वह पूर्णतया सुव्यवस्थित, शुभ, सुन्दर, सुखमय और पूर्णतया सचेतन जीवन जीने में समर्थ है, अपने सारे पार्थिव जीवन में श्रीअरविन्द ने अपना सारा समय अपने अंदर इस चेतना को प्रतिष्ठित करने में लगाया जिसे वे अतिमानस कहते हैं...।

५. बच्चों के लिये, और ठीक इस कारण कि वे बच्चे हैं, ज्यादा अच्छा यह होगा कि उनके अंदर भविष्य को जीतने का संकल्प भरा जाये, हमेशा आगे नजर रखने का और जितनी तेजी से हो सके उतनी तेजी से जो होनेवाला है उसकी ओर गति करने का संकल्प।

६. जब तुम मौज करते और भूल जाते हो, जब चीजें जैसे आती हैं, तुम उन्हें उसी तरह ग्रहण कर लेते हो, गंभीर होने और जीवन से आंखें चार करने से बचते हो, एक शब्द में कहें तो भूल जाना चाहते हो, यह भूल जाना चाहते हो कि कोई समस्या है जिसे सुलझाना है, कि किसी चीज का अन्वेषण करना है, कि हमारे अस्तित्व और जीवन का कोई कारण है, हम यहां केवल अपना समय काटने के लिये और बिना कुछ सीखे और बिना कुछ किये चले जाने के लिये नहीं हैं; अगर ऐसा हो तो हम सचमुच अपना समय नष्ट करते हैं और हमें जो अवसर दिया गया है उसे खो देते हैं।...

७. युवा होने का अर्थ है तुम जो कुछ हो उसे छोड़ने के लिये सदा तैयार रहना ताकि तुम वह बन सको जो तुम्हें होना चाहिये।

८. व्यष्टिगत जीवन का सबसे पहला विधान और प्रयोजन है आत्म-विकास की खोज। व्यक्ति सचेतन, अर्द्धचेतन या एकदम निश्चेतन के अंधेरे में सदा आत्म-निर्माण की खोज करता है और ठीक ही करता है—अपने-आपकी खोज, अपने अंदर अपनी सत्ता के विधान और शक्ति की खोज और उसकी परिपूर्ति। उसके अंदर यह लक्ष्य मौलिक, उचित और अनिवार्य है क्योंकि सभी उपाधियां पा लेने के बाद, सभी चेतावनियों में धंसने के बाद व्यक्ति केवल क्षणभंगुर भौतिक प्राणी

नहीं है, मन और शरीर का रूप नहीं है जो जुड़ता और घुलता है बल्कि एक सत्ता, शाश्वत सत्य की एक जीवित शक्ति, आत्माभिव्यक्ति करनेवाली आत्मा है।

९. बच्चों को एक और चीज छोटी उम्र से ही सिखानी चाहिये, वह है सफाई और स्वास्थ्यकर आदतों के लिये रुचि। लेकिन अगर तुम बच्चे में सफाई के लिये रुचि और स्वास्थ्य के नियमों के लिये मान पैदा करना चाहते हो तो तुम्हें बहुत सावधान रहना चाहिये कि उसके अंदर रोग का भय न भर दो।

१०. जब सूर्य अस्त होता है तो धरती पर एक तरह की शांति उतरती है। यह शांति सोने में सहायक होती है।
जब सूर्य उदय होता है तो एक स्फूर्तिभरी ऊर्जा काम के लिये सहायक होती है।
अगर तुम देर में सोओ और देर में उठो तो तुम प्रकृति की शक्तियों का विरोध करते हो और यह बहुत बुद्धिमत्ता की बात नहीं है।

११. ... सत्ता के हर भाग में भगवान् अपने-आपको अलग-अलग ढंग से प्रकट करते हैं। उच्चतर भागों में वे शक्ति, प्रेम आदि द्वारा अभिव्यक्त होते हैं लेकिन भौतिक में वे सामंजस्य और सौन्दर्य के रूप में प्रकट होते हैं।

१२. अपने अंदर की विभिन्न गतिविधियों के बारे में सचेतन होना और तुम क्या करते और क्यों करते हो उससे अभिज्ञ होना अनिवार्य आरंभ-बिंदु है। बच्चे को अवलोकन करना, अपनी प्रतिक्रियाओं, आवेशों और उनके कारणों को देखना सिखाना चाहिये। अपनी कामनाओं का, अपनी उग्रता, और आवेगों की गतिविधियों का, अधिकार करने, हड़पने और शासन करने की वृत्ति का और पीछे से उन्हें सहारा देनेवाली अहम्मन्यता तथा साथ ही साथ अपनी दुर्बलता, हतोत्साह, अवसाद और निराशा का विवेकशील साक्षी होना सिखाना चाहिये।

१३. अपने-आपको जान लेना और अपने ऊपर प्रभुत्व पा लेना हर जीवित प्राणी के लिये एक अमूल्य आधिपत्य है। अपने-आपको जानने का अर्थ है अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के हेतु को, अपने अंदर जो कुछ होता है उसके क्यों और कैसे को जानना। अपने ऊपर प्रभुत्व पाने का अर्थ है वही करना जिसका तुमने निश्चय कर लिया है, उसके सिवा कुछ और नहीं, आवेशों, कामनाओं और सनकों पर कान न देना, उनका अनुसरण न करना।

१४. हम बच्चे को जो उपहार दे सकते हैं उनमें सबसे अधिक मूल्यवान् है सीखने से प्रेम, हमेशा, हर जगह सीखने से प्रेम ताकि सभी परिस्थितियां, जीवन की सभी घटनाएं हमेशा सीखने और अधिक सीखने के लिये नये-नये अवसर बनें।

१५. हमारा लक्ष्य है चीजों को बदलना। वैज्ञानिक कहता है कि जो कुछ है वह प्राकृतिक है और उसे हृदय में नहीं बदला जा सकता लेकिन वस्तुतः वह जिन नियमों की बात करता है वे सामान्यतः उसीके मन की रचना होते हैं और चूंकि वह प्रकृति को उसी रूप में स्वीकार करता है जैसी कि वह है इसलिये उसके लिये चीजें कभी पूर्णतया नहीं बदलतीं और न बदल सकती हैं लेकिन हमारी दृष्टि में यह सब बदल सकता है क्योंकि हम जानते हैं कि कोई चीज ऊपर है—एक दिव्य सत्य जो अभिव्यक्त होना चाहता है। वहां कोई निश्चित नियम नहीं है। विज्ञान भी, जब कट्टरता से काम नहीं लेता, तो यह स्वीकार करता है कि ये नियम उसकी मानसिक रचनाएं हैं।

१६. हर एक को यह सिखाना चाहिये कि वह जो कुछ भी करे उसे अच्छी तरह करने में आनंद ले,

चाहे वह बौद्धिक या कलात्मक हो अथवा शारीरिक काम हो। और सबसे बढ़कर यह सिखाना चाहिये कि हर काम, वह चाहे कुछ क्यों न हो, यदि उसे अच्छी तरह सावधानी और कौशल के साथ किया जाये तो उसकी अपनी गरिमा है।

१७. बौद्धिक रूप से सत्य वह बिन्दु है जहां सभी विरोध मिलते हैं और मिलकर एकता का निर्माण करते हैं।

व्यावहारिक रूप से सत्य है अहंकार का उत्सर्ग ताकि भगवान् का जन्म और उनकी अभिव्यक्ति संभव हो सके।

१८. हम एक ऐसी जाति चाहते हैं जिसमें अहंकार न हो, जिसमें अहंकार के स्थान पर दिव्य चेतना हो, हमें उसीकी चाह है—ऐसी भागवत चेतना जो जाति को विकसित करेगी और अतिमानसिक सत्ता को जन्म देगी।

१९. अनुकम्पा क्षमा और दया का पर्याय है। यह बल और दयालुता से भरपूर दया है जो भूलों का परिमार्जन करती और क्षमा करती है, सभी अपराधों को मिटाती है और हमेशा वही चाहती है जो प्रत्येक के लिये अच्छे-से-अच्छा है।

२०. भगवान् आनंदमय हैं और तुम उन्हें उनसे मिलनेवाले आनंद के लिये खोज सकते हो। लेकिन उनके पास और भी बहुत-सी चीजें हैं और तुम उन्हें उनमें से किसी के लिये भी खोज सकते हो जैसे शांति के लिये, मुक्ति के लिये, ज्ञान के लिये, शक्ति के लिये या ऐसी किसी भी चीज के लिये जिसकी ओर तुम खिंचते हो या जिसके लिये तुम्हारे अंदर आवेग उठता है।

२१. भगवान् अपने-आपको उन्हींको देते हैं जो स्वयं को बिना बचाये और अपने सभी भागों में भगवान् को दे देते हैं। उन्हींके लिये हैं शांति, प्रकाश, शक्ति, आनन्द, मुक्ति, विस्तार, ज्ञान की ऊंचाइयां और आनंद के समुद्र।

२२. ऐसा कोई भी नहीं है जिसके लिये भगवान् को पाना असंभव हो।

कुछ लोगों के लिये बहुत-बहुत जन्म लग जायेंगे जब कि ऐसे लोग भी हैं जो इसी जन्म में उन्हें पा लेंगे, यह संकल्प का प्रश्न है, स्वयं तुम्हें चुनाव करना होगा।

लेकिन मुझे कहना चाहिये कि वर्तमान समय में परिस्थितियां विशेष रूप से अनुकूल हैं।

२३. जैसे ही तुम बढ़ना बंद कर देते हो, जैसे ही तुम प्रगति करना बंद कर देते हो, जैसे ही तुम ज्यादा अच्छा होना बंद कर देते हो, बढ़ना और विकसित होना बंद कर देते हो, अपने-आपको बदलना बंद कर देते हो, वैसे ही तुम सचमुच बूढ़े हो जाते हो, यानी, तुम विलय की ओर गिरने लगते हो।

२४. आश्रम के जीवन का लक्ष्य है आध्यात्मिक चेतना पर आधारित जीने के एक नये मार्ग को तैयार करना—यह जीवन की एक नयी नींव को रखने की तैयारी है जिसमें समस्त कर्मों को स्वयं अपने लिये नहीं बल्कि भगवान् के लिये करना चाहिये।

२५. ज्ञान हमेशा अज्ञान से अधिक अच्छा होता है। यह अगर उस समय नहीं तो बाद में भी वस्तुओं को संभव बनाता है, जब कि अज्ञान सक्रिय रूप से बाधा देता और पथभ्रष्ट करता है।

२६. जगत् में जो कुछ घट रहा है उसके बारे में जानना यौगिक जीवन के सिद्धांत के विरुद्ध नहीं है—अयौगिक है इन चीजों से आसक्त हो जाना और इनके बिना रह न पाना या इन्हें सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु मानना। सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु होनी चाहिये साधना—नयी चेतना

और नये आंतरिक जीवन में विकास। बाकी सब कुछ अनासक्त भाव से, उनमें पूरी तरह से डूबे बिना करना चाहिये।

२७. मनुष्य को चुनाव करने की अविरत स्थिति में रहना होगा; अपने जीवन के प्रत्येक मुहूर्त में तुम्हें नीचे खींचनेवाली और ऊपर उठानेवाली चीजों के बीच, प्रगति करने और पीछे ले जानेवाली चीजों के बीच एक चुनाव करना होगा; पर इसे मैं कोई अभिरुचि रखना नहीं कहती, इसे मैं एक चुनाव करना कहती हूं—चुनाव करना, चुनना कहती हूं। प्रत्येक क्षण मनुष्य को चुनना होता है, यह अनिवार्य होता है, और सफाई तथा गंदगी के बीच, चाहे वह नैतिक हो या भौतिक, सदा के लिये चुनाव करने की अपेक्षा वह अनंतगुना अधिक अनिवार्य है।

२८. अभिरुचि एक अंधी चीज है, एक प्रकार का आवेग, एक तरह की आसक्ति, एक अचेतन क्रिया है, और यह सामान्यतया भयानक रूप में दुराग्रही होती है।

२९. तुम संसार में जो कुछ है उस सबके लिये मेल-जोल, एकता, प्रेम, पूर्ण करुणा का एक ही गहरा मनोभाव रखने की अभीप्सा कर सकते हो—यदि तुम नहीं रखते तो रखना चाहिये; परंतु यह मनोभाव भी प्रत्येक मामले में अलग-अलग तरीके से, उस मामले के सत्य तथा उसकी आवश्यकता के अनुसार प्रयुक्त होगा।

३०. प्रधानतया, प्रारंभ-बिंदु है अपने-आपका निरीक्षण करना, एक सतत चंचलता में, एक अनवरत लापरवाही में निवास न करना। हमें हमेशा सतर्क रहना चाहिये।

३१. ठीक उस समय जब हर चीज बद से बदतर होती हुई मालूम होती है, उसी समय हमें श्रद्धा का परम कर्म करना चाहिये और यह जानना चाहिये कि भागवत कृपा हमें कभी निराश न करेगी।

मेरा मतलब है परिणामों की परवाह किये बिना अपने आंतरिक विश्वास के साथ काम करना और बाहरी तौर पर उल्टे परिणामों के होते हुए भी अपनी श्रद्धा को अडिग रखना।

— — ॐ — —

यंत्र को पूर्ण बनाने की ओर भी ध्यान देना

हमें अपनी सत्ता के बाहरी भाग को पूर्ण बनाने की ओर भी बहुत अधिक ध्यान देना चाहिये। जब उच्चतर सत्य अभिव्यक्त होना चाहे तब उसे तुम्हारे अंदर एक ऐसी मनोमय सत्ता मिलनी चाहिये जो पर्याप्त रूप में सूक्ष्म और समृद्ध हो, जो प्रकट होने की चेष्टा करनेवाली भावना को विचार का एक ऐसा रूप देने में समर्थ हो जो उसकी शक्ति और स्पष्टता की रक्षा कर सके। फिर, वह विचार जब शब्दों का जामा पहनने की चेष्टा करे तब तुम्हारे अंदर उसे अभिव्यक्त करने की यथेष्ट शक्ति हो ताकि शब्द उस विचार को प्रकाशित कर सकें और उसे विकृत न कर डालें। और जिस सिद्धांत के अंदर तुम सत्य को मूर्तिमान् करते हो, उसे तुम्हारे सभी मनोभावों, तुम्हारी सभी इच्छाओं और क्रियाओं, तुम्हारी सत्ता के सभी क्रिया-कलापों में झलकते रहना चाहिये। और अंत में निरंतर प्रयास के द्वारा, स्वयं इन क्रियाओं को भी अपनी उच्चतम पूर्णता प्राप्त करनी चाहिये।

—श्रीमां

दशावतार

आरंभ में जल-ही-जल था। सारी सृष्टि अंधेरे जल तक ही सीमित थी।

भगवान् निश्चेतना के इस अंधेरे जल में उतरे और उसमें प्रकाश की चिनगारी ले आये। सबसे पहले उन्होंने मछली का रूप लिया। जल में वही पहले सचेतन प्राणी का रूप था। उनकी पीठ पर वेद थे, वेद हैं ज्ञान की पुस्तक, वह ज्योति जो निर्माण करती है। चिनगारी बढ़ती गयी। तत्त्व में परिवर्तन आना शुरू हुआ। धीरे-धीरे धरती रूप लेने लगी तथा जल और धरती, दो तत्त्वों में रहनेवाले प्राणियों ने जन्म लिया। अब भगवान् कछुए के रूप में प्रकट हुए। वे अपनी पीठ पर नयी-नयी धरती को उठाये हुए थे और उसके भार के कारण पीठ पर झुर्रियां पड़ गयी थीं, दरारें और खरोंचें आ गयी थीं। इसके बाद ठोस धरती तैयार हुई जिसमें इधर-उधर जंगली पेड़-पौधे और रूखड़ियां थीं। भगवान् उसके स्वामी बनकर जंगली शूकर के रूप में आये और धरती को उन्होंने अपने दांत पर उठा लिया ताकि वह कहीं बह न जाये। विकास-क्रम में इसके बाद पशु से उठकर मनुष्य की बारी आयी, प्रभु मनुष्य और पशु के मिश्रण-स्वरूप नृसिंह बनकर उतरे। उनका काम था उन विरोधी शक्तियों को मारना जो भगवान् को मानने से इंकार करती हैं और विकास की ऊर्ध्व यात्रा को रोकती हैं। इसके बाद पहला मानव रूप आया। वह था तो पूर्ण मानव पर बहुत संक्षिप्त रूप में। मनुष्य देखने में छोटा था पर उसकी अभीप्साएं छोटी न थीं। भगवान् ने वामन-रूप धारण किया।

अब मनुष्य ने साधारण रूप और स्वभाव पा लिया और प्रौढ़ मानव बन गया। इसमें पहला रूप है शुद्ध रूप से राजसिक मनुष्य जो प्राणमय शक्तिशाली मनुष्य है, तब मनुष्य बस एक युद्धप्रिय जाति थी और क्षत्रियों का राज था। वहां भगवान् भृगुपति परशुराम के रूप में क्षत्रिय बनकर उतरे और उच्चतर मनुष्य के लिये रास्ता साफ करने की दृष्टि से अपनी ही जाति का संहार किया। अगले अवतार हैं श्रीराम। वे आदर्श सात्त्विक मनुष्य हैं लेकिन उन्हें भी प्राणिक शक्तियों का संहार और दमन करना पड़ा ताकि शुद्ध सात्त्विक रामराज्य की स्थापना कर सकें।

वास्तव में तीन राम थे, तीनों मिलकर मानव-विकास के चक्र को पूरा करते हैं। पहले परशुराम, दूसरे राम या कोदण्ड राम और तीसरे बलराम या हलधर। बलराम उस गतिशील तत्त्व के प्रतीक हैं जो ऊपर की ओर उठता है और प्राणिक मानव को उच्चतर चेतना की स्वाधीनता और उसके आनंद की ओर खींचता है। बलराम ने अपने हल से यमुना को श्रीकृष्ण की नीली ज्योति की ओर खींचा था।

ऊपर की ओर उठने की इस प्रेरणा ने अपनी पूर्णता पायी बुद्ध में जो उस उच्चतर चेतना के प्रतीक हैं जिसमें मनुष्य उन सब चीजों को प्राप्त कर सकता और कर लेता है जिन्हें प्राप्त करना है।

शायद बुद्ध विकास के एक चक्र के अंत के प्रतीक हैं, लेकिन विकास और उपलब्धि का कहीं अंत नहीं। इससे परे भी ज्योतियां हैं, इससे परे भी उपलब्धियां और सिद्धियां हैं। कल्कि एक युग को समाप्त करके नये युग का आरंभ करते हैं। वे चेतना और शक्ति के सफेद घोड़े पर सवार होकर मृत भूत के शवों को पीछे छोड़ते हुए आगे निकल जाते हैं। वे एक नये सत्ययुग के अग्रणी हैं।

—नलिनीकांत गुप्त

(यहां श्रीकृष्ण का नाम इसलिये नहीं दिया गया है कि जयदेव, जिनके 'दशावतार' के आधार पर यह लेख लिखा गया है, उन्हें पुरुषोत्तम भगवान् मानते थे।—सं०)

सत्य पर डटे रहो

भागवत मुहूर्त

"ऐसी घड़ियां आती हैं जब देव मनुष्यों के बीच विचरण करते हैं और हमारे जीवन-सलिल पर भगवान् का श्वास फैल जाता है। और फिर ऐसा भी समय आता है जब वे पीछे हट जाते हैं और मनुष्य अपने अहंकार की ही सामर्थ्य या निर्बलता से काम करने के लिये छोड़ दिया जाता है। प्रथम काल में, थोड़ा-सा भी प्रयत्न करने पर बड़े परिणाम पैदा होते हैं और भाग्य बदल जाता है और, दूसरे काल में, जरा-से परिणाम के लिये बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। यह सत्य है कि दूसरा पहले के लिये तैयारी कर सकता है और यज्ञ का थोड़ा-सा धुआं बनकर स्वर्ग में जा सकता और वहां से भगवान् की देन का आवाहन कर सकता है।

अभागा है वह मनुष्य या राष्ट्र जो भागवत मुहूर्त के आने पर सोया हुआ रहे या उसके उपयोग के लिये तैयार न हो, जो उसके स्वागत के लिये दीया संजोकर न रखे और उसकी पुकार की ओर से कान बंद कर ले। पर कहीं अधिक अभागे हैं वे जो सशक्त और तैयार होते हुए भी उस शक्ति का अपव्यय करते हैं और उस मुहूर्त का दुरुपयोग करते हैं। उनके भाग्य में होती है पूरी न हो सकनेवाली क्षति या एक महान् विनाश।

भागवत मुहूर्त में धो डालो अपनी अंतरात्मा से अपने-आपको धोखा देने की वृत्ति, ढोंगबाजी और झूठी आत्म-प्रशंसा, ताकि तुम सीधे अंतःपुरुष को देख सको और उसकी पुकार को सुन सको। तुम्हारी प्रकृति का कपट, जो पहले तुम्हें प्रभु की दृष्टि से तथा आदर्श की ज्योति से बचाए हुए था, तुम्हारे कवच में एक छेद बन जायेगा और ऊपर से प्रहारों को निमंत्रण देगा और यदि क्षण-भर के लिये तुम जीत भी गये तो तुम्हारे लिये और भी बुरा है, क्योंकि प्रहार तो बाद में आयेगा ही और तुम्हारी विजय के समय भी तुम्हें पटक देगा। शुद्ध होकर झाड़ फेंको समस्त भय को। यह घड़ी प्रायः भयंकर होती है, यह आग, बवण्डर और तूफान की न्याई है और है रुद्र का ताण्डव नृत्य। परंतु जो इसमें अपने उद्देश्य की सच्चाई के बल पर खड़ा रह सकता है वही खड़ा रहेगा और, चाहे वह वायु के पंखों पर उड़ भी क्यों न जाये, फिर भी वह जरूर वापिस आ जायेगा। सांसारिक बुद्धिमत्ता तुमसे अधिक कानाफूसी न कर पाये। यह अप्रत्याशित की घड़ी है।"

—श्रीअरविन्द

'श्वेत कमल' पृ० १९८-१९९

— — ❦ — —

दोषपूर्ण क्रियाओं से छुटकारा पाना तभी अधिक आसान होगा जब तुम अपनी सत्ता के उस भाग में स्थायी शांति और समता उतार लाओगे। उस समय ऐसी क्रियाओं का अपने-आप ही परित्याग होगा और तपस्या की आवश्यकता कम हो जायेगी।

—श्रीअरविन्द

अमृत की यादें

(४)

उन दिनों जब पांडिचेरी में काफी फ्रेंच लोग रहा करते थे, एक बेकरी हुआ करती थी जहां से श्रीअरविन्द के मकान के लिये एक पच्चीस वर्ष का युवक रोटी लाया करता था और वहां के किसी आदमी के हस्ताक्षर ले जाता था।

श्रीअरविन्द के मकान में दोपहर का खाना बारह बजे के आस-पास हुआ करता था। उसके बाद लोग धूप से बचने के लिये खिड़कियां बंद करके सो जाते थे। हां, श्रीअरविन्द यहां भी अपवाद-स्वरूप थे। रोटी लानेवाला वहां एक कापी छोड़ जाता था जिसपर अगले दिन के लिये मांग लिख दी जाती थी। मैं अभी जवान था। जब मुझे पता चला कि वहां कोई पैसे की सुरक्षा न करता था और कुछ पैसे चुपके से उड़ते जाते थे तो चोर को पकड़ने का उत्साह हम तीन व्यक्तियों को हुआ। चोरी दोपहर को ही होती थी। एक दिन हम तीनों दरवाजे के पीछे छिप गये। दो बजे के करीब रोटी वाला लड़का ऊपर आया। रोटियां मेज पर रखने के बाद उसने पास की पुरानी-धुरानी मेज में से पांच रुपये का नोट साफ करके अपने साफे में छिपा लिया और धीरे से चम्पत होने लगा। हम तीनों उसपर झपट पड़े। दोपहर की चुप्पी में उसपर पड़ने वाले थप्पड़ कड़कने लगे। पहले तीन थप्पड़ों तक तो वह चुप रहा फिर चिल्ला पड़ा, मैंने कई बार चोरी की है पर अबसे न करूंगा। शायद उसकी चिल्लाहट सुनकर या किसी और कारण से श्रीअरविन्द बाहर निकल आये और चुपचाप खड़े हो गये। उस लड़के ने देखा कि उसके तारनहार सामने खड़े हैं और हम लोग इस तरह चुपचाप खड़े हो गये मानों हम ही दोषी थे। श्रीअरविन्द ने हमें आज्ञा दी उसे पांच रुपये का नोट लौटा दें। हमें लगा कि वास्तव में हमें ही सजा दी गयी है।

(५)

नगाई जप्ता नामक एक सिद्ध पुरुष रंगा स्वामी आयंगार के कुलगुरु थे। मेरे चाचा उनके बहुत-से चमत्कारों की बातें सुनाया करते थे। कहा जाता था कि जब कभी धान की खेती सूखने लगती थी तो जप्ता की शक्ति उसे जल से सींच देती थी और खेती हरियाने लगती थी। इस महान् योगी ने रंगा स्वामी आयंगार से कहा था कि उत्तर से एक महान् योगी दक्षिण में आयेंगे और वे ही तुम्हारे सच्चे कुलगुरु बल्कि समस्त मानवजाति के कुलगुरु होंगे और तुम्हें उन्हें इसी भांति स्वीकार करना चाहिये। यह कहने के कुछ दिन बाद ही वे योगी न जाने कहां लुप्त हो गये।

श्रीअरविन्द के पांडिचेरी आने का समाचार सुनकर रंगा स्वामी छिपकर श्रीअरविन्द से मिलने आये। उन दिनों अंग्रेजी पुलिस से बचने के लिये छिपकर आना जरूरी होता था।

उसके बाद रंगा स्वामी श्रीअरविन्द से मिलने के लिये कई बार आये और शायद उन्हीं दिनों श्रीअरविन्द ने उन्हें यौगिक साधन नामक पुस्तक दी।

श्रीनिवासचारी, राम स्वामी, रंगा स्वामी आदि मित्रों के साथ स्वतः लेखन की बैठकें भी हुआ करती थीं। कहते हैं कि भारती भी उनमें आते थे। लेकिन स्वतः लेखन है क्या ? यह प्रायः रात को ही किया

जाता है। दीपक के धुंधले प्रकाश में एक विशेष आदमी कागज-पेंसिल लेकर बैठता है। यह माध्यम होता है जो बिना कुछ बोले गहरे ध्यान में मेज-कुरसी के सामने बैठता है। वह किसी आत्मा को निमंत्रण देता और उसकी प्रतीक्षा करता है। वह अधिकतर किसी मृतात्मा को बुलाता है। वह आत्मा धीरे से बुलानेवाले के अंदर प्रवेश कर जाती है और उस साधन के हाथ को पकड़ कर उसके हाथ से जो मरजी हो लिखवा देती है, श्रोता इससे बहुत प्रभावित होते हैं। मैंने अपने-आप यह दृश्य देखा था जब श्रीअरविन्द वह लेखन कर रहे थे। मैं चकित हो गया परंतु इसका प्रभाव तभी होता है जब लिखनेवाला विशेष रूप से योग्य साधन हो, पर हर एक तो श्रीअरविन्द नहीं होता। 'यौगिक साधन' नामक पुस्तक का श्री गणेश इसी तरह हुआ था। वह श्रीरंगम् वाणी विलास प्रेस में छपी थी और कहा गया कि वह उत्तर योगी यानी उत्तर से आये योगी द्वारा लिखी गयी थी। कहा जाता है कि यह राम मोहन राय की आत्मा के द्वारा लिखवाई गयी थी क्योंकि श्रीअरविन्द ने कहा था कि इस स्वतः लेखन के समय उन्होंने राममोहन को देखा था।

जैसा कि मैं पहले ही कह आया हूं कि मैं अपने विद्यालय के बाद समुद्र-तट पर चला जाता और सात, साढ़े सात तक वहीं घूमता रहता था। वहां जो लोग मुझे मिला करते थे उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण थे, रामस्वामी आयंगार। वहीं मुझे सुब्रमण्यम मिला करते थे जो बाद में भारती दासन नामक प्रसिद्ध लेखक के नाम से विख्यात हुए।

स्वभावतः मैं अभीतक यह न समझ पाया था कि श्रीअरविन्द की उपस्थिति मेरे अंदर कैसा परिवर्तन ला रही थी। राम स्वामी के द्वारा ही श्रीअरविन्द मेरे अंदर भगवान् की कृपा उतार रहे थे। मैं हमेशा उन बातों में डूबा रहता था जो राम स्वामी श्रीअरविन्द के बारे में सुनाते थे। इसमें उनकी बातें, उनके मजाक आदि भी होते थे। एक दिन मैंने अचानक घूमते हुए राम स्वामी के कान में कहा, "एक दिन मैं आपके साथ भोजन करना चाहूंगा।" स्पष्टतः इसके पीछे का रहस्य था कि श्रीअरविन्द भी होंगे। यह विचार उनके मन में बिजली की तरह कौंध गया और आश्चर्य-चकित होकर उन्होंने पूछा, "क्यों ?" फिर उन्होंने कहा, "तुम श्रीअरविन्द के मकान में कैसे खा सकोगे ? वहां शाकाहारी भोजन नहीं होता।" उन्होंने आशा की थी कि यह सुनकर मेरा विचार ठप्प हो जायेगा। मैंने उत्तर दिया, "शाकाहारी भोजन न हो तो क्या हर्ज है, मैं आप लोगों के साथ बैठकर खाने को तैयार हूं।" उन्होंने अपने आश्चर्य को प्रकट न किया और बोले, "अच्छा कल विद्यालय के छूटते ही बारह बजे आ जाना।" मैं तो खुशी से फूलकर कुप्पा हो गया।

दूसरे दिन जैसे ही विद्यालय की घंटी बजी मैं ठीक बारह बजे श्रीअरविन्द के घर जा पहुंचा। मेरा मन इसी विचार से भरा था कि कुछ क्षणों में मैं श्रीअरविन्द को देखूंगा।

श्रीअरविन्द का दरवाजा खुला हुआ था। जैसे ही मैं वहां पहुंचा राम स्वामी ने मेरा स्वागत किया। वहां और कोई न था। उस समय की तपती दुपहरी में शायद सब सोये पड़े थे। मेरा हृदय भी एकदम चुप था।

राम स्वामी ने कहा, चलो हम लोग होटल जायेंगे। मुझे लगा कि मैं किसी ऊंचे शिखर से नीचे फेंक दिया गया। मेरी समझ में कुछ न आया। मैं भूख से तड़प रहा था परंतु मेरा बनाया हुआ महल मानों ढह गया। मैं राम स्वामी के साथ नंगे पैरों एक मील दूर होटल की ओर चल पड़ा। और निःशब्द बैठा-बैठा खाता गया। किसी तरह खाना समाप्त कर मैं भारी मन से विद्यालय की ओर चल पड़ा। रामस्वामी मुझे विद्यालय तक छोड़ने आये। कक्षा में एकाग्रचित्त होने की भरसक कोशिश के बावजूद

मेरे पल्ले कुछ न पड़ा। मेरे मन में तो बस एक ही विचार उमड़-घुमड़ कर रहा था—"इस कक्षा से कुछ ही दूर श्रीअरविन्द का कमरा है और रामस्वामी उसी ओर लौटकर गये!"

शायद यह १९१३ की जुलाई का पहला सप्ताह था। मेरे भाग्य में श्रीअरविन्द के दर्शन उस दिन भी न बदे थे।

(क्रमशः)

'श्रीअरविन्द के साथ बातचीत':

क्रान्ति के वे दिन

२८ फरवरी १९४०

नी—(मन्दिर के बारे में पिछले दिन की बात को नीरद ने उठाया)—ऐसा लगता है कि बारीन जिस मन्दिर को बनवाना चाहता था उसके बारे में आपकी उस दल के साथ काफी बहस हुई थी। वे व्यावहारिक लोग थे और राजनीति के साथ योग को मिलाना न चाहते थे। बहस के बीच दत्त को लगा कि आप स्वयं अपने विचार के बारे में डांवाडोल थे और ठीक से बहस नहीं कर पा रहे थे।

श्रीअरविन्द—मैं डांवाडोल था?

नी—जी।

श्रीअरविन्द—उनके साथ बहस करते समय? लेकिन बहस करने की आदत तो मेरी कभी नहीं रही! वह मुझे ऐसा चरित्र देना चाहता है जैसा मेरा कभी नहीं रहा! (हंसी)।

नी—कहते हैं कि बहस के अंत में आपने कहा—"चारु, मैं हारा!"

श्रीअरविन्द—हे भगवान्! मुझे तो याद नहीं पड़ता कि कोई बहस हुई और मैंने यह सब कहा!

स—लेकिन उसे याद है। (हंसी)

नी—यद्यपि योजना यहां छोड़ दी गयी थी, लेकिन बारीन और उपेन मणिकतल्ला में युवकों को योग की शिक्षा देने में लगे रहे। उनमें दो बहुत विशेष लड़के थे—प्रफुल्ल चाकी और प्रफुल्ल चक्रवर्ती। दत्त ने चाकी के बारे में एक घटना सुनायी जिससे पता चलता है कि ये लड़के किस धातु के बने हुए थे। कहते हैं कि दत्त ने चाकी को एक हथगोला दिया था जो उसकी जेब में था। चाकी विधान राय के आस-पास उस मैदान में बैठा था जहां कोई क्रिकेट मैच होनेवाला था। वहां सर एण्डू फ्रेज़र आनेवाले थे जिनके लिये यह हथगोला तैयार था। न तो विधान राय को इसकी जानकारी थी, न दत्त ने उन्हें कुछ बताया। इधर चाकी बिलकुल शान्त और प्रकृतिस्थ बैठा था। वह युवक जो कुछ समय बाद तीस चालीस लोगों की हत्या का कारण बनता, ऐसा शांत बना बैठा था कि उसे देखकर आश्चर्य होता था। वह तो एण्डू फ्रेज़र वहां आये नहीं क्योंकि उन्हें किसी दुर्घटना की भनक मिल गयी थी, अतः वह हत्याकाण्ड होने से बच गया। अगली बार जब चारु दत्त चाकी से दार्जिलिंग में मिले...

श्रीअरविन्द—(बीच में) ऐसा लगता है कि चारु दत्त हर जगह था। हालांकि मैं तो यह कभी जानता न था कि वह सचमुच इस आंदोलन में था। हां तो चलो आगे।

नी—जी, तो दार्जिलिंग में चाकी की परीक्षा लेने के लिये दत्त ने उससे पूछा—"प्रफुल्ल, तुम उन नेताओं के बारे में क्या सोचते हो जो अपने-आप तो परदे के पीछे सुरक्षित रहते हैं और तुम युवाओं को संकट में डाल देते हैं ?" चाकी ने तुरंत चारु के पैर पकड़ लिये और कहा—"क्या आप मेरी परीक्षा ले रहे हैं ? मेरा धर्म यही है कि जो आदेश मिले उसे पूरा करूं।" चारु कहते थे, "ऐसे लोग थे ये क्रान्तिवीर ! पहले दर्जे के साहसी, और सबसे बढ़कर थी उनके अंदर की वह योगशक्ति जिसने उन्हें विलक्षण बना दिया था।" ऐसा लगता है कि बारीन उन्हें योग की शिक्षा दे रहा था।

श्रीअरविन्द—लेले ने उन लोगों को योग में दीक्षा दी थी। बारीन ने इसी कारण लेले को बम्बई बुलाया था।

नी—ऐसा लगता है कि चाकी को देखकर लेले बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने उसका चुनाव कर लिया। वे उसे महान् योगी बनाना चाहते थे और इसके लिये उन्होंने आपसे सलाह मांगी। आपने उनसे दत्त से पूछने के लिये कहा। लेले ने टिप्पणी की कि ऐसे बढ़िया लड़के आंदोलन में बेकार जा रहे हैं।

श्रीअरविन्द—क्या मैंने दत्त से पूछने के लिये कहा था ? लेकिन क्या कहने का मतलब यह है कि लेले को इस आंदोलन के बारे में पता था ? नहीं, उन्हें कुछ मालूम न था। अंत में उन्होंने बारीन से कहा था, "तुम सारे समय मुझे धोखा देते रहे। मैंने समझा था कि तुम योग करना चाहते हो और इसीलिये तुमने मुझे बुलाया था। अब यह सब छोड़ दो, छोड़ दो, नहीं तो गड्ढे में जा गिरोगे।"

नी—दत्त ने कहा था, "ये लड़के बेकार हो रहे हैं।" शायद लेले कुछ जानते थे।

श्रीअरविन्द—अगर वे जानते तो तुरंत उन्हें छोड़ देते। वे तो यही समझते थे कि ये लड़के सारे समय योग कर रहे हैं...।

नी—लेकिन क्या आपने लेले को दत्त से परामर्श करने के लिये कहा था ?

श्रीअरविन्द—बकवास ! कोई बात नहीं, हां तो इसके आगे कहानी क्या है ?

नी—फिर आपने दत्त को अपने घर पर बुलाया। वह एकमंजिला मकान था, उसमें शायद तहखाना भी था।

श्रीअरविन्द—कब की बात है यह ? अगर वह मेरा मकान था तो बात सूरत कांग्रेस के बाद की होगी जब लेले कलकत्ते आये थे।

नी—हो सकता है। दत्त मकान में आया और उसने आपको लेले के साथ बातें करते देखा। चाकी बाहर ही घूम रहा था।

श्रीअरविन्द—चाकी भी वहां था ?

नी—जी। लेले ने दत्त से पूछा। दत्त ने जवाब देने से इंकार किया और आपसे बात करने के लिये कहा। आपने कहा, "मुझे इस विषय में कुछ नहीं कहना।"

श्रीअरविन्द—मुझे इन सब बातों की कोई जानकारी नहीं है। दत्त मेरे मकान में भला कब आया ? हां, अगर मुझसे यह प्रश्न पूछा जाता तो मैं वही उत्तर देता जो तुम कह रहे हो। भगवान् जाने, उसने ये सब चीजें कहां से निकालीं।

स—भगवन्, शायद अपने ही उपजाऊ दिगाम से !

नी—चाकी भी बुलाया गया और उसकी राय मांगी गयी। उसने आपकी तरफ इशारा कर दिया...

श्रीअरविन्द—मैं ! हे भगवान् ! मेरा उन लड़कों के साथ कोई संबंध न था। यह सारा बारीन का काम था। मेरा उनके साथ ताल्लुक न था। बस एक बार बारीन उनके एक दल को मेरे पास लाया था,

लेकिन वे सब नीचे ही प्रतीक्षा कर रहे थे। हां, यह सच है कि कभी-कभी बारीन मुझसे या मल्लिक से सलाह लिया करता था लेकिन पूरा आंदोलन उसके हाथ में था। मेरे पास उसके लिये समय ही न था। मैं कांग्रेस की राजनीति और 'वन्दे मातरम्' में अधिक व्यस्त रहता था। उस आंदोलन में मेरी भूमिका नाटकीय नहीं थी। अगर दत्त इस आंदोलन में होता तो बारीन मुझे जरूर बतलाता, लेकिन उसने कभी इसका नाम भी न लिया। अगर मैं ही उसका अध्यक्ष होता तो मैं अधिक सावधान रहता।

*नी—*बारीन ने भी लिखा था कि आप आंदोलन के नेता तथा दिमाग थे।

*श्रीअरविन्द—*खुले रूप में राजनीति में आने से पहले मेरा आंदोलन के साथ कुछ संबंध था। ओकाकुरा ने कलकत्ते में क्रान्तिकारी आंदोलन शुरू किया था, लेकिन उसके सदस्यों में हमेशा झगड़ा चलता रहता था। जब मैं कलकत्ते आया तो दल के साथ मेरा कुछ संबंध बना। उनमें कोई संगठन न था। उन्हें एक ही चीज सूझ रही थी कि कुछ मजिस्ट्रेटों की पिटाई करें और इसीको लेकर उनके बीच झगड़ा चल रहा था। मैंने उन्हें संगठित किया और उनके झगड़ों को ठीक-ठाक किया, और बड़ौदा लौट आया। फिर से झगड़ा शुरू हो गया, फिर मुझे वहां जाकर समझौता कराना पड़ा। चीज ऐसे ही चलती रही, फिर सारा मामला बारीन के हाथ में चला गया। तब आतंकवाद एक गौण आंदोलन था। हां, अगर वह सैनिक क्रान्ति हो जाती, जिसके लिये हम सारे देश को तैयार करना चाहते थे, तो आतंकवाद भी महत्त्वपूर्ण हो जाता। मैं स्वयं उस समय खुले तौर पर सारे देश को क्रान्ति के लिये तैयार करने में बहुत व्यस्त था। इस आतंकवादी गतिविधि का लक्ष्य था युवकों को इस तरह की सैनिक शिक्षा दी जाये कि वे मारने और मर जाने में जरा भी न हिचकिचायें। नहीं तो मेरा यह विचार कभी न रहा कि कुछ बम इधर-उधर फेंक कर हम अंग्रेज सरकार को उखाड़ सकेंगे। और शायद उस दल की आपसी फूट का यही कारण था। मित्तल छिटपुट विस्फोट, लड़ाई इत्यादि के पक्ष में था और बारीन इस आतंकवाद के। मेरा कभी इस दल की गतिविधि के साथ सीधा संबंध न था और न मैं उन लड़कों को जानता था। मैं बस कारागार में उनके संपर्क में आया था, विशेष रूप से नलिनी, विजय इत्यादि के। जब मैं कारागार से बाहर आया तो जतीन बैनर्जी आदि मेरे पास आये और मैंने फिर से दल को संगठित किया।

*नी—*इस चित्र में दत्त तो कहीं नहीं है। तब उसने कौन-सी भूमिका निभायी ?

*श्रीअरविन्द—*वह केवल गतिविधि की जानकारी रखता था। अधिकतर तो वह बम्बई में अपनी वकालत में लगा रहता था।

*नी—*और शायद चाकी ने अपने-आपको गोली मार ली थी ?

*श्रीअरविन्द—*हां, खुदीराम के साथ किंग्सफोर्ड के मामले में...

*नी—*बारीन के बारे में आपकी क्या राय है ?

*श्रीअरविन्द—*बारीन जरा लापरवाह था। जब मेरे घर तलाशी हुई उसके पहले की शाम को वह मेरे यहां दो बम लेकर पहुंचा। मुझे कहना पड़ा कि इन्हें ले जाओ। शायद तुम्हें पता नहीं है कि इस मकान की तलाशी होनेवाली है। और मैंने मणिकतल्ला से भी ऐसी चीजों को हटाने की हिदायत उसको दे दी। वह बम तो वापिस ले गया पर मणिकतल्ला में उसने कुछ नहीं किया!

*स—*उसने अपनी किताब में यह बात लिखी है। वह कहता है कि जब वह हटा रहा था उसी समय पुलिस आ गयी। वह ऐसा आदमी मालूम होता था जो जिम्मेदारी को बड़े हल्के तरीके से लेता था।

श्रीअरविन्द—हां। जब उसे पता था कि पुलिस उसपर नजर रखे हुए थी फिर भी उसने जरा भी परवाह न की।

नी—दत्त ने कहा कि उस समय भूलें और दुर्घटनाएं इसलिये हुईं क्योंकि उस समय आप साधना के किसी नये दौर से गुजर रहे थे, इसलिये आप इस मामले में जागरूक न रह पाये। शिशिर मित्र और नलिनी यह मानने के लिये कतई तैयार नहीं थे कि इतनी बड़ी जिम्मेदारी कंधे पर लेकर आप इतने लापरवाह हो सकते थे।

श्रीअरविन्द—जैसा कि मैंने कहा, मेरा इस आंदोलन के साथ कोई सीधा संबंध न था। नहीं तो मैं बहुत सावधान रहता।

म—मैंने दत्त से पूछा कि वह उन लड़कों में जिस आध्यात्मिक शक्ति की बात कहता है, वह आपकी दी हुई थी?

श्रीअरविन्द—मैंने कुछ नहीं दिया।

नी—उसने कहा, "मुझे शंका है। पहली बात तो यह है कि तबतक श्रीअरविन्द अपनी साधना में इतने आगे नहीं बढ़े थे कि वे यह दे सकते, दूसरी बात यह है कि वे स्वयं संघर्ष में से गुजर रहे थे।"

श्रीअरविन्द—नहीं मैंने कोई शक्ति नहीं दी। उस समय मेरी साधना में कुछ बाधा थी क्योंकि काम का भार बहुत ज्यादा था। लेले के साथ संपर्क के बाद साधना फिर से आगे बढ़ी। ये लड़के शुरू से ही क्रान्तिकारी थे। स्वयं उन्हींकी शक्ति उन्हें आगे बढ़ा रही थी।

—नीरदवरण

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार

(२०)

क्या अधिमानस के देवों का अधिमानस में कोई रूप होता है या वे केवल अभिव्यक्ति के समय या मन की किसी मध्यवर्ती स्थिति में ही रूप लेते हैं? अगर रूप हैं तो क्या अधिमानस में इन देवताओं को उनके इन्हीं रूपों से जाना जाता है। क्या देवों का एक-दूसरे के साथ संबंध होता है?

मनुष्य जिसे "भगवान्" कहते हैं वह मानव चेतना में अनूदित या उसके द्वारा प्राप्त भगवान् की अनुभूति है। वही स्वयं-भू भगवान् किसी भी मनुष्य से संपर्क न रखते हुए, एकदम से कुछ और ही हो सकता है।

तुम जो कह रहे हो उसमें कुछ सत्य है—लेकिन भगवान् एक साथ अरूप और सरूप हो सकते हैं, रूप तो उनकी सत्ता और शक्ति की एकाग्रता और क्रिया का केन्द्र है। अधिमानस में उनका एक-दूसरे के साथ संपर्क और संबंध होता है।

अधिमानस के परे भागवत सत्य एक ऐसी चीज बन जाता है जिसे मानव मन पकड़ भी नहीं सकता, अधिमानस की गतिविधियों को पकड़ना पहले से ही मानव मन के लिये बहुत मुश्किल होता है, लेकिन अगर वह काफी विस्तृत और सूक्ष्म हो जाये तो उनके बारे में कुछ धारणा तो बना ही सकता है।

अधिमानस के परे मन आगे चलने में पूरी तरह असफल हो जाता है, परे क्या है यह जानने के लिये खुद तुम्हें अधिमानसिक हो जाना चाहिये।
३ जुलाई १९३२

अधिमानस के देवताओं के बारे में, उनकी निर्वैयक्तिक अवस्था में, जहां उनका कोई रूप नहीं होता, क्या उनका एक-दूसरे के साथ संबंध, धरती पर वैश्व शक्तियों के आपसी संबंध जैसा होता है, जैसा सूर्य, सागर, पवन का होता है ? क्या उनके साथ हमारा संबंध हो सकता है ? क्या अधिमानस के देव परम प्रभु में लीन हो सकते हैं या वे अनंत और अमर हैं ?

अधिमानस के परे (उदाहरण के लिये, अतिमानस अधिमानस के सबसे ज्यादा नजदीक है) देवता अपने तत्त्व में अमर हैं, लेकिन अपने रूप और विभिन्न क्रियाओं में नहीं; वे एकमेव के पार्श्व होते हैं। अगर तुम वहां एक देवता से मिलो तो वह एक पृथक् व्यक्ति की तरह नहीं होता, तुम्हें लगता है मानों भगवान् किसी विशेष प्रयोजन के लिये किसी रूप विशेष में तुमसे मिल रहे हैं।

क्या नूतन देवता पैदा होते रहते हैं और माताजी उन्हें समय-समय पर सामने लाती हैं ?

हां।
४ जुलाई १९३२

आज मैंने देखा कि कुछ समय साधना करने के बाद मनुष्य के क्रिया-कलाप ज्यादातर स्वचालित हो जाते हैं, भले ही नीचे से कोई और शक्ति काम न कर रही हो। अगर व्यक्तित्व का एक प्रबल संकल्प न रखा जाये तो वे क्रिया-कलाप और भी स्वचालित हो जायेंगे। यह चीज आज मैंने अपने आसन पर बैठते हुए लक्ष्य की, और भी दो-एक क्रियाओं में देखी जिन्हें मैं स्वाभाविक रूप से करता हूं।

वह तुम्हारी स्वचालित या स्वाभाविक क्रिया नहीं थी जो तुमने आज सवेरे की; तुमने अपने मन, वाचा और शरीर को कुछ गलत शक्तियों द्वारा या कठपुतली की तरह उपयोग में आने दिया, ये शक्तियां तुम्हारे लिये बाहरी और विजातीय थीं, ये अपने ही उद्देश्य के लिये तुम्हारा उपयोग कर रही थीं—तुम्हारे ज्ञान के विरुद्ध तुमसे बुलवा रही थीं और तुम्हारे उचित विवेक के विरुद्ध काम करवा रही थीं।

मैंने पहले भी एक बार तुमसे कहा था कि हर एक ऊट-पटांग शक्ति को अपने शरीर का उपयोग न करने दो। उसके बाद से तुम ज्यादा सावधान रहे हो और अपने संतुलन, स्पष्टता और साधना के लिये आवश्यक दूसरी बातों में बहुत प्रगति कर रहे हो। फिर अचानक यह सब तुमने कैसे होनें दिया ? यह तुम्हारी साधना और तुम्हारी पूर्णता के लिये बहुत अधिक खतरनाक है।

इन विजातीय शक्तियों की घुसपैठ के बारे में बहुत सावधान रहो और आगे से कभी इन्हें अपनी वाणी और अपने शरीर का उपयोग न करने दो।
८ जुलाई १९३२

मैं अपनी भौतिक काम-ऊर्जा के बारे में जानना चाहता हूं। जब काम-केन्द्र से उसका भौतिक स्राव होता है तो क्या यह साधना के लिये बहुत हानिकर होता है ? अगर उसे बाहर जाने से रोका जाये या संपर्क न रखने द्वारा गिरा दिया जाये तो क्या वह व्यर्थ नहीं चला जाता ? मुझे यह ख्याल आया कि ऐसा होता है।

तुम्हारे प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है। तुम जिस आदत की बात कर रहे हो वह अत्यंत भयावह और खतरनाक है; वह उस ऊर्जा को नष्ट कर देती है जिसे साधना के लिये सुरक्षित रखना चाहिये; वह मन को दुर्बल बना देती, चेतना को विचलित करती, स्नायविक शक्ति को थका देती, जीवन-शक्ति को कम कर देती, शरीर में जड़ता, दुर्बलता और नामर्दी को बढ़ाती है। उसके साथ आनेवाली उत्तेजना वगैरह कोई निर्माण नहीं करती, उसकी बस नष्ट-भ्रष्ट करने की वृत्ति होती है। बहुधा इस आदत का परिणाम होता है, स्वास्थ्य का क्षय और इसके साथ लग जाती हैं अन्दरूनी बीमारियां—भोग-विलास की अधिकता हमेशा यह चीज लाती है।

जिनमें यह चीज आती है उनके करने लायक एक ही काम है—इस आदत को बिलकुल छोड़ दो, कभी समझौता न करो और काम केन्द्र को छूने से भी इंकार करो।
१२ जुलाई १९३२

कभी-कभी मेरा प्रयास मुझे एक गहरे पतन और असाधारण चीजों की गहराई में ले जाता है, जिसमें वहशी निश्चय, बहुत अधिक अवसाद, क्रोध, जंगलीपन या लड़ाई-झगड़ा वगैरह होता है। कभी-कभी मुझे लगता है कि मैं माताजी की चेतना में थोड़ी-सी जगह पाने के लिये संघर्ष कर रहा हूं।

प्रकाश और माताजी की शक्ति के साथ अविच्छिन्न संपर्क में बाधा पड़ जाने के कारण ऐसा होता है। इस संपर्क को फिर से प्राप्त करके ही नयी प्रगति संभव हो सकती है—लेकिन इसे प्रयास द्वारा नहीं बल्कि ऊपर के सत्य की ओर चेतना के नये उद्घाटन द्वारा पाया जा सकता है।
१८ जुलाई १९३२

दिल का आईना

बचपन में सुना था, 'चिरैया लाई दार, चिरौटा लाऔ चाउंर, दोनों ने मिल के खिचरी करी।' कहानी उन दिनों बड़ी अच्छी लगती थी। कल्पना की आंखें चिड़िया और चिरौटा को चावल और दाल की तलाश करते देखतीं। फिर दोनों मिलकर खिचड़ी पकाते और फिर खिचड़ी खाने की विस्तृत क्रियाओं की कल्पना करते-करते मन न जाने कहां-कहां की सैर कर आता। कैसी-कैसी उड़ानें लेता। आज उन सबकी याद नहीं है परंतु, इन बातों को सुन-सुनकर उनके आधार पर हवाई-महल बनाने में जो मजा आता था उसे भुलाना संभव नहीं है।

लेकिन अचानक आज इन बातों की याद क्यों हो आयी ? और मैं यह सब क्यों लिखने बैठ

गयी ? शायद तुम्हें मालूम हो कि अभी कुछ ही दिन पहले मेरा नया घर बना है। मैं उसका ब्योरेवार वर्णन करके अपने मुंह मियां मिट्ठू नहीं बनना चाहती। लेकिन इतना तो कह ही सकती हूं कि घर आरामदेह और काफी सुन्दर है। सुन्दर चीज किसे अच्छी नहीं लगती ? उसे देखने के लिये ठटके ठट लोग आने लगे। कोई कहता, हमें दावत दो, कोई मिठाई की मांग पेश करता तो कोई मनचला वहां नाच-गाने की महफिल करने के लिये हठ करता। यह भी ठीक रहा, घर मेरा बना, और दावतें उन लोगों को मिलनी चाहियें जिनकी आंखों ने उसे देखने का अनुग्रह किया। मजेदार बात यह है कि जिसके साथ जितना कम या केवल औपचारिक परिचय, वह उतनी ही बड़ी मांग करता था। तंग आ गयी मांगें सुनते-सुनते ! आखिर सोचा चलो कुछ तो करना ही होगा। मैंने विद्यार्थी अवस्था में कहानी पढ़ी थी। अचानक वह याद हो आयी। धूप का समय था, अमीर खुसरो कहीं जा रहे थे। बड़े जोर की प्यास लगी। इधर देखा, उधर देखा, कुछ दूर पर एक प्याऊ दिखायी दिया। इनके पांव उस तरफ बढ़ चले। वहां कुएं की जगत पर बैठी चार पनिहारिनें बतिया रही थीं। इन्होंने जाकर पानी मांगा। उन्होंने पूछा, 'तुम हो कौन ?' इन्होंने उत्तर दिया 'कवि'। उन्होंने कहा, 'कवि हो तो पहले हमारे लिये कविता बनाओ, तब पानी मिलेगा।' क्या करते, तैयार हो गये। एक ने विषय दिया : 'कुत्ता', दूसरे ने कहा : 'चरखा', तीसरी बोली : 'ढोल', और चौथी ने कहा : 'खीर'। अमीर खुसरो प्यास से तड़प रहे थे, इधर चार-चार विषयों पर कविता लिखने का आदेश। खैर, उन्हें तरकीब निकालते देर न लगी। उन्होंने झट कहा :

'खीर पकाई जतन से, चरखा दिया जला,
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजा।

लाओ पानी।' मैं कोई ऐसी ही तरकीब सोचती हुई घर लौट रही थी, लेकिन भगवान् ने मुझे तो अमीर खुसरो का दिमाग नहीं दिया, चिंता करते-करते मेरे बाल पके जा रहे थे। खैर, घर आ गयी पर कोई हल न सूझा। मैंने दरवाजे में चाबी घुमाई और अंदर से कुछ आवाज सुनायी दी। मैं थोड़ी डरी, थोड़ी सकपकायी। आखिर इस समय होगा कौन ? और फिर ताला बंद है और चाबी भी मेरे पास है। खैर साहब, साहस बटोरा, भगवान् का नाम लिया और बड़ी बहादुरी से घर के अंदर चोर की तरह दबे पैरों घुसी। अपने और पुरखों के पुण्य याद दिला-दिलाकर भगवान् को बता रही थी कि मेरी रक्षा करना उनका कर्तव्य है और वे कहीं अपने कर्तव्य से च्युत हो गये तो 'जायेगी लाज तुम्हारी, नाथ मेरो क्या बिगरेगो'।

राम-राम करके आंगन पार किया, दालान भी पार कर लिया और स्नानगृह के पास जा पहुंची। वहां एक चिलमची है और उसके ऊपर एक बड़ा-सा आईना। आईने की तरफ से ही आवाज आ रही थी। वहां वही बचपनवाले चिरैया-चिरौटा बैठे-बैठे अपनी शकलें निहार रहे थे। शायद बीच-बीच में चुहल करते जाते होंगे और उसीकी आवाज सुनकर मैं घबरा गयी; नहीं, नहीं, विचार-मग्न हो गयी थी। मैं पास गयी, लेकिन या तो वे प्रेमालाप में, या आत्म-सराहना में व्यस्त होने के कारण या फिर आदमी और उसकी क्रूरता से अपरिचित होने के कारण वहां से टस-से-मस नहीं हुए। मैंने उन्हें 'धत्, धुत्' करके उड़ाया। उन्हें मेरा इस तरह एकांत में खलल डालना पसंद न आया। लेकिन फिर मेरा दानवाकार देखकर उनकी हिम्मत जवाब दे गयी और 'बाबा, घर गिरस्ती वालों को तंग नहीं किया करते' कहते हुए वहां से हिलकर चार कदम दूर नल पर जा बैठे। मैं चिलमची के पास गयी तो देखा उन्होंने चिरक रखा था। वे दोनों अपने नये स्थान से मुझे समझाने में लगे थे कि मैं जो कुछ कर रही थी वह अनुचित और अनधिकार चेष्टा है।

सफाई करके अंदर गयी। मुझे यह पता था कि मेरे मेहमान दंपति ने बड़ी बेतकल्लुफी के साथ मेरे गरीबखाने को अपना दौलतखाना बना लिया था। मैंने बार-बार उन्हें उड़ाने की कोशिश की लेकिन सब बेकार। मैं थककर वहीं बैठ गयी, मेरे डराने-धमकाने का असर कम होता गया। वे मेरे सामने भी आकर उस आईने पर बैठकर आलाप करने लगे। आखिर मैंने बुद्धि लड़ाई और टाटका एक मोटा-सा टुकड़ा आईने पर डाल दिया और निश्चिंत हो गयी। थोड़ी देर के बाद फिर आवाज आयी। मैं बाहर आकर देखती क्या हूं कि मेरा टाट नीचे फर्श पर धूल चाट रहा है और चिड़िया-चिरौटा बैठे-बैठे दर्पण से बातें कर रहे हैं। उफ, नाकों दम कर दिया इन्होंने तो। इस बार मैंने आईना उतारकर कमरे के अंदर रख लिया, चलो आंख फूटी पीर गयी। इतना सब करने के बाद मैं थक गयी और जरा कमर सीधी करने के लिये बिस्तर पर लेट गयी। मैं कह नहीं सकती कि मैं जाग रही थी या सो रही थी पर मैंने देखा चिड़िया-चिरौटा आपस में बात कर रहे हैं, "यह विशालकाय प्राणी भी कैसा जंगली है। बुद्धि का तो इसमें नाम भी नहीं है। शायद चिड़ाराज की कृपा से वंचित अभागा है यह। एक तो हमसे पूछे बिना हमारे घर में घुस आया फिर हमें ही तंग करता है। देखो न, यह विशालकाय इतना भी नहीं समझ पाता कि हम इस शुभ्र पट पर क्यों जाते हैं। इतनी बड़ी-बड़ी आंखें होते हुए भी यह नहीं देख पाता कि उस पट में हमारी चिड़िया जाति के राजा निवास करते हैं। वे हमारे सुख-दुःख के साथी, हमारे कष्टों का निवारण करनेवाले, हमारे भगवान् हैं। हम उनके दर्शन करने, उनसे सहायता मांगने जाते हैं और यह प्राणी न जाने क्या समझ लेता है जो हमें उड़ाने पर तुला रहता है। इन लोगों के पास ऐसा कोई पट नहीं होता क्यों ?"

उनकी बातों से मेरी आंखें खुल गयीं, एक नहीं, अनेक अर्थों में। मुझे याद हो आया :

दिल के आईने में है तसवीरे यार,
जब जरा गरदन झुकाई देख ली।

आईने का सच्चा उपयोग तो ये पक्षी जानते हैं। हम इनसे बहुत-सी चीजें सीख सकते हैं, अगर सीखना चाहें !!

प्रकृति ने सहयोग देना स्वीकार कर लिया

मैंने अपने-आपको प्रकृति के साथ एक कर लिया और मैंने उसकी लीला में प्रवेश किया और तादात्म्य की इस गति का एक प्रत्युत्तर मिला—मेरे और प्रकृति के बीच एक नये प्रकार की घनिष्ठता बन गयी—अधिकाधिक निकट आने की एक क्रिया जिसकी परिणति ८ नवम्बर की अनुभूति में हुई।

अचानक प्रकृति समझ गयी। वह समझ गयी कि यह नयी चेतना—जिसने जन्म लिया है—उसे ठुकराना नहीं, पूरी तरह अंक में भर लेना चाहती है। वह समझ गयी कि नयी आध्यात्मिकता जीवन से कतराती नहीं है, वह उसकी गतियों की भयंकर विशालता से पीछे नहीं हटती, बल्कि उसके सभी रूपों को संघटित करना चाहती है। वह समझ गयी कि अतिमानसिक चेतना उसे कम करने के लिये नहीं पूर्ण करने के लिये है।

तब परम सद्वस्तु में से यह आज्ञा आयी : 'हे प्रकृति, सहयोग के आनंद के प्रति जागो।' और समस्त प्रकृति आनंद से उछल पड़ी और बोली : 'मैं स्वीकार करती हूं, मैं सहयोग दूंगी।' और उसी समय

शांत-स्थिरता छा गयी। संपूर्ण शान्ति छा गयी ताकि शरीर का यह आधान टूटे बिना, कुछ भी खोये बिना उस प्रकृति के आनंद की बाढ़ को ग्रहण करके अपने अंदर रख सके जिसने अपने-आपको कृतज्ञता की गति में छोड़ दिया था। उसने स्वीकार किया। उसने समस्त नित्यता को अपने सामने देखते हुए जाना कि यह अतिमानसिक चेतना अधिक पूर्ण रूप से उसकी पूर्ति करेगी, उसकी गतिविधि को और भी अधिक शक्ति देगी और उसकी लीला को और भी अधिक संभावनाएं, और भी अधिक विस्तार प्रदान करेगी।

और अचानक धरती के सभी कोनों से मुझे वे महान् स्वर सुनायी दिये जो कभी-कभी सूक्ष्म-भौतिक में सुनायी देते हैं जो कुछ-कुछ बीठोवन के कोनसर्टों से मिलते-जुलते हैं। ये कभी-कभी महान् प्रगति के समय सुनायी देते हैं। ऐसा लगता है मानों सैकड़ों वृन्द-वाद्य एक साथ बज उठे, जिनमें कहीं, कोई स्वर बेसुरा नहीं है। यह संगीत प्रकृति और आत्मा के मिलन की घोषणा, लंबे अरसे के बिछोह के बाद पुराने मित्रों के मिलन की घोषणा कर रहा था।

और तब ये शब्द आये : 'हे प्रकृति, हे भौतिक माता ! तूने कहा है कि तू सहयोग देगी और तेरे इस सहयोग की भव्यता की कहीं कोई सीमा नहीं।' . . .

लेकिन तुम्हें इस अनुभूति का अर्थ समझने में भूल न करनी चाहिये। यह कल्पना न करो कि अब सब कुछ बिना किसी कठिनाई के और हमारी व्यक्तिगत इच्छाओं के अनुकूल होगा। . . . यह कुछ ज्यादा गहरी चीज है। प्रकृति ने नयी अभिव्यक्त शक्ति को अपनी शक्तियों की लीला में प्रविष्ट कर लिया है। उसने उसे अपनी गतियों में सम्मिलित कर लिया है। हमेशा की तरह, प्रकृति की गतियां इतने बड़े पैमाने पर होती हैं जो मानव पैमाने से अनंतगुना बड़ा है। और साधारण मानव चेतना के लिये अगोचर है। धरती पर आश्चर्यजनक परिवर्तनों ने नहीं, एक आंतरिक, मनोवैज्ञानिक संभावना ने जन्म लिया है।

मैं यह इसलिये कह रही हूं ताकि तुम यह मानने के लिये लालायित न हो कि अब धरती पर परी-कथाएं चरितार्थ होनेवाली हैं। उनका समय अभी नहीं आया . . .।

—श्रीमां

(जनवरी १९५८)

रूपांतर

हम चाहते हैं सर्वांगीण रूपांतर, शरीर और उसके सभी क्रिया-कलापों का रूपांतर। परंतु इसका एक प्रथम, पूर्ण रूप से अनिवार्य पग है : चेतना का रूपांतर जिसे और कोई चीज आरंभ करने से पहले पूरा करना होगा। यह कहने की जरूरत नहीं कि इस विषय में हमारी यात्रा का प्रारंभ-स्थल होगा इस रूपांतर की अभीप्सा और इसे सिद्ध करने का संकल्प; उसके बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। परंतु अभीप्सा के साथ यदि एक प्रकार का आंतरिक उद्घाटन, एक प्रकार की ग्रहणशीलता भी आ जुटे तो व्यक्ति एक ही छलांग में इस रूपांतरित चेतना में प्रवेश कर सकता है और वहीं बना रह सकता है। कहा जा सकता है कि चेतना का यह परिवर्तन अकस्मात् होता है; जब होता है तो एकाएक हो जाता है, उसकी तैयारी भले ही बहुत धीरे-धीरे और दीर्घकाल से होती आयी हो। मैं यहां मानसिक

दृष्टिकोण में होनेवाले किसी सामान्य परिवर्तन की बात नहीं कह रही, बल्कि स्वयं चेतना के परिवर्तन की बात कह रही हूं। यह एक प्रकार से पूर्ण और विशुद्ध परिवर्तन है, आधारभूत स्थिति में होनेवाली एक क्रांति है; यह प्रायः गेंद को भीतर से बाहर की ओर उलट देने के जैसी बात है। इस परिवर्तित चेतना में प्रत्येक चीज केवल नयी और भिन्न ही नहीं मालूम होती, बल्कि पहले साधारण चेतना को जैसी मालूम होती थी उससे प्रायः उल्टी प्रतीत होती है। साधारण चेतना में तुम धीरे-धीरे चलते हो, एक-के-बाद-एक प्रयोग करते हुए चलते हो, अज्ञान से किसी सुदूर-स्थित और यहांतक कि, संदिग्ध ज्ञान की ओर जाते हो पर रूपांतरित चेतना में तुम ज्ञान से आरंभ करते हो, और ज्ञान से ज्ञान की ओर अग्रसर होते हो। फिर भी, यह है आरंभ ही, क्योंकि बाहरी चेतना, बाहरी और क्रियाशील सत्ता के विभिन्न स्तर और अंश एक भीतरी रूपांतर के फलस्वरूप, धीरे-धीरे और क्रमशः ही रूपांतरित होते हैं।

वह वास्तव में चेतना का एक आंशिक परिवर्तन है जिसके कारण तुम उन सब चीजों में बिलकुल रस लेना छोड़ देते हो जो पहले वांछनीय लगती थीं; लेकिन यह तो केवल चेतना का एक परिवर्तन है, वह चीज नहीं है जिसे हम रूपांतर कहते हैं। क्योंकि रूपांतर तो एक मौलिक और निरपेक्ष वस्तु है; वह एक परिवर्तन मात्र नहीं है, बल्कि चेतना का एकदम उलट जाना है : मानो सारी सत्ता एक चक्कर खा गयी हो और एक और ही स्थिति में जा खड़ी हुई हो। उस उल्टी हुई चेतना में हमारी सत्ता जीवन और वस्तुओं से ऊपर खड़ी होती है और वहां से उनके साथ व्यवहार करती है; वह केन्द्र में होती है और वहीं से अपनी क्रिया बाहर की ओर निर्देशित करती है। जब कि साधारण चेतना में हमारी सत्ता बाहर और नीचे खड़ी रहती है : बाहर से वह केन्द्र में आने के लिये प्रयास करती है, नीचे से वह अपने अज्ञान और अंधेपन के बोझ तले दबी हुई उनसे ऊपर उठने के लिये जी-तोड़ संघर्ष करती है। साधारण चेतना यह नहीं जानती कि वास्तव में चीजें कैसी हैं; वह केवल ऊपरी छिलके को, कठोर आवरण को ही देखती है। परंतु सच्ची चेतना केन्द्र में, सद्वस्तु के हृदय में रहती हैं और समस्त गतिविधि और क्रिया-कलाप के मूल को अपनी सीधी दृष्टि से देखती है। अंदर और ऊपर रहते हुए यह सभी वस्तुओं और शक्तियों के मूल उद्गम, कारण और परिणाम को जानती है।

मैं फिर दुहरा रही हूं, चेतना का यह पलटना आकस्मिक होता है। कोई चीज तुम्हारे अंदर खुल जाती है और तुम अपने को तुरत-फुरत एक नवीन जगत् में पाते हो। यह परिवर्तन आरंभ से ही संभव है कि अंतिम और सुनिश्चित न हो; इसे स्थायी रूप से जमने और तुम्हारा सामान्य स्वभाव बनने के लिये समय की आवश्यकता होती है। परंतु एक बार परिवर्तन हो जाये तो वह तत्त्वतः, सदा के लिये बना रहता है; और उसके बाद जिस चीज की जरूरत होती है वह है व्यावहारिक जीवन के व्योरों में उसे क्रमशः अभिव्यक्त करना। रूपांतरित चेतना की पहली अभिव्यक्ति हमेशा आक़स्मिक प्रतीत होती है। तुम्हें यह नहीं लगता कि तुम धीरे-धीरे और क्रमशः एक चीज से दूसरी चीज में बदलते जा रहे हो; बल्कि यह अनुभव करते हो कि तुम एकाएक एक नयी चेतना में जाग्रत हो गये हो या जन्म ले रहे हो। मन का कोई भी प्रयास यह परिवर्तन नहीं ला सकता; क्योंकि मन से तुम यह कल्पना ही नहीं कर सकते कि यह क्या चीज है और मन का कोई भी वर्णन यथार्थ नहीं हो सकता।

यही समस्त सर्वांगीण रूपांतर का प्रारंभ है।

(श्रीमातृवाणी खण्ड १२; पृ० ८४-८६)

माताजी ने कहा :

उद्धार की ओर

जैसा कि मैं बहुत बार कह चुकी हूं सृष्टि परम प्रभु का अपने-आपको स्थूल रूप देना है ताकि वे अपने-आपको देख सकें। यह करते समय—आत्म-विषयीकरण और आत्म-विभाजन के समय—वह दूर-दूर बिखर गये। एकमात्र अनंतता ने अपने-आपको अनंत अणुओं में बदल लिया। इतना ही नहीं, अपने-आपको दूर करते समय चेतना अपने-आपसे ठीक उल्टी बन गयी। चेतना अचेतना में परिवर्तित हो गयी, आत्मा जड़ बन गयी, आनंद पीड़ा में बदल गया, ज्ञान अज्ञान में और प्रकाश अंधकार में बदल गया। असीम सर्वव्यापकता भगवान् का स्वरूप थी, अब वह अहंकार की गांठों में उलझ गयी जिनपर यह निश्चेतन सृष्टि खड़ी है। इस पूर्ण नकार के, अपने मूल के प्रति विश्व के इनकार के बीचों-बीच भागवत प्रेम अवतरित हुआ और वहां बस गया ताकि भटकी हुई सृष्टि को उसके खोये हुए घर तक वापस ला सके। भागवत प्रेम निश्चेतना में उलझ गया, फंस गया, उसके साथ एक हो गया। अपने कृपा-रूप में भगवती जननी इसी तरह निश्चेतन विश्व को अपने पदार्थ से भरपूर करके उसे फिर से अपने मौलिक स्वरूप में ला सकती थी। इस अवतरण या जड़ पदार्थ के साथ भागवत मिलन का पहला प्रभाव या स्पष्ट चिह्न है भौतिक शरीर में आत्मा या चैत्य तत्त्व का जन्म। जड़ भौतिक में जड़ा हुआ, मृत दीखनेवाले कण में वास करता हुआ चेतना का बिंदु ही है जो चारों ओर की अचेतना के साथ अपनी क्रिया और प्रतिक्रिया के द्वारा निरंतर रूप से विकसित होता रहता है, और साथ ही साथ अपने प्रकाश को उस अंधकार में फैलाकर उसे धीरे-धीरे अपनी मौलिक स्थिति में परिवर्तित कर देता है।

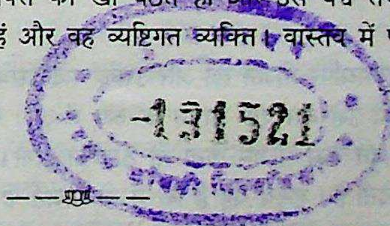
सृष्टि का मूल है व्यष्टीकरण—अविभाजित और अविभाज्य एकमेव पुरुष से वहु की अभिव्यक्ति। इसका मतलब था हर एक व्यष्टि के लिये स्वतंत्रता। व्यष्टि स्वतंत्रता की इकाई बन गया। फिर भी, तात्कालिक परिणाम बाहरी रूप से बहुत सफल नहीं रहा। क्योंकि व्यष्टि रूप इकाई ने एक ऐसा मार्ग चुना जो उसके मूल से ठीक विपरीत था। व्यष्टीकरण ऐसा हुआ मानों अनंत इकाई से एक तत्त्व बाहर दौड़ पड़ा और अपनी रफ्तार में यथासंभव दूर, दूसरे ध्रुव में जा गिरा। इसी तरह एकमात्र आत्मा जड़ पदार्थ के अनगिनत कणों में बदल गयी। अब सवाल पैदा हुआ भटके हुए तत्त्वों को अपने स्रोत और मूलतक वापिस ले आने की समस्या का । यह घोर परिश्रम का काम था। और परम पुरुष के सिवाय दूसरे के बस का न था। और उनको धीरे-धीरे तैयारी करने, क्रमशः नसैनी चढ़ने, परिश्रम के साथ आगे बढ़ने और गुप्त उद्देश्य को प्राप्त करने, विचलन और पतन की रक्षा करने के लिये कई युग लग गये और अब भी लग रहे हैं। टेढ़े-मेढ़े रास्तों, लंबे सर्पिल और कठोर प्रयाणों द्वारा क्रम-विकास की आत्मा सैकड़ों युगों तक परिश्रम करती रही। भागवत कृपा ने इस यंत्र का उपयोग किया।

मौलिक व्यष्टि अहं का एक संकेन्द्रित बिंदु था, जो अपने में, पूरे तौर पर अपने में ही व्यस्त था। इसलिये लेन-देन की स्थिति पैदा की गयी ताकि जीवंत रहने का मतलब हो दूसरों द्वारा जीवंत रहना। मानव समाज इसी तरह शुरू हुआ। अकेले मानव प्राणी को अपने हित के लिये ही अपने अकेलेपन से बाहर निकलना पड़ा, एक साथी लेकर, क्रमशः परिवार का पालन-पोषण करना पड़ा। अहंकार की वह दीवार उस हदतक तोड़ दी गयी, उसका क्षेत्र वढ़ गया। अहं का यह विस्तार चलता रहा—अब भी चल रहा है—और इकाई बढ़ती जा रही है। परिवार से मानव अहं जाति तक बढ़ा और जातीय अहं से अब

राष्ट्र में बढ़ रहा है। मौलिक व्यष्टि-रूप इकाइयों की जगह ज्यादा बड़े-बड़े समूह बन रहे हैं। अब राष्ट्र भी आस-पास आ रहे हैं, एक दूसरे में प्रवेश कर रहे हैं और बहुत-सी बातों में सारी मानवजाति एक ही समूह के रूप में आगे बढ़ने लगी है। इस तरह व्यक्ति ने मानवजाति की इकाई में अपना स्थान जान लिया है। कुछ ही समय में उसे सारी सृष्टि को एक ही अस्तित्व के रूप में देखना होगा जिसमें और जिसके द्वारा उसे जीना है। इस तरह विश्व अपनी मौलिक अविभाज्य एकता को फिर से प्राप्त कर रहा है, लेकिन प्राप्त करते समय उसे कुछ लाभ हुआ है। क्योंकि अब वह मौलिक रूप रंगहीन एकता न होकर अभिव्यक्ति में ज्यादा समृद्ध और बहुल एकता है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति इससे भी परे बढ़ सकता है। अपनी व्यष्टिगत चेतना में ही नहीं बल्कि समष्टिगत चेतना में भी उसे मुड़कर सीधा अपनी मौलिक एकता की ओर जाना चाहिये और अब वह जाने में समर्थ भी है। वह स्वयं भगवान् के साथ सीधा संपर्क स्थापित कर सकता है, उनके साथ मिलकर ऐक्य पा सकता है जिनसे निकलकर वह भटक गया था। आरोहण के क्षेत्र उसके भीतर हैं और बाहर के उन क्षेत्रों के साथ समस्वर हैं जिनमें से वह विश्व अपने क्रमविकास में गुजर रहा है। सृष्टि में भागवत उद्देश्य को पूरा करने के लिये भागवत कृपा ने यही प्रक्रिया अपनायी है।

'अहम्' या 'मैं' की सबसे पहली भावना दूसरों या दूसरी चीजों के विरोध में अपने-आप तक ही सीमित और बंधी रहती है। तभी व्यक्ति में कमी का भाव आता है, और वह उन चीजों की मांग करता है जो उसके पास नहीं हैं। अपनी ही इच्छा के अनुसार, अपने व्यक्तिगत स्वतंत्र संकल्प का मजा लेने के लिये वह मनुष्यों और चीजों से अलग हो गया है। और अब उपभोग के लिये बढ़ने और विकसित होने के लिये, यहांतक कि जीने के लिये भी वह उनसे सामग्री मांगने को बाधित होता है। इसके विपरीत अगर तुम अपने-आपको विशाल बनाओ, सबके साथ एक हो जाओ, तब तुम्हें सारी चीजें अपने अंदर ही मिलेंगी, तुम्हें बाहर जाकर उनकी खोज करने की जरूरत नहीं होगी, तुम्हारे अंदर कमी या आवश्यकता की भावना नहीं होगी। किसी निश्चित उद्देश्य के लिये, या अमुक परिस्थिति में अमुक स्थान या समय पर जिस चीज के लाने या उपयोग करने की आवश्यकता होगी वह उसी समय वहीं प्रस्तुत हो जायेगी। फिर भी, तुम अपने असली 'मैं' को खो नहीं बैठते। तुम्हारा 'अहं' दूसरे 'अहमों' में अपना अहं पाता है और बाकी के सभी 'अहं' उसी 'अहं' में होते हैं जिसे तुम अपना-आपा समझते हो। तुम अपने पुराने अहं को, उस संकरे व्यक्ति को खो बैठते हो और उसे वैश्व तथा परात्पर अहं में रूपांतरित कर देते हो। भगवान् हैं वह अहं और वह व्यष्टिगत व्यक्ति। वास्तव में परम और सत्यतम अर्थ में केवल भगवान् ही वह हैं।

—श्रीमां



———

धूप में एक घंटा व्यायाम

अगर धूप में एक घंटा व्यायाम किया जाये (शारीरिक हरकतें की जायें) तो कमजोरी या खून की कमी पूरी करने में वह बलवर्धक दवाओं (टॉनिकों) के एक समूचे भंडार से कहीं अधिक लाभ करता है।

—श्रीमां

भोजन के बारे में

भोजन के लिये लालच पर विजय पानी चाहिये, उसे बहुत अधिक महत्त्व न देना चाहिये। भोजन के बारे में सच्ची वृत्ति है एक तरह की समता। भोजन शरीर को बनाये रखने के लिये होता है और उसके लिये तुम्हें पर्याप्त खाना चाहिये—जितने की शरीर को जरूरत हो; अगर तुम कम दो तो शरीर को आवश्यकता का अनुभव होता है और वह भोजन के लिये ललकता है; और अगर तुम ज्यादा दो तो यह प्राण को अतिभोग देना है। जो विशेष भोजन तुम्हारी रसना को पसंद हो उसके बारे में मन और प्राण की यह वृत्ति होनी चाहिये, "अगर मुझे मिल जाये तो मैं लूंगा, अगर न मिले तो मैं परवाह न करूंगा।" तुम्हें भोजन के बारे में अधिक सोचना न चाहिये। न तो उसमें अधिक रस लो और न अनुचित रूप से उसपर दबाव डालो—यही सबसे अच्छा है।

*

योग की वृत्ति के सर्वथा विरुद्ध है भोजन के लिये आसक्ति, उसके लिये लोभ और उत्सुकता और उसे जीवन में सबसे अधिक महत्त्व देना। यह जानना कि कोई चीज जीभ को पसंद है इसमें कोई बुराई नहीं है। केवल तुम्हें उस चीज के लिये लालसा या कामना न होनी चाहिये और उसे पाने में बहुत अधिक खुशी भी नहीं और न पाने में नाराजगी या दुःख भी नहीं होना चाहिये। तुम्हें शांत और समभाव होना चाहिये। और जब भोजन स्वादिष्ट या अधिक मात्रा में न हो तो असंतुष्ट भी न होना चाहिये—जितनी मात्रा जरूरी हो उतना खाना चाहिये, न कम न ज्यादा। न तो उसके लिये उत्सुकता हो और न अरुचि।

हमेशा भोजन के बारे में सोचते रहना और मन को कष्ट देना भोजन की इच्छा को दूर करने के तरीके से एकदम उल्टा है। अपने जीवन में भोजन के तत्त्व को उचित स्थान पर रखो, यानी एक छोटे-से कोने में, और उसपर एकाग्र न होओ बल्कि अन्य चीजों पर एकाग्र होओ।

*

जरूरी यह है कि पर्याप्त भोजन लो और उसके बाद उसके बारे में न सोचो। इस शारीरिक यंत्र को बनाये रखने के लिये उसे बस एक साधन के रूप में लो। लेकिन जैसे तुम्हें अति भोजन नहीं करना चाहिये उसी तरह बहुत कम भोजन लेना भी ठीक न होगा। इससे ऐसी प्रतिक्रिया होती है जो तुम्हारे लक्ष्य को भ्रष्ट कर देती है। लक्ष्य यह है कि न तो भोजन के लिये लोभ हो और न भारी भौतिक तमस जो अत्यधिक भोजन का परिणाम होता है, और न वह आध्यात्मिक अनुभूति और प्रगति में बाधा दे पाये। अगर शरीर को पर्याप्त भोजन के बिना छोड़ दिया जाये तो वह ज्यादा भोजन के बारे में ही सोचेगा।

—श्रीअरविन्द

'गैर्वाणी' :

अक्षयप्रदीपः

शुभं नूतनवर्षम् उपलक्ष्य उपस्थिताहम्, भोः बालकाः! सारगर्भितेन अत्यन्त-लघु-आख्यानेन सह। अस्मिन् प्रोद्भासमानं सत्यं जीवने यदि लेशतोऽपि आचरितं स्यात् तर्हि एषा कथा न केवलं मनोरञ्जिका भवेत् अपि तु 'सम्यक्'-जीवनयापनस्य गुरुमन्त्रोऽपि भवेत्। अस्तु—

मूर्तिकारः पिता पुत्रमपि शैशवात् मूर्तिकलायां पारङ्गमयितुम् आरब्धवान्। प्रारम्भे मृत्पिण्डेन बाल-सुलभकौशलं दर्शयित्वा पुत्रः पितरौ अत्याह्लादयत्। भृशं मनोयोगेन कार्यं कुर्वन् अचिरमेव पुत्रः तावान् कुशलः अभूत् यत् पित्रा सह तस्यापि मूर्तयः आपणे विक्रीताः। द्वावपि सार्धं हट्टम् अगच्छताम्। अन्तरमेतावदेवासीत् यत् अनुभविहस्तयोः एका मूर्तिः पञ्चरूप्यकाणि आर्जत, अनभ्यस्तपुत्रस्य केवलम् अष्ट-आणकमात्रम्।

पुत्रादधिकं परिश्रममकरोत् पिता। पण्यशालायाः प्रत्यागत्य तौ नूतनमूर्तिरचनायां तथा एकाग्रचित्तौ अभवतां यत् सन्ध्यायाः पदार्पणस्य सन्देशमलभतां कक्षे गृहिण्या दीपस्थापनेन। पुत्रोऽपि दिनानुदिनं त्रुटिरहिताः मूर्तीः रचयितुं बद्धकटिः दत्तचित्तः कार्ये संलग्नोऽतिष्ठत्। उक्तं हि—परिश्रमेण तु सर्वं साध्यम्। पुत्रस्य श्रमोद्भूताः मौक्तिकस्वेदबिन्दवः तस्य कलायां क्रमशः तावत्-कौशलम् अपूरयन् यत् पित्रा सह तस्यापि मूर्तिः पञ्चरूप्यकैः विक्रीता। पुत्रः अतिप्रसन्नः, पिता केवलं प्रसन्नः यतो हि शिक्षकस्य कार्यम् अधुनापि समाप्तं नासीत्। यथापूर्वम् अधुनापि नित्यं पुत्रेण सह उपविश्य जनकः मूर्तिकलायाः नूतनरहस्यानि प्राकाशयत्, कार्यस्य दोषान् अपि अदर्शयत्। सुतोऽपि पूर्णमनोयोगेन तातस्य परामर्शान् स्वीकृत्य, निजकलायां तान् प्रयोज्य निपुणात् निपुणतरः समभवत्। परिणामतः अधुना तस्य मूर्तिः दशरूप्यकाणि उपार्जत् पितुः च समानं पञ्चरूप्यकाणि एव।

तदापि आत्मजस्य प्रशिक्षणकार्यं पित्रा न त्यक्तम्। यथापूर्वं नित्यं तमुपादिशत्।

"पिता माम् अधुनापि नव्यशिष्यं मत्वा उपदिशति। मदीयमूर्तीनां सम्मुखे अधुना तस्य कलां न कोऽपि मुखं परावृत्य अपि पश्यति तदापि अनवरतम् उपदिशति सः" इत्येषः विचारः तमधुना पुनः पुनः समत्रासयत्। अन्ते एकस्मिन् प्रभाते कुपितः सः निज-गुरु-पितरम् अभणत् एव—"क्षम्यतां तात! मन्ये उपदेशस्य, मम त्रुटिहीनकार्ये छिद्रान्वेषणस्य, भवतः किमपि व्यसनमेव सञ्जातम्। पश्यति एव भवान् यत् मे मूर्तीनामर्थे ग्राहकाणां सम्मर्दः सर्वदैव तिष्ठति, भवदपेक्षया द्विगुणम् अर्जामि अपि, तदापि प्रतिदिनं भवान् मम कलायां दोषमेव दर्शयति।"

दीर्घकालात् पोषितः मनस्तापः पितुः सम्मुखे भृशं कटुवचनानि उदगारयत्, तथापि तातं प्रति सर्वदैव असीमश्रद्धान्वितस्य पुत्रस्य नेत्रे अनायासं सजलीभूते।

वात्सल्यस्य अतिरेकेण पिता सुतमालिङ्ग्य अवादीत्—"वत्सक! यौवने कृतस्य मम प्रमादस्य पुनरावृत्तिः न स्याद् इति सर्वदैव ऐच्छमहम्। अतिप्रसन्नोऽस्मि यत् त्वया एषः प्रश्नः कृतः। पुत्र! त्वद्-वयस्के मयि अपि निजपूर्णतायाः भयङ्करः अहङ्कारः समुत्पन्नः आसीत्। अहमपि एवमेव आत्मरोषं पितुः सम्मुखे न केवलं प्राकाशयम्, अपि तु तस्य परामर्शग्रहणमपि अस्वीकृतवान्। परिणामः वर्तते तव सम्मुखे—पञ्चरूप्यकाणां पङ्क्तिः आजीवनं संलग्नः, तस्मात् पणकमपि अधिकम् अर्जितुं कौशलं न वर्तते मे। अतः वत्स! निर्दिशामि त्वां यत् मा कदापि कुरु मत्तः निजतुलनाम्, वस्तुतः मा कुरु तुलनामेव।

असीमप्रगतेः मानदण्डं नेत्रयोः सम्मुखे स्थापय। न दर्शयामि अवगुणान् तव कलायां, केवलम् अनुभविदृष्टेः, अभ्यस्तहस्तयोश्च काँश्चन मूलमन्त्रान् कथयामि यतो हि दिवारात्रि प्रार्थये अहम् यत् न पतेः त्वं कदापि समानपङ्क्तेः यस्य दण्डः मया आजीवनम् भुज्यते एव। पुत्र ! स्मर सर्वदा यत् प्रगतेः सम्भावना अनन्ता, तत्र विरामचिह्नदानम् अस्माकं मूर्खता। अद्य तुभ्यं निजजीवनस्य एकामेव शिक्षां प्रददे यत् यावत् जीवसि पुरोगमनस्य मूलमन्त्रं सर्वदैव हृदि धारय।

पिता स्वपुत्राय तम् अक्षयप्रदीपम् अयच्छत् यस्य प्रकाशेन जीवनं यापयन् मानवः जीवनसन्ध्यायामपि यौवने उपलभ्यस्य प्रखरप्रकाशस्य आनन्दम् उपभोक्तुमर्हति।

नुस्खा—आगे बढ़ने का

आओ बच्चो, नव वर्ष के शुभ अवसर पर हम इस महीने एक छोटी लेकिन सारगर्भित कहानी का रसास्वादन करें। देखना, इसे बस पढ़कर परे मत सरका देना, इसमें झलक रहे सत्य को यदि आंशिक रूप में भी अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करोगे तो यह लघुकथा मात्र मनोरंजन न रहकर अच्छा जीवन बिताने का नुस्खा बन जायेगी।

जीवन के एक प्रमुख सत्य की चाशनी में पगी हुई यह रही कहानी—

शिल्पी पिता ने अपने पुत्र को भी मूर्ति गढ़ने की ही कला सिखलायी। शुरू-शुरू में गीली मिट्टी के लोंदों से जब पुत्र ने अपना बालसुलभ हस्त-कौशल दिखलाया तो माता-पिता भी मुग्ध हो गये। जल्दी ही बेटे ने इतनी कुशलता हासिल कर ली कि पिता के साथ-साथ उसकी मूर्तियां भी बाजार में बिकने लगीं। दोनों साथ-साथ हाट जाते, बस अंतर इतना था कि जहां वर्षों के अनुभवी हाथों की मूर्ति पांच रुपये में बिकती वहां अनभ्यस्त पुत्र को आठ आने में ही संतोष करना पड़ता।

पुत्र से अधिक परिश्रम पिता कर रहे थे। रोज हाट से लौटकर नयी मूर्तियां गढ़ते-गढ़ते कब कमरे में सन्ध्या का पदार्पण हो जाता यह दीपक की बाती ही बतलाती। पुत्र भी पूरे मनोयोग से अपनी मूर्तियों को अधिकाधिक अच्छा, त्रुटिहीन बनाने की कोशिश में लगा रहता। कहते हैं, परिश्रम की स्वेद बूंदें ही इन्सान का मूल्य आंकती हैं। वही मनुष्य को एकाग्रता की वह कुञ्जी प्रदान करती हैं जिससे इस संसार का कोई भी ताला खोला जा सकता है। यहां भी मोती जैसी झरती हुई पसीने की वे बूंदें पुत्र के हाथों में वह कुशलता उंडेलती गयीं कि जल्दी ही पिता, पुत्र दोनों की बनायी हुई मूर्तियां पांच-पांच रुपये में बिकने लगीं। उधर पुत्र अतिप्रसन्न था और पिता थे प्रसन्न, क्योंकि शिक्षक का उनका काम अभी पूरा न हुआ था। बाजार से लौट कर ठीक पहले की तरह अपने बेटे के सामने मूर्तिकला के विभिन्न रहस्यों को उजागर करते और साथ-साथ उसकी बनायी मूर्तियों की त्रुटियां भी दर्शाते। बेटा भी बड़े ध्यान से उनकी बातें सुनकर, उन्हें क्रियान्वित कर, निपुण से निपुणतर होता चला गया। अब उसकी मूर्तियां दस रुपये की बिकने लगीं जब कि पिता को पांच रुपल्ली से अधिक कभी न मिले।

लेकिन अपने लाल को शिक्षित करने का उनका क्रम लगातार चलता रहा। "पिता मुझे अबतक वही नौसिखिया, नन्हा बच्चा समझते हैं, अब जब कि मेरी मूर्तियों के आगे उनकी कला को कोई पलट कर भी नहीं देखता फिर भी उपदेश देने का काम उनका अनवरत चलता ही रहता है" यह सुझाव बार-बार उसे झकझोर रहा था। और अंत में एक रोज कुछ झुंझलाकर वह अपने गुरु-पिता से

कह बैठा—"पिताजी, क्षमा कीजियेगा, लेकिन शायद आपको मुझे उपदेश देने की, मेरी त्रुटिहीन मूर्तियां में त्रुटि निकालने की आदत-सी पड़ गयी है। धड़ल्ले से मेरी मूर्तियां बिकती हैं, मैं आपसे दुगुना कमा भी लेता हूं, लेकिन आप मेरी कला में अब भी रोज कोई-न-कोई नुक्स ढूंढ़ ही लेते हैं।''

मन की झुंझलाहट ने पिता के सामने इतनी कड़वी बात कहलवा तो दी, लेकिन पिता के प्रति गभीर आदर और सम्मान के कारण, साथ-ही-साथ बेटे की आंखें अनायास डबडबा उठीं।

स्नेह और प्रेम के अतिरेक में पिता ने अपने होनहार लाल को छाती में भींच लिया, फिर बोले—"मेरे बेटे, जो भूल मैंने अपने लड़कपन में की थी उसे तू कभी मत दोहराना। आज मैं बहुत खुश हूं कि तूने मुझसे सीधा यह प्रश्न किया। बेटा, जब मैं तेरी उम्र का था तब मुझे भी अपनी पूर्णता पर भयंकर अहंकार हो गया था और मैं भी अपने पिता पर इसी तरह झुंझला उठा था और उनकी सीख लेनी बंद कर दी थी मैंने। बेटे ! परिणाम तुम्हारे सामने है, पांच रुपये की काई में मैं फंसा ही रह गया। उससे अधिक एक नया पैसा बनाने की कला मैं न सीख पाया, इसीलिये मैं तुमसे कहता हूं कि तुलना मुझसे मत करो, इस मायने में तुलना किसी से मत करो; अपने सामने असीम प्रगति का मानदण्ड रखो, मैं तुम्हारी कला में अवगुण नहीं दिखलाता, बस अनुभवी दृष्टि और अभ्यस्त हाथों की कुछ बातें बतलाता रहता हूं। क्योंकि मैं चाहता हूं कि तुम भी वह भूल न करो जो मैं दर्प में आकर कर बैठा था। प्रगति अंतहीन है, उसपर पूर्ण विराम लगाना मूर्खता है, इसलिये आज मैं तुमको बस एक ही शिक्षा देता हूं कि जबतक सांस है आगे ही आगे बढ़ने की आस का दामन थामे रहो।''

पिता ने अपने लाल को वह अक्षय प्रदीप थमा दिया था जिसके प्रकाश तले चलते-चलते मानव अपने जीवन की सन्ध्या में भी यौवन के प्रखर प्रकाश का आनंद उठा सकता है।

—वन्दना

तुम किसी को कोई अच्छी सलाह तबतक नहीं दे सकते जबतक स्वयं अपने-आपको न दे लो और उसके अनुसार आचरण न करो।

—श्रीमां

अपने-आपको नयी शक्ति के प्रति खोलो। उसे अपने अंदर रूपांतर का काम करने दो।

—श्रीमां

यदि तुमने भगवान् को चुना है तो इसका कारण है कि भगवान् ने तुम्हें चुन लिया है।

—श्रीमां

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये।

—श्रीमां

With Best Compliments From :

Salarpuria Public Charity Trust
7, Chittaranjan Avenue
CALCUTTA - 700 072

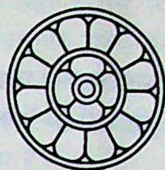
M/s Patton Ltd.
3C, Camac Street
CALCUTTA - 700 016

Naurangrai Lohia Charitable Trust
14A Loudon Street
CALCUTTA - 700 017

Charu Enterprises
42B Shakespear Sarani, 13, Shalimar Apt.
CALCUTTA - 17

Kitply Industries Ltd.
White House, 'A' Block, 4th Floor, 119 Park Street
CALCUTTA - 700 016

Maikal Fibres Ltd.
CALCUTTA



प्रार्थना और ध्यान

१ जून, १९१४

हे दिव्य प्रेम की विजयी शक्ति, तू इस विश्व का एकाधिपति स्वामी है, तू इसका स्रष्टा और रक्षक है, तू ने इसे अंध-व्यवस्था में से उभरने की अनुमति दी है और अब तू ही इसे अपने शाश्वत लक्ष्य की ओर लिये जा रहा है।

ऐसी कोई तुच्छ वस्तु नहीं है जिसमें मैं तुझे चमकते न देखती होऊं, तेरी इच्छा के प्रति ऐसी कोई आभासी विरोधी सत्ता नहीं है जिसमें मैं तुझे निवास करते, कार्य करते और प्रसारित होते हुए न देखती होऊं।

हे मेरे मधुर स्वामी, इस प्रेम के सारतत्त्व, मैं तेरा हृदय हूं और तेरे प्रेम की बौछारें मेरी समस्त सत्ता में से प्रवाहित होती हैं ताकि सभी वस्तुओं में तेरे प्रेम को जगा दें, बल्कि यूं कहें कि सभी वस्तुओं को तेरे प्रेम की उस चेतना की ओर जगा दें जो सबको अनुप्राणित करती है।

वे सब जो तुझे नहीं पहचानते, वे सब जो तुझे नहीं जानते, वे सब जो तेरे मधुर और दिव्य विधान से मुंह मोड़ने की कोशिश करते हैं, उन सबको मैं अपने प्रेम की भुजाओं में लेती हूं, मैं उन्हें अपने प्रेम के हृदय में झुलाती हूं और उन्हें तेरी दिव्य अग्निशिखाओं के अर्पित करती हूं ताकि तेरा चमत्कारपूर्ण तेज उनमें प्रवेश करे और वे तेरे परमानंद में परिवर्तित हो जायें।

हे प्रेम, समुज्ज्वल प्रेम, तू सबमें प्रवेश करता है, सबको रूपांतरित करता है।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

फरवरी

१. प्रश्न : जब मैं ठीक होता हूं तो कोई याद नहीं रखता। जब मैं गलत होता हूं, तो कोई भूलता नहीं।
उत्तर : क्योंकि सच्चा ठीक और गलत कुछ नहीं है—एकमात्र सत्य हैं 'परम प्रभु' और वे सब कुछ याद रखते हैं।

२. सत्य मन से ऊपर है, नीरवता में ही मनुष्य उसके साथ नाता जोड़ सकता है।
भगवान् से प्रार्थना करना और अपने-आपको पूरी तरह, पूरी सचाई के साथ 'उनके' अर्पण कर देना आवश्यक प्राथमिक शर्तें हैं।

३. जो सचाई के साथ 'सत्य' की सेवा करना चाहता है वह 'सत्य' को जान जायेगा।

४. बाह्य अनुशासन की दृष्टि से यह अनिवार्य है कि जब तुम्हारी कोई राय हो और तुम उसे प्रकट करो तो याद रखो कि यह केवल एक राय, देखने और अनुभव करने का एक तरीका है तथा अन्य लोगों की राय और उनके देखने और अनुभव करने के तरीके भी तुम्हारे तरीकों के जितने ही न्यायसंगत हैं और उनका विरोध करने की जगह तुम्हें उन सबको जोड़कर एक अधिक सत्य और व्यापक समन्वय पाने की कोशिश करनी चाहिये।

५. सभी रायों में कुछ सत्य होता है और कुछ असत्य। वस्तुतः क्रोध किये बिना औरों की रायों को सुन सकना, एक बड़ी और उपयोगी चीज है।

६. यदि लोग चुप रहना सीख सकें तो वे कितनी ही कठिनाइयों से बच जायेंगे।

७. मन एक साफ दर्पण है। हमें उसे शुद्ध रखना चाहिये ताकि उस पर धूल न जमने पाये।

८. हमारा मन एक बाजार है जहां हर प्रकार के विरोधी विचार आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं। सच्चे और ईमानदार बनो तो तुम्हारा मन चैन से रहेगा।

९. प्रेम केवल एक ही है—भागवत प्रेम, और उस प्रेम के बिना कोई सृष्टि न होती। सब कुछ उसी प्रेम के कारण विद्यमान है। और जब हम अपने निजी प्रेम को खोजते हैं, जिसका कोई अस्तित्व नहीं, तब हम प्रेम का अनुभव नहीं करते। उस एकमात्र प्रेम का अनुभव नहीं करते जो भागवत प्रेम है और समस्त सृष्टि में रमा हुआ है।

१०. अपने मन को बहुत ज्यादा सक्रिय होकर हो-हल्ले और विक्षोभ में न रहने दो, चीजों के ऊपरी आभास से ही परिणामों तक न जा पहुंचो। जल्दबाजी न करो, एकाग्र होकर स्थिरता में ही निश्चय करो।

११. हमेशा स्थिर और शांत रहने के बारे में बहुत सावधान रहो और संपूर्ण समचित्तता को अधिकाधिक पूर्णता के साथ अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित होने दो।

१२. ईमानदारी सबसे अच्छी सुरक्षा है।
हमेशा सच बोलना आभिजात्य का सबसे ऊंचा पद है।
बोला गया प्रत्येक झूठ विघटन की ओर लिया गया एक कदम है।

१३. तुम्हें अकेलापन इसलिये लगता है क्योंकि तुम प्रेम पाने की आवश्यकता का अनुभव करते हो। बिना मांग किये, केवल प्रेम के आनंद के लिये (संसार का सबसे अद्भुत आनंद) प्रेम करना सीखो और फिर तुम कभी अकेला अनुभव न करोगे।

१४. अगर तुम कोई सच्ची बात नहीं कहना चाहते तो झूठ बोलने की जगह चुप रहो।

१५. एकदम मौन होने की अपेक्षा तुम जो कहते हो उस पर संयम ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। सबसे अच्छा है जो उपयोगी हो उसे यथार्थ और यथासंभव सच्चे ढंग से कहना सीखना।

१६. अगर लोग बोलने, क्रिया करने या लिखने से पहले जरा शांत रह लें तो बहुत-सी तकलीफों से बचा जा सकता है। इतनी सारी चीजें व्यर्थ में बोली जाती हैं जो गलतफहमियां और दुर्भावनाएं लाती हैं। मौन के द्वारा उनसे बचा जा सकता है।
अगर केवल वही शब्द बोले जाते जिनके बोलने की जरूरत है तो संसार बहुत नीरव स्थान होता।

१७. तुम्हें हमेशा वह करना चाहिये जो तुम कहते हो लेकिन तुम जो कुछ करते हो उस सबके बारे में बोलना हमेशा बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होता।
तुम जब बोलो, हमेशा सच बोलो, लेकिन कभी-कभी न बोलना ज्यादा अच्छा होता है।

१८. बोलना चांदी है लेकिन मौन सोना है।
चीजों को मधुरता के साथ कह सकना हमेशा बल का चिह्न होता है और दुर्बलता ही हमेशा अप्रिय रूप में फूट पड़ती है।
क्रोध ने किसी से मूर्खता के सिवाय और कुछ नहीं कहलवाया।

१९. कभी शेखी मत बघारो। शेखी बघार कर तुम उपलब्धि के लिये अपनी योग्यता को छितरा देते हो।

२०. शेखी, शेखी, प्रगति के लिये सबसे बड़ी बाधाओं में से एक है। अगर तुम सच्ची प्रगति की अभीप्सा करते हो तो तुम्हें बड़ी सावधानी के साथ इस मूर्खता से बचना चाहिये।

२१. व्यर्थ में बोला गया प्रत्येक शब्द भयानक गप्पबाजी है।
हर दुर्भावनापूर्ण शब्द, हर मिथ्यापवाद चेतना की अधोगति है।
और जब मिथ्यापवाद भद्दी भाषा और गंवारू शब्दों में प्रकट किया जाता है तो यह आत्मघात के समान होता है—अपनी अंतरात्मा के आत्मघात के समान।

२२. हृदय में भागवत उपस्थिति द्वारा सच्चा बल और सुरक्षा आते हैं।
अगर तुम इस उपस्थिति को अपने अंदर निरंतर रखना चाहते हो तो भाषण, आचरण और क्रिया-कलापों के सारे गंवारूपन से बड़ी सावधानी के साथ बचो। स्वच्छन्दता को स्वाधीनता और स्वतंत्रता को अशिष्ट व्यवहार न मान बैठो। विचारों को पवित्र और अभीप्सा को तीव्र होना चाहिये।

२३. सावधान रहो कि जब तुम लोगों से बातें करो तो हमेशा जीवंत 'उपस्थिति' और दिव्य सुरक्षा अपने चारों तरफ रखो और कम-से-कम बोलो।

२४. जो नहीं समझते उनके सामने चुपचाप रहने के बारे में तुम्हारी बात बिलकुल ठीक है, क्योंकि परम प्रभु तुम्हारे साथ हैं, और यही एकमात्र वस्तु है जिसका मूल्य है।

२५. निश्चय ही दूसरों की भूलों के बारे में बोलना बहुत बुरा है, हर एक के अपने दोष होते हैं और उन्हीं के बारे में सोचते रहना, निश्चय ही उन्हें ठीक करने में सहायता नहीं पहुंचाता।

२६. सत्य के पथ पर, अधिक जानने के लिये तुमने जो कुछ सीखा है उसे अभ्यास में लाना होगा।
जरा-सा निष्कपट अभ्यास बहुत-से लिखे और बोले गये शब्दों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

२७. अभ्यास की एक बूंद सिद्धांतों, सलाहों और अच्छे संकल्पों के समुद्र से कहीं अच्छी है।
कम बोलो, सच्चे बनो, पूर्ण निष्कपटता के साथ काम करो।

२८. सुनना अच्छा है, लेकिन पर्याप्त नहीं है—तुम्हें समझना चाहिये।
समझना ज्यादा अच्छा है, लेकिन फिर भी पर्याप्त नहीं है—तुम्हें कार्य करना चाहिये।

यह सृष्टि

मैं एक संस्कृत कहावत से आरंभ करता हूं। यह ठीक कहावत नहीं, आधी हास्यमय और आधी गंभीर सूक्ति है लेकिन उसका अर्थ स्पष्ट है। शायद इसके पीछे कोई कहानी रही हो। तुम जानते हो कि संस्कृत पंडित और वे ही क्यों, सभी पंडित बहुत ज्यादा अव्यावहारिक लोग माने जाते हैं। वे अपने पोथी-पत्रा में, अपने अध्ययन में और हवाई किलों में इतने खोये रहते हैं कि उन्हें भौतिक जगत् का, यहां की बाहरी चीजों का कोई ख्याल ही नहीं रहता। कहते हैं, एक बार किसी पंडित ने यह जानना चाहा कि सूअर किसे कहते हैं, सूअर उसने कभी न देखा था। किसी ने बताया, "सूअर एक प्रकार का जानवर होता है।" "कैसा जानवर ?" दूसरे पंडित ने अपनी विद्वत्ता दिखाते हुए कहा, "सूअर एक बड़ा चूहा होता है, एक चूहा बड़ा हो जाये या हाथी छोटा हो जाये तो सूअर बन जाता है। मूषक-वृद्धि या गज-क्षय।" पहला पंडित संतुष्ट होकर बोला, "हां, अब समझ गया।"

इसी बिंब को सामने रखते हुए मैं कह सकता हूं कि मनुष्य बीच की सीढ़ी पर है। हम कह सकते हैं कि वह एक विशाल (लेकिन हमेशा शरीर की दृष्टि से नहीं) या विकसित पशु है और दूसरी ओर से देखें तो देवता का क्षीण रूप है। यह कहानी बड़ी मजेदार है। मनुष्य का विकास कैसे हुआ, वह पशु में से आदमी कैसे बना। शायद इस बारे में तुमने बहुत कुछ पढ़ा भी होगा लेकिन इससे ज्यादा मजेदार है कहानी का दूसरा भाग, भगवान् ने या देवता ने अपने-आपको छोटा करके मनुष्य कैसे बनाया।

बहुत, बहुत, बहुत पुरानी बात है, सृष्टि के आरंभ में भौतिक रूप में केवल धूल के कण ही थे। छोटे-छोटे रजकण—या जो रजकण से लगते थे—चारों ओर भरे हुए थे। वेद इन्हें तुच्छ कहते हैं। सब दिशाएं तुच्छ से भरी थीं। कोई रचना न थी, न कोई आकार था, आज हम जैसे रूप देखते हैं उनका अस्तित्व न था। थे अस्पष्ट से बादल या धुंध, चारों ओर अनगिनत रजकण घूम रहे थे। यही सृष्टि का आरंभ था। तब धीरे-धीरे इन कणों ने आपस में जुड़ना, मिलना और जमना शुरू किया। छोटे-बड़े नाना प्रकार के रूप बनने लगे। तब तारा-मंडित गगन प्रकट हुआ और फिर बारी आयी विशेष प्रकृति और विशेष नियति लिये हुए धरती की। मैंने अभी प्रथम रजकणों की बात कही है। उनके साथ-ही-साथ, उन्हीं के बीच लेकिन किसी और आयाम में, बात तो आश्चर्य की है, प्रकाश के कण फैले हुए थे। हमने आणविक और परमाणविक कणों के बारे में तो सुन रखा है पर ज्योति के कणों के बारे में तो अभी-अभी अनुमान किया जाने लगा है। यह प्रकाश साधारण रोशनी की चमक नहीं है, यह चेतना का प्रकाश है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी रजकणों के साथ-ही-साथ इन प्रकाश-कणों की अभिवृद्धि। हम जानते हैं कि भौतिक रजकणों ने कैसे-कैसे रूप बदले, प्राणी-जगत्, पशु-जगत् और अंत में मानव शरीर तक आये। लेकिन ज्योति के कण भी, जो शुरू में चारों ओर से घिरे अंधकार के बीच छोटे-से झिलमिले से बढ़कर न थे, जिन्हें देखना और पहचानना भी कठिन था, धीरे-धीरे किंतु अबाध रूप से बढ़ने लगे, ज्यादा स्पष्ट, चमकदार और बड़े बनने लगे, उनमें शक्ति भी बढ़ चली। शुरू में इन ज्योति-कणों का कोई रूप न था, धुंधली-सी चिनगारी जैसे लगते थे परंतु धीरे-धीरे उन्होंने ज्वाला का रूप ले लिया। इस विकास में करोड़ों वर्ष लग गये।

...और जब मानव शरीर उत्पन्न हुआ तो इस ज्वाला ने भी कुछ-कुछ मनुष्य का-सा आकार अपना लिया—एक छोटा-सा मानव आकार मानों एक ज्योतिर्मय भ्रूण। तुम्हें उपनिषद् के अंगुष्ठमात्र पुरुष का तो कुछ परिचय होगा ही। यही मानव-आत्मा का प्रथम आकार था। पहला ज्योति-कण

व्यक्ति या चैत्य पुरुष बन गया। मनुष्य में अद्भुत परिवर्तन हुआ है। ज्योति ने, विकसनशील चेतना ने, अपने-आपको देखना शुरू कर दिया है, वह अपने बारे में सचेतन हो गयी है और उसने वृद्धि और विकास के अगले क्षेत्र में पहुंचने के लिये पहली छलांग लगायी है। चैत्य प्रकाश के मानवीकरण और व्यक्तिकरण, उसकी सतत वृद्धि और विकास—ये चीजें ही मानव नियति के आंतरिक विकास की पूरी कहानी कहती हैं। ज्योति कैसे बढ़ती और विकसित होती है ? वे कौन-सी शक्तियां हैं, कौन-से साधन हैं जो वृद्धि और विकास आरंभ करते हैं और उसमें सहायक होते हैं, जो चिनगारी को सत्ता में और सत्ता को उच्चतर सत्ता में बदलते हैं। जीवन ही साधन है, जीवन शक्तियां ही वे कारीगर हैं जो इस काम को पूरा करते हैं। जीवन का अर्थ है बहुत सारे अनुभवों की शृंखला, इर्द-गिर्द की चीजों का तुम्हारे ऊपर, तुम्हारे मन, शरीर और संवेदनों पर प्रभाव। ये समिधाएं हैं जिन्हें तुम अग्नि में डालते हो और ज्योति जाग उठती है। एक के बाद एक जीवन में तुम अनुभव इकट्ठे करते जाते हो जो तुम्हारी सत्ता को मजबूत और बड़ा करते जाते हैं, यह सचेतन सत्ता इस तरह विकसित होती है, इतनी पुष्ट और सुगठित हो जाती है कि तुम आध्यात्मिक जीवन की बात सोचने लगते हो। जब आदमी अपने-आपसे, अपने साधारण जीवन से भली-भांति संतुष्ट न हो, कुछ और, कुछ और बड़े की मांग बार-बार उठती हो तो इसका मतलब होता है कि उसके अंदर की ज्वाला एक निर्णायक स्तर पर पहुंच गयी है और अब जीवन के किसी और आयाम में छलांग लगाने के लिये तैयार है।

आध्यात्मिक जीवन के लिये अभीप्सा का मतलब यह है कि तुमने अपने आंतरिक पुरुष की, उस सुन्दर पुरुष की जो तुम्हारे अंदर छिपा हुआ है, झांकी पा ली है। आध्यात्मिक जीवन के द्वारा तुम उस सुन्दर व्यक्तित्व को अधिकाधिक विकसित करते हो और एक ऐसी सत्ता बन जाते हो जो पूरी तरह विकसित और सुगठित है। प्राचीन काल में जब कोई व्यक्ति आत्मा का पूर्ण रूप पा लेता था तो उसे सिद्ध पुरुष कहा जाता था—यानी ऐसा आदमी जिसने पूर्णता और सिद्धि प्राप्त कर ली है। सिद्धि का मतलब है सामान्य मानव जीवन के लक्ष्य और प्रयोजन की उपलब्धि, सिद्धि का मतलब है इस ज्योति का पूर्ण विकास जिसे तुम शाश्वत काल से अपने अंदर लिये आ रहे हो। तुमने भांति-भांति के जीवन देखे हैं। इस चरम बिंदु तक पहुंचने के लिये विभिन्न प्रकार के अनगिनत कठिन स्तरों को पार करना पड़ा है लेकिन यह अपने-आपमें अंत नहीं है। अब विकास-क्रम की दिशा में, उसके मार्ग में परिवर्तन आया है। पूर्ण मानव बनना मानव नियति का पहला आधा भाग है, अभी दूसरा आधा भाग—देव बनना, दिव्य पुरुष बनना बाकी है।

लेकिन अब प्रक्रिया और होगी क्योंकि अब हम एक और ही आयाम में, एक और ही गुण या सद्वस्तु में प्रवेश करते हैं। यहां से देवलोक शुरू होता है। हम कह सकते हैं कि देव पूर्णता के आदर्श रूप हैं। उनकी चेतना मन की चेतना से बिलकुल भिन्न होती है। वह सीमित नहीं होती, वह सार्वभौम होती है और किसी दिव्य गुण या गुणों को साकार करती है। उनमें से प्रत्येक एक शक्ति-विशेष है। मानव स्तर पर धीरे-धीरे ऊपर की ओर और आगे की ओर प्रगति होती है, एक-एक पग चढ़ाई होती है, यह प्राप्ति या उपलब्धि मानों जोड़ने और साथ-साथ बढ़ने से आती है, लेकिन देव या देवत्व को उस तरह नहीं पाया जा सकता जैसे तुम वांछित वस्तुओं को पा सकते हो। यहां तुम देवत्व को हस्तगत नहीं करते, वे ही आकर तुम्हें अपने वश में कर लेते हैं और तुम्हारे अंदर निवास करते हैं। उपनिषद् का कहना है कि वे अपने-आप आकर अपने शरीर को अनावृत करते हैं। वे मनुष्य से इतने भिन्न गुणवाले हैं कि तुम प्रगति, संवर्धन या विकास के द्वारा, अपने वर्तमान को विस्तृत करके ही उस प्रकृति को नहीं

पा सकते। स्वयं प्रकृति को तुम्हारे अंदर उतरना होगा और तुम्हें अपने जीवन के रूप में ढाल लेना होगा। मानव के लिये यह एक नयी उपलब्धि है, उसे देवों का स्तर प्राप्त करना है, अपने-आपको विकसित करके, अपना सुर मिलाकर दिव्य सत्ता को अपने अंदर लाना, अपने-आप देव बनना है। श्रीअरविन्द दिव्य जीवन की, दैवी जीवन की बात कहते हैं, उसका अर्थ है कि तुम अपने-आप देव बन जाओ। मनुष्य रहते हुए अधिक-से-अधिक पूर्णता प्राप्त करना ही काफी नहीं है बल्कि मनुष्य की मानवता को पार करके, दिव्यता को यहां, इस धरती पर मूर्त रूप देना है। शायद तुम्हें याद हो कि श्रीरामकृष्ण सिद्ध पुरुषों की दो श्रेणियां बताते हैं। एक को उन्होंने जीवकोटि का नाम दिया है, ये ऐसे मनुष्य हैं जिन्होंने क्षमता का पूरा उपयोग करके अंतिम मोक्ष प्राप्त कर लिया है। साधारणतः ये मानव अपने-आपमें पूरे होते हैं। वे अपनी साधना करते, सिद्धि-लाभ करते और फिर बाहर निकल जाते हैं। वे फिर वापिस नहीं आते। दूसरी हैं ईश्वर-कोटि की सत्ताएं, जिन्होंने दिव्य प्रकृति को धारण कर लिया है। वे केवल अपनी ही रक्षा नहीं करते बल्कि औरों को भी बचाते हैं, वे अपूर्ण मानव सत्ताओं का भार वहन कर सकते हैं, ऊपर जा सकते हैं, नीचे आ सकते हैं, मुक्ति के बाद एक जीवन से दूसरे जीवन में आसानी से आ-जा सकते हैं ताकि धरती की सार्वभौम स्वाधीनता के काम को जारी रख सकें।

मैंने कहा है कि एक देव नीचे उतर कर तुम पर अधिकार कर लेता है, तुम ऊपर जाकर देव को वश में नहीं कर लेते। लेकिन शायद यह एक ही बात को कहने के दो तरीके हैं। तुम जिस देव को अपने अंदर बुलाते हो वह तुम्हारा अधिष्ठाता देव है जो हमेशा तुम्हारे सिर के ऊपर विराजमान रहता है, तुम्हें मार्ग दिखाता है, तुम्हारी सहायता करता है और तुम्हारे आध्यात्मिक विकास के सभी चक्रों में तुम्हारा मित्र बना रहता है। दिव्यता का यह आद्य-रूप जो तुम्हें अपनाना है, जो तुम्हें अपने-आपमें समा लेगा और तुम्हारे साथ एक हो जायेगा, यह शुरू से ही तुम्हारे साथ लगा है और जैसे-जैसे तुम ऊपर चढ़ते जाते हो यह तुम्हारे अधिकाधिक निकट आता जाता है। मैंने शुरू में जिस ज्योति-कण की बात की थी, जो तुम्हारा प्रथम मौलिक रूप था वह इस दिव्य पुरुष के अतिरिक्त और कुछ न था, यही भौतिक जगत् में उतरा था।

मनुष्य के दिव्य रूप में विकसित होने का एक महान् और ज्योतिर्मय उदाहरण हैं नारद। उन्हें देवर्षि कहा जाता है अर्थात् आध्यात्मिक रूप से पूर्ण मनुष्य जो अपने-आपको देव में कार्यान्वित कर रहा है या यूं कहें कि ऐसा देव जो नीचे उतर कर मानव सत्ता में निवास करता, उस पर अधिकार करता और वही बन जाता है। नारद जैसे देवर्षि के काम का श्रीअरविन्द ने 'सावित्री' में बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। नारद अमर हैं, आज भी आकाश में भ्रमण करते और धरती के चक्कर काटते हैं और पृथ्वी के जीवन में भाग लेते रहते हैं। जहां-तहां मार्ग-दर्शन के लिये प्रकाश डालते रहते हैं और प्रेम-भरी उत्कंठा से हमारी सहायता करते हैं।

और नारद मानव विकास के अंतिम बिंदु नहीं हैं क्योंकि अब भी वे सूक्ष्म जगत् के अंदर और बाहर आते-जाते रहते हैं। उनके शरीर का रूपांतर नहीं हुआ है। अभीतक उन्हें वह स्वर्णिम शरीर नहीं प्राप्त हुआ है जिसकी बात श्रीअरविन्द करते हैं, जो दिव्य जीवन का आधान है। मानव विकास की पूर्णाहुति होगी रूपांतरित मानव शरीर में।

*

मैंने शुरू में ही कहा था कि आरंभ में सृष्टि भौतिक कणों का ढेर थी, मानों रजकणों का ढेर हो। करोड़ों, अरबों कण अनंत आकाश में बिखरे हुए थे और धीरे-धीरे ये कण नजदीक आते और घन बनते गये, निश्चित आकार और रूप लेते गये। धीरे-धीरे उनकी भौतिक प्रकृति भी बदलती गयी, संवेदनशील रूप और आकार, जीवित प्राणी, सचेतन सत्ताएं और आत्म-चेतन मनुष्य आते गये। हम पहले कह आये हैं कि उन मौलिक मृत कणों में उनके साथ संयुक्त या उनमें घुले-मिले ज्योति के कण भी थे। उनमें केवल भौतिक ऊर्जा ही नहीं थी बल्कि ज्योतिर्मयी ऊर्जाएं थीं जिनके साथ चेतना की ऊर्जाएं भी जुड़ी हुई या घुली-मिली थीं, मृत कणों के पीछे ज्योति के ये कण थे इसीलिये विकास संभव हो सका, केवल मात्रा में ही नहीं, जाति और प्रकार में भी विकास हुआ, संवेदनशीलता और चेतना सजीव सत्ताओं और प्राणियों के रूप में प्रकट हो सकी। यह क्रम चलता रहा, तबतक चलता रहा जबतक हम मनुष्य के स्तर तक, वर्तमान जगत् के स्तर तक नहीं आ पहुंचे, जहां से हम परे जाने के प्रयास में हैं।

ज्योति और चेतना का यह कण कहां से आया ? और यही क्यों, स्वयं मृत रजकण कहां से आया ? ऋषियों का कहना है कि वस्तुओं का, सारी सृष्टि का मूल सत् में है जो शुद्ध सत्ता या परम सत्ता है। वह शुद्ध रूप से एक है जिसमें कोई भेद नहीं, कोई गति नहीं। उसमें और दो मौलिक गुण थे, चेतना और आनंद लेकिन वे साथ ही घुले-मिले और एक थे। इसी सत्ता में एक गति आयी, कंपन हुआ जिसका अर्थ था अविभाज्य का विभाजन। विभाजन की इस प्रेरणा ने सत्ता को मानों उल्टे पैर सीधे विरोधी तत्त्व यानी मृत भौतिक सत्ता में, निश्चेतन द्रव्य में ढकेल दिया जहां उसने अपने-आपको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कणों के रूप में पीस डाला। दोनों मानों परस्पर विरोधी ध्रुव पर जा पहुंचे। लेकिन मौलिक विभेद, सीधी लकीर की तरह आगे दौड़ने के साथ-ही-साथ एक और तरह की गति भी कर रहा था। उसमें मानों विखंडन हो रहा था, उसकी वंशावली बढ़ती जा रही थी। विभाजन के बाद उपविभाजन—यह क्रम चलता ही चला जा रहा था और अधिकाधिक अपवित्र, अपूर्ण, संकरे, घने, और कम-से-कम मूल्यों की ओर गति होती जा रही थी और सबके अंत में उन सबके शैल स्तर के रूप में धरती आ गयी। इस विभाजन के लिये हम एक दृष्टांत ले सकते हैं। पहले-पहल एकमेव सत्ता ने ईश्वर और ईश्वरी का दोहरा बाना पहना। उन्होंने अपने बहुत-से—घटते हुए क्रम में—विभाग किये, व्यक्तित्व और अंश बनाये। श्रीअरविन्द कहते हैं कि पार्थिव विकास के वर्तमान चक्र में परम ईश्वरी की चार शक्तियां इस मुहूर्त की नियति को रूप देने और उसका मार्ग-दर्शन करने के लिये प्रकट हुईं। वे अतिमानस चेतना से आयी हैं लेकिन उन्होंने निचले स्तरों, निचली भूमिकाओं पर ऐसे क्रियाशील रूपों को भेजा है, भागवत व्यक्तित्व के ऐसे रूपों को भेजा है जो मानव चेतना के ज्यादा नजदीक हैं। मनुष्य उनके पास ज्यादा आसानी से पहुंच सकता है। वे मुख्य रूप से अधिमानस के देवता हैं जो मानव विकास में रस लेते हैं और उनमें से कुछ इष्ट देवता बनकर मनुष्यों के साथ संबंध स्थापित करते हैं।

उलटे विकास की यह प्रक्रिया चलती रही है। परम चेतना अतिमानसिक चेतना बनी, वह अधिमानस में उतरी और फिर मानसिक लोक में आयी। हर स्तर पर अपने-अपने देवता और दिव्य सत्ताओं की संख्या बढ़ती गयी। शायद वैदिक ऋषि इन्हें भी नमन और स्तोत्र अर्पित किया करते थे। देवता और भी नीचे उतरे और धरती के वातावरण में छितर गये। जंगलों के, नदी-नालों के, पर्वतों और ग्रामों के देवता और इसी तरह के अन्य देव जिनका पौराणिक गाथाओं में उल्लेख आता है, कोरी कल्पना नहीं हैं। आदिम मानव के गण देवताओं में भी देवी-देवताओं की वही प्रचुरता दिखायी देती है।

वह दिव्य शक्ति अधिकाधिक अंधेरे और घने लोगों में उतरती है—केवल सत् और चेतन अवस्था में ही नहीं बल्कि असत् और निश्चेतना में भी। हम कह सकते हैं कि पत्थरों और चट्टानों की दुनिया भी अपवाद नहीं है। उनके ठोस और मृत दीखनेवाले शरीर में भी भागवत अवक्रमण का कुछ अंश रहता है।

यहां मानव हस्तक्षेप का, मनुष्य की इच्छा-शक्ति और विचार-निर्माण का कोई प्रश्न नहीं है। वह तो एक अलग ही विषय है। यहां हम भौतिक शरीर में उपस्थित आंतरिक दिव्य स्तर या भौतिक शरीर की दिव्यता या उसके द्रव्य गुण की बात कर रहे हैं जो इस मानव में उपस्थित है।

तो सृष्टि की इस प्रक्रिया में विकास या अभिव्यक्ति की दो प्रणालियां या दोहरी सीढ़ी हैं, एक नीचे से ऊपर जाती हुई, दूसरी ऊपर से नीचे आती हुई। इन्हें वंश-वृक्ष से उपमा दी गयी है। एक तो विकास का वृक्ष है जो नीचे जड़-पदार्थ से उठता है, धीरे-धीरे तने का रूप लेता है। उसकी बहुत-सी शाखा-प्रशाखाएं ऊपर और इधर-उधर फैलती हैं। हर नयी टहनी किसी नयी जाति या नये प्राण का प्रतीक है। हम सभी अनगढ़ और भद्दे रूपों के विकसित होकर मनुष्य तक पहुंचने की कहानी जानते हैं। दूसरी ओर वैदिक अश्वत्थ है जिसकी जड़ें ऊपर आकाश में हैं और शाखाएं नीचे फैल रही हैं। ऊपर ऐक्य है जिसका विभाजन और उपविभाजन होता है, संख्या बढ़ती जाती है। जैसे-जैसे नीचे बढ़ते हैं टहनियां ज्यादा ठोस होती हैं, उनके कार्य ज्यादा स्पष्ट और सुनिश्चित होते हैं। हम इन्हें सामान्य भाषा में देव कह सकते हैं। उनका काम यह है कि जहां कहीं ऊपर उठती हुई विकासोन्मुख गति मांग करे, उसके साथ मिलकर उसके महान् उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हों। हर प्रकार की दिव्य सत्ता उचित स्तर पर, उचित अवसर पर मूर्त रूप लेकर बाहरी सर्जक गति में अभिव्यक्त होती हैं। जयदेव ने इसी प्रक्रिया का बड़े प्रतीकात्मक ढंग से अपने दशावतार के गान में वर्णन किया है।

हम कह आये हैं कि देवता स्वयंभू सत्ताएं या वास्तविकताएं हैं, भौतिक जगत् में उभरती हुई नयी सृष्टियों के लिये नमूने हैं। इस नयी सृष्टि के शिखर पर है मनुष्य और उसके आने से स्थिति बहुत बदल गयी है और बदलती जा रही है। हम कह आये हैं कि मानव चेतना एक ऐसे स्तर पर पहुंच गयी है जहां से उसे पार्थिव सत्ता के एक नये आयाम में छलांग मारनी है। उसके ऊपर ही इस युग के देवता इकट्ठे तैयारी कर रहे हैं क्योंकि उन्हें नयी सृष्टि में अपना स्थान लेना है। मनुष्यों को देव बनकर, देवों को मूर्त रूप देकर एक नयी सचेतन सत्ता और उसकी गतिविधि को अभिव्यक्त करना है।

देव यहां आकर मनुष्य को बदलने की तैयारी कर रहे हैं लेकिन शायद मानवता भी स्वयं देवों की स्थिति में कुछ परिवर्तन लायेगी। वे भी अपनी जातीय स्थिरता या दृढ़ता के स्थान पर नयी मानव नमनीयता पायेंगे। गीता अपनी भाषा में कहती है कि मनुष्य देवों को बढ़ाता है और देव मनुष्य को। शायद मनुष्य जिस दिव्यता को प्राप्त करेगा वह स्वयं दिव्यता के मूल्य को बढ़ा देगी। यहां सावित्री से कही गयी सत्यवान की यह बात याद आती है : "हे सावित्री, तेरे अंदर कितना बड़ा परिवर्तन आया है! तू हमेशा ही उज्ज्वल, शांत और पवित्र देवी रही है, लेकिन धरती पर तुझे जो मानव भाग मिला है वह तुझे और भी अधिक प्रिय, और भी अधिक दिव्य बनाता है।"

—नलिनीकांत गुप्त

माताजी का बचपन

माताजी ने १८७८ की २१ फरवरी को पैरिस में जन्म लिया था। वे बहुत बार कहा करती थीं : "यद्यपि मेरा जन्म और पालन-पोषण फ्रांस में हुआ है, पर मैं फ्रेंच नहीं हूं।" उनमें मिस्र, तुर्की आदि देशों का रक्त था और उनके परिवार का मिस्र के राजघराने के साथ घनिष्ठ संबंध था। माताजी के जन्म से कुछ ही पहले उनके परिवार के लोग फ्रेंच नागरिक बने थे। उन दिनों का फ्रांस शिक्षा-दीक्षा, बौद्धिक विकास, सभ्यता-संस्कृति, सुरुचि, सौन्दर्यग्राही वृत्ति आदि की दृष्टि से पश्चिम का सिरमौर था। कहा जा सकता था कि जो चीज फ्रांस में न थी वह पश्चिम में और कहीं न थी।

माताजी के पिता, मोरिस अलफासा, उच्चतर मध्यम वर्ग के बैंकर थे। उनकी मां, मातिल्डा, बहुत ज्यादा सुसंस्कृत, दृढ़ संकल्पशील और बहुत ज्यादा आधुनिक विचारों की महिला थीं। मोरिस और मातिल्डा अलफासा के दो बच्चे हुए, बड़ा लड़का था मातियो, जो आगे चलकर फ्रेंच उपनिवेशों में राज्यपाल तथा फ्रांस के विदेश मंत्रालय में ऊंचे पदों पर रहा। छोटी लड़की थी जिसका नाम रखा गया मीरा, जिसे हम माताजी के नाम से जानते हैं। स्वयं माताजी ने कहा है कि जब कभी, जहां कहीं ज्योति के प्रकट होने की संभावना हुई वहां वे उपस्थित थीं। श्रीअरविन्द ने हमें बतलाया है कि बचपन से ही माताजी सामान्य मानव स्तर पर नहीं थीं। वे उससे बहुत ऊंची थीं।

आइये, उनके असाधारण व्यक्तित्व की एक झांकी लेते चलें। एक बार बच्चों से बातचीत करते हुए वे कहती हैं : 'तुमने इसके बारे में कभी नहीं सोचा। तुमने अपने अंदर झांक कर कभी नहीं देखा कि तुम अपने ऊपर क्या प्रभाव डालते हो ? इसके बारे में कभी सोचा ही नहीं ? . . . कभी यह समझने की कोशिश नहीं की कि तुम कैसे अनुभव करते हो ? . . . उदाहरण के लिये, तुमने कभी यह जानने की कोशिश नहीं की कि तुम्हारे अंदर निर्णय किस तरह लिये जाते हैं ? वे कहां से आते हैं ? कौन-सी चीज है जो तुम्हें एक की जगह दूसरा निर्णय लेने के लिये प्रेरित करती है। तुम्हारे निर्णयों और तुम्हारी क्रियाओं में क्या संबंध है ? तुम्हें दो चीजों के बीच चुनने की कितनी आजादी है ? तुम अपने-आपको यह या वह करने या कुछ न करने के लिये किस हद तक स्वतंत्र पाते हो ? तुमने इस विषय पर सोचा है ? जब मैं पांच वर्ष की थी तभी से मैं इन बातों में लगी रहती थी। . . .

'मेरे साथ ऐसा हुआ . . . मैं पांच या छः या सात वर्ष की थी। मेरे पिता को सरकस बहुत पसंद था। उन्होंने मुझसे कहा : 'मैं रविवार को सरकस देखने जा रहा हूं। तुम भी मेरे साथ चलना।' मैंने मना कर दिया। मैंने कहा : 'मैं सरकस जाने की अपेक्षा कहीं अधिक मजेदार काम में लगी हूं।' फिर कभी मेरे छोटे मित्रों ने दावत दी जहां हम सब मिलते और मौज करते, लेकिन मैंने मना कर दिया। मैंने कहा : 'मुझे यहीं बहुत अधिक मजा आता है।' और यह बात बिलकुल सच्ची थी। इसमें दिखावा न था। मेरे लिये दुनिया भर में इससे बढ़कर मजेदार चीज कोई और न थी।'

साधारणतः हम देखते हैं कि मां-बाप अपने बच्चों को बहुत लाड़-प्यार से बिगाड़ देते हैं। मीरा की मां ऐसी न थीं। उन्होंने अपने बच्चों को पूरा-पूरा प्रेम दिया, पर साथ ही अच्छी आदतों पर, नियंत्रण पर भी नजर रखी। एक बार मां ने कुछ पकाया था, लेकिन बच्चों को उसमें मजा न आया। उन्होंने कह दिया 'हम इसे नहीं खा सकते।' मां ने समझाया : 'खाना स्वाद के लिये नहीं खाया जाता। तुम्हें वही खाना चाहिये जो तुम्हारे शरीर को पुष्ट करे।' बात बच्चों की समझ में न आयी और उन्होंने खाने से इनकार कर दिया। आखिर नियंत्रणप्रिय मां ने अपना फैसला सुना दिया : 'खाना है तो यही खाओ,

कुछ और न मिलेगा।' बच्चों ने थोड़ी देर आना-कानी की, फिर भूख से व्याकुल होकर खाने बैठ गये। इतनी कच्ची उम्र में ही उन्हें सिखाया गया कि रसना को बहुत महत्त्व न दें।

बालिका मीरा ने अक्षर-ज्ञान पाने से पहले ध्यान करना सीख लिया था। चार वर्ष की कच्ची अवस्था में उसे मालूम था कि वह किसी विशेष उद्देश्य से धरती पर आयी थी। उसे कुछ ऐसा काम करना था जिसकी तुलना दुनिया के किसी काम से नहीं हो सकती। वह चुपचाप बैठ जाती और देखती कि उसके ऊपर ज्योति की बाढ़ आ रही है। बड़े-से-बड़े योगियों के लिये भी यह मामूली बात नहीं है।

छोटी-सी मीरा हमेशा गंभीर रहा करती थी। छिछोरापन उसे छू तक न गया था। वह अपनी उम्र के बच्चों के साथ खेल-कूद या शरारतें करने में कभी रस न लेती थी। एक बार उसकी मां ने कहा, 'ऐसा लगता है कि सारी दुनिया का भार तेरे ही सिर पर है।' बेटी ने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया : "हां।" बेचारी मां इस छोटे-से शब्द का अर्थ कहां जानती थी।

मीरा के पिता बहुत अनुशासनप्रिय थे और छड़ी से परहेज न करते थे और मीरा का बड़ा भाई, मातियो, प्रायः उसका शिकार हुआ करता था। वह जब कभी देर से लौटता तो उसकी पिटाई होती थी। मीरा को यह पसंद न था। एक सांझ को जब भाई को धुना जा रहा था, धीर-गंभीर मीरा वहां जा पहुंची और उसने बड़े प्रभावशाली लहजे में कहा : 'इसके बाद अगर भाई की पिटाई हुई तो मैं यह घर छोड़कर चली जाऊंगी।' पिता छः वर्ष की राजकुमारी का हुकुम टाल न सके। उस घर में बेंत का वह आखिरी प्रयोग था।

सात वर्ष की आयु तक मीरा ने अक्षर पहचानना भी न सीखा था। एक दिन वह अपने भाई के साथ सड़क पर चली जा रही थी। एक साइनबोर्ड ने उसका ध्यान आकर्षित किया। उसने भाई से पूछा: 'इसपर क्या लिखा है ?' भाई ने मजाक उड़ाते हुए कहा : 'तू इतना भी नहीं पढ़ पाती !' और बस, मीरा ने पढ़ाई शुरू कर दी। कुछ ही समय के प्रयास के बाद वह अपनी कक्षा में प्रथम आने लगी। ऐसा लगा मानों बहुत-से प्रथम पदक उसी के लिये बने थे।

बाद में माताजी ने बतलाया : 'जब मैं लगभग बारह वर्ष की थी तो मैं पैरिस के नजदीक 'फांते ब्ल' नामक वन में अकेली घूमने जाया करती थी। यह एक बहुत पुराना जंगल था जिसमें दो-दो हजार वर्ष पुराने पेड़ थे। मैं किसी पेड़ के नीचे चुपचाप बैठकर ध्यान में चली जाती थी। उस समय मुझे उन पेड़ों के साथ घनिष्ठता का अनुभव होता था और मुझे बहुत आनंद मिलता था। मेरी चेतना इन पेड़ों के साथ सायुज्य प्राप्त करती थी। आस-पास की चिड़ियां और गिलहरियां मेरे बहुत पास आ जातीं और कभी-कभी खेलती हुई मेरे शरीर पर दौड़-भाग करती थीं। अगर आदत डाल लो तो तुम्हें भी इस तरह का अनुभव हो सकता है। बस, एकांत में किसी वृक्ष के तने से अपनी पीठ टिका कर बैठ जाओ और शांत रहो। तुम धीरे-धीरे पेड़ के जीवन-स्पंदनों और उसकी चेतना को अनुभव करने लगोगे। तुम्हें यह भी पता लगेगा कि पेड़ मनुष्यों के साथ दोस्ती करना चाहते हैं। उनमें भी प्रेम होता है। सहानुभूति होती है और वे खुले दिल से हमें आसरा देते हैं। स्पष्ट है कि वे अपने ही ढंग से अनुभव करते हैं। एक बार किसी पुराने पेड़ को काट देने की बात हुई थी। मुझे स्पष्ट लगा कि पेड़ को इस संकट का पता लग गया और उसने मुझसे इस क्रूरता को रोकने के लिये याचना की।'

प्रकृति के साथ घनिष्ठता ने मीरा को पशुओं के साथ सौहार्द प्रदान किया। एक बार माताजी ने अपने बचपन की एक घटना सुनाते हुए कहा : 'पैरिस में एक वनस्पति-वाटिका है। उसमें कुछ जानवर

भी हैं। वहां एक नया-नया सिंह आया। स्वभावतः उसे पिंजरे में रखा गया था और वह बहुत क्रुद्ध था। पिंजरे में एक दरवाजा था। जब कभी दर्शक उसे देखने आते तो सिंह दरवाजे के पीछे छिप जाता था! मैंने यह देखा और एक दिन पिंजरे के पास जाकर उसके साथ बोलना शुरू किया (जानवर मानव वाणी के लिये बहुत संवेदनशील होते हैं, वे सचमुच सुनते हैं)। मैंने अपने सिंह से बड़ी मधुरता के साथ कहा : 'ओह ! तुम कैसे सुंदर हो ! कैसे खेद की बात है कि तुम छिपे हुए हो ! हम लोग तुम्हें देखने के लिये लालायित हैं।'

'वह सुनता रहा। फिर उसने मुझे तिरछी नजरों से देखा। फिर अपना पंजा आगे बढ़ाया और अंत में अपनी नाक सींखचों से लगा दी मानों कह रहा हो आखिर कोई तो है जो मुझे समझता है।'

—'श्वेत कमल' से

अमृत की यादें

(६)

माताकोइल स्ट्रीट या मिशन स्ट्रीट में श्रीअरविन्द छह महीने रहे। आज वह मकान इतना बदल गया है कि उसे पहचानना असंभव है। मैंने पहली बार श्रीअरविन्द के दर्शन यहीं पाये थे। उन दिनों श्रीअरविन्द के मकान में जो लोग रहते थे उनमें से कोई भी बाकी नहीं है। उनमें से कई अंग्रेज गुप्तचरों से बचकर रहने के लिये जाली नाम रखे हुए थे। श्रीअरविन्द के मकान में रहनेवालों में से नगेन्द्र नाथ क्षय रोग से पीड़ित थे। कई बार मैं देखता था कि श्रीअरविन्द अपने कमरे से निकल कर रोगी की चटाई पर आ बैठते, उससे कुछ बातें करते, और किसी ओर नजर डाले बिना सीधे अपने कमरे में चले जाते थे, परंतु मैंने सुना था कि कोई चीज उनकी नजर से बचती न थी। मैंने कई बार आयंगार से निवेदन किया कि श्रीअरविन्द के साथ मेरा परिचय करा दें पर कोई असर न हुआ। अब १५ अगस्त १९१३ को श्रीअरविन्द का जन्मदिन आ रहा था। मैंने फिर से अपना निवेदन दोहराया और ऐसा लगा कि इस बार कुछ असर होगा। १५ अगस्त को मुझे साढ़े चार बजे बुलाया गया। एक-एक करके कई निमंत्रित व्यक्ति आने लगे। शायद सूर्यास्त में घंटा भर होगा। जैसे विवाह-मंडप में व्यवस्था होती है उसी तरह वहां जमीन पर तीन ओर बीस-पचीस केले के पत्ते बिछे थे। संभवतः सहभोज होनेवाला था। मुख्य द्वार भीतर से बंद कर दिया गया। श्रीअरविन्द धीरे से आकर एक तरफ खड़े हो गये। किसी ने उन्हें गुलाब की माला पहनाई और सभी ने तालियां बजाईं। श्रीअरविन्द ने अंग्रेजी में कुछ शब्द कहे। तब मैं अंग्रेजी बहुत कम ही समझता था अतः बहुत कम ही पकड़ पाया, वैसे इसका सबसे बड़ा कारण यह होगा कि मैं भावुकता से उफन रहा था और मेरा हृदय प्रसन्नता के मारे जोर-जोर से धड़क रहा था।

कुछ देर बाद सहभोज के लिये हम सब उन पत्तलों के सामने बैठ गये। मैं तो अतिथि के रूप में था, मेरी आंखें आश्चर्य, आनंद और अहोभाग से लबालब थीं। श्रीअरविन्द धीरे-धीरे चल कर आये। हर एक पत्तल के सामने रुके, खानेवाले की तरफ पल, दो पल निर्निमेष हो देखा और सामने बढ़ते चले गये। ओह, कैसी स्वर्गिक दृष्टि थी वह ! और वह मंद-मंद स्मित ! सभी कुछ अपार्थिव था। उस दृष्टि को

पाकर वह भोजन भी धन्य हो उठा था। अब श्रीअरविन्द दूसरे कमरे में जाकर एक कुर्सी पर बैठ गये मानों किसी की प्रतीक्षा कर रहे हों। धीरे-धीरे लोग उन्हें प्रणाम कर उनसे विदा लेने लगे, मैं चुपचाप वहां बैठा रहा क्योंकि मुझे पता ही न था कि क्या करूं। संभवतः आयंगार मुझे श्रीअरविन्द से मिलाना चाहते थे लेकिन इसके लिये श्रीअरविन्द की अनुमति की आवश्यकता थी। कुछ देर बाद वे मेरे पास आये और बोले—क्या तुम भारती वगैरह के साथ गुरु के दर्शन करना चाहते हो या फिर बाद में आश्रम के लोगों के साथ। मेरे सिर में विचारों की भगदड़ मच गयी। गुरु तो वही समान होंगे। अंत में मैंने उत्तर दिया—"आश्रमवासियों के साथ।"

"तब तुम्हें कुछ देर और प्रतीक्षा करनी पड़ेगी" आयंगार बोले। घर पर इस विलंब के लिये जरूर पूछताछ होगी यह विचार क्षण भर के लिये मेरे दिमाग में कौंधा जरूर लेकिन टिक न पाया। मैं चुपचाप उस अपार्थिव दृश्य और स्थान के वातावरण में डूबता गया। मद्धिम प्रकाश से झिलमिला रहा था वह भवन क्योंकि उसके हर हिस्से में एक एक लालटेन जल रही थी। जब सब मेहमान चले गये तो आयंगार ने आकर मुझसे कहा, "मेज का चक्कर लगाते हुए तुम्हें श्रीअरविन्द के दर्शन मिलेंगे, क्षण भर के लिये हाथ जोड़कर खड़े रहना और फिर वहां से निकल कर घर चले जाना।" उनके ये वाक्य मेरे हृदय-पटल पर खुद-से गये। ८.१५ बजे मुझे बुलाया गया। मैं उठ खड़ा हुआ और श्रीअरविन्द की मेज के पास पहुंचा जहां एक लालटेन टंगी थी जो अंधेरे को कुछ कम करने का काम करती थी। श्रीअरविन्द की प्रदक्षिणा करते हुए मैं उनके आगे हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और मैंने उनको नमन किया और श्रीअरविन्द की आंखों की ओर देखा, क्षण भर में सारा दुःख-दर्द गायब हो गया, मानों मेरे हृदय की पवित्र गुहा में उनकी मूर्ति विराजमान हो गयी। श्रीअरविन्द के इशारे से उनके पास खड़े एक आदमी ने मुझे फिर से एक मिठाई दी। इसका मैंने यह अर्थ समझा कि उन्होंने मुझे स्वीकार कर लिया। मैं उनका मकान छोड़कर अपने घर की ओर चला।

जब मैं घर पहुंचा तो रात के साढ़े नौ बज गये थे। उस जमाने के युवक समझ सकते हैं कि मेरी क्या मुसीबत हुई होगी!

लंबे समय तक मैं इस पसोपेश में पड़ा रहा कि मैं अपना लक्ष्य पा सकूंगा या नहीं। मेरा जीवन असीम सागर में प्रवाहित हो रहा था, अब मैंने प्रकाश-स्तम्भ पा लिया था। निराशा के जमघट के बीच मैंने एक नया जीवन पा लिया था।

एक ओर घर की कठिनाइयां, दूसरी ओर पढ़ाई-लिखाई की कठिनाइयां, लेकिन इन चीजों ने मुझे बहुत परेशान नहीं किया। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता था कि मेरा किसी के साथ कोई संबंध न था। भीतर एक पर्दा था, मेरी जानी-अजानी सभी कामनाएं इस पर्दे के पीछे थीं। पर्दे के पीछे ऐसी अनगिनत संभावनाएं रूप ले रही थीं जो मेरी दृष्टि में न थीं। अब मैं सोचता हूं कि उस समय कोई अपार्थिव, विचित्र और अशरीरी चीज मेरी सत्ता और मेरी चेतना को रूप दे रही थी।

मैं सन् १९१० या ११ से भारती से परिचित था। मैंने अपने-आप समझे बिना प्राचीन के लिये अरुचि और नूतन के लिये आकर्षण पैदा कर लिया था। अब जब मैं सोचता हूं कि प्राचीन के लिये तिरस्कार और नवीन के लिये आकर्षण की जड़ें भी गहरी न थीं। बल्कि पीछे से किसी चीज का उद्घाटन हो रहा था जिसने मेरे जाने बिना किसी चीज को बड़ी गहराई में छू लिया था।

अब मैंने श्रीअरविन्द के घर के चक्कर काटने शुरू किये। मेरे परिवार के लोगों को इसके बारे में कुछ भी पता न था। उस घर के दो-एक व्यक्तियों के साथ मेरा परिचय भी हो गया जिनमें विशेष थे

विजय कुमार नाग। वे महीने में दो-तीन बार चन्दननगर रजिस्ट्री से चिट्ठी भेजा करते थे। अब इनके साथ मेरा संबंध बढ़ता गया और ये नियमित रूप से मेरे द्वारा डाक भेजने लगे। डाक जाने का कोई ठीक समय न होता था, यह काम दोपहर के बारह से तीन तक किसी भी समय हो सकता था। उन दिनों पांडिचेरी में दो डाकघर थे, एक अंग्रेजी, दूसरा फ्रेंच। फ्रेंच डाक प्रायः एक छोटी-सी हाथगाड़ी में जाती थी और एक पुलिसवाला उसके साथ रहता था।

श्रीअरविन्द के घर की सारी डाक फ्रेंच डाकखाने से जाया करती थी, सौभाग्यवश श्रीअरविन्द के मकान की सारी डाक ले जाने का काम मुझे मिला। अंग्रेजी खुफिया पुलिस फ्रेंच डाकवालों को श्रीअरविन्द के मकान की डाक या यूरोप से आनेवाली बी. बी. एस. अय्यर की डाक को खोलकर देख लेती और फिर लौटाती थी—यह सच्ची बात थी या नहीं मालूम नहीं परंतु यह अफवाह सारे नगर में फैली अवश्य थी।

(क्रमशः)

'श्रीअरविन्द के साथ बातचीत':

ग्रामोद्धार इत्यादि के बारे में

२८ फरवरी, १९४०

शाम को

नी—मेरे पास 'अ' का एक और पत्र आया है। उसने फिर से ग्रामों के पुनर्गठन की योजना उठाई है। इस बार यह ज्यादा स्पष्ट है, एक मजेदार बात है सम्मिलित भोजनालय की।

पु—इसमें कोई नयी बात नहीं है। मुझे इस बात में बहुत संदेह है कि यह कहां तक चल सकेगा। इन विषयों में ग्रामीण लोग बहुत कट्टर होते हैं। उन्हें सम्मिलित भोजनालय की बात शायद ही पसंद आये।

स—इस देश में, जहां जात-पांत, छुआ-छूत का इतना जोर है, उन्हें सम्मिलित भोजनालय कैसे पसंद आयेगा ?

नी—'अ' लिखता है, "मुझे लगता है कि मेरे विचार वैश्व मन से आये थे।"

श्रीअरविन्द—वैश्व मन ? यह तो बहुत बड़ी बात है।

नी—ओह नहीं, यह मेरी भूल है। मैंने सामान्य की जगह वैश्व पढ़ दिया।

श्रीअरविन्द—हां तो ?

नी—फिर वह कहता है, "वे शब्द इतने जोर से आते हैं कि मुझे लगता है कि इस बात में कुछ सत्य होगा जरूर।"

श्रीअरविन्द—हां, यह ठीक है।

नी—वह आगे लिखता है, "मुझे जानना चाहिये कि इस विचार का सच्चा स्वरूप क्या है, इसे स्वीकार किया जाये या अस्वीकार। आज देश की सबसे बड़ी जरूरत है एकता की, और एकता तभी

आ सकती है जब हम एक ऐसा उत्साही और जीवंत कार्यक्रम बना सकें जिसे सब स्वीकार कर लें।"

श्रीअरविन्द—हे भगवान् !

नी—'अ' कहता है कि इसके लिये उसने एक निश्चित कार्यक्रम बनाया है। कार्यक्रम कुछ इस तरह का है—१. कोई भी भूखा न रहेगा, २. कोई भी चिकित्सा के बिना न रहेगा और ३. कोई भी अशिक्षित न रहेगा। यह बहुत संभव है यदि सभी ग्रामीण सहमत हों—जैसा प्राचीन भारत में होता था।

श्रीअरविन्द—उसे कैसे मालूम कि प्राचीन भारत में कैसा था ?

नी—पता नहीं। वह आगे चलकर कहता है, "प्राचीन भारत में सार्वजनिक सम्पत्ति न थी। पुरानी ग्रामीण चीजों को आज के जीवन में उतारना चाहिये और उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है सार्वजनिक रसोई।"

श्रीअरविन्द—हर चीज सार्वजनिक क्यों नहीं ? (हंसी)

स—सार्वजनिक भोजनालय में हर एक आ कर, जो जिसकी मरजी हो, खा सकेगा क्या ?

नी—नहीं, अपनी जरूरत के अनुसार खायेगा। इस तरह की संस्था में ऐसे गरीबों को खाना मिलेगा जिन्हें अन्यथा दो जून की रोटी नहीं नसीब होती।

श्रीअरविन्द—और यह चलेगा कैसे ? खर्च कौन उठायेगा ?

नी—अपने साधनों के अनुसार व्यक्ति उसमें योगदान देगा। अगर यह बड़े पैमाने पर चलाया जाये तो खर्च बहुत कम होगा।

पु—तब तो खाने के लिये हर एक आ जायेगा और पैसा कोई भी न देगा।

श्रीअरविन्द—ठीक ऐसी बात है, और यह चीज आलस्य को बढ़ायेगी।

नी—योग्य डॉक्टरों के अधीन औषधालय भी होगा जिसका खर्च दो-तीन गांवों के लोग मिलकर चलायेंगे।

पु—अगर 'अ' ग्रामों में जाये तो उसे पता लगेगा कि गांव के लोगों से पैसा निकालना कितना कठिन है। जबतक सरकार सहायता न करे, जनता औषधालय नहीं चला सकती।

नी—और अगर सरकार सहायता न करे ?

पु—तो स्वयं सरकार को ही हथियाने का प्रयास करो। (हंसी)

नी—यह कहना आसान है करना बहुत कठिन। निर्माण-कर्म और स्वाधीनता के लिये लड़ाई दोनों काम साथ-साथ चलने चाहियें, जैसा कि गांधी आजकल करने का प्रयास कर रहे हैं। लेकिन मुझे आशंका है, उन्हें सफलता बहुत कम मिल रही है।

पु—मैं ऐसा उदाहरण जानता हूं जहां लोग ग्रामीणों की सहायता करना चाहते थे और उनके उधार चुका देना चाहते थे। परंतु देखा गया कि ग्रामीण शहरवालों से बढ़कर चालाक और धूर्त हैं।

श्रीअरविन्द—'अ' अपने मन में रहता है, अब उसका व्यावहारिक सत्य के साथ संपर्क नहीं है।

स—(नीरद को 'अ' की कविताओं का बंगला से अंग्रेजी अनुवाद करते देखकर) : वह अंग्रेजी में ही क्यों नहीं लिखता, इससे अनुवाद करने की तुम्हारी मेहनत बच जायेगी।

नी—अब मैं उससे कहूंगा।

श्रीअरविन्द—अब ! (हंसी) मेरा ख्याल था कि उसके सभी प्रश्न पूरे हो गये। अब उसे लिखने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

नी—वह कोई और विषय शुरू कर सकता है। इस पत्र में आखिरी विषय है 'प्रचार'। पुस्तकों,

निबंधों इत्यादि के द्वारा श्रीअरविन्द के विचारों का प्रचार करना ताकि देश में आध्यात्मिक आधार बन जाये।

स—क्या वे पुस्तकें समझ लेंगे ?

श्रीअरविन्द—और वे समझ भी लें तो क्या वे उनके अनुसार चल सकेंगे ?

नी—उसने 'द' से कहा है कि अब भी उसके अंदर एक बड़ी कमजोरी है—वह देश के लिये कुछ करना चाहता है।

श्रीअरविन्द—(मुस्कुराते हुए) : बहुत बड़ी कमजोरी। अगर वह उस रास्ते पर जायेगा तो वर्तमान परिस्थिति में उसका भी वही परिणाम होगा जो 'ब' का हुआ, यानी असफलता।

स—'ब' और 'अ' दोनों का अलग-अलग व्यक्तित्व है।

श्रीअरविन्द—फिर भी उसका एक ही परिणाम होगा। 'ब' संसार में क्रांति करने चला था।

नी—लेकिन उसका अंत हुआ अपनी ही क्रांति में (हंसी) 'अ' इन सब विचारों को अपने अप्रकाशित उपन्यास में दे रहा है।

श्रीअरविन्द—हां, वह उसे प्रकाशित करना चाहता था, परंतु माताजी इस बात पर अड़ी रहीं कि अगर वह राजनीति, ग्रामोद्धार आदि के बारे में लिखना चाहे तो अपने संतोष के लिये लिख सकता है पर प्रकाशन के लिये नहीं।

२९ फरवरी १९४०

नी—बर्मा-विद्रोह और चिट्टगांव के सशक्त छापे के बारे में बात करते हुए दत्त इस बात पर आया कि इस तरह के विद्रोह के द्वारा भारत स्वाधीनता पा सकता है।

श्रीअरविन्द—भारत इसे कैसे करेगा ?

नी—'द' ने दत्त से पूछा कि अगर अंग्रेज सेना आक्रमण करती है तो सूर्य सेन क्या करता ? दत्त ने जवाब दिया, "अंग्रेज सेना है कहां ? यह तो कपोल कल्पना है। केवल एक ही सेना है और वह है भारतीय सेना, और वह सेना स्वयं अपने ही आदमियों पर गोली नहीं चलायेगी। अगर कुछ और स्थानों पर क्रांति सफल हो जाती तो सारे देश में परिवर्तन आ जाता।

श्रीअरविन्द—क्या इस तरह कुछ स्थानों में मची क्रांति सारे भारत को बदल सकती है ? और फिर अंग्रेजों की नौसेना और वायुसेना को क्या तुम भूल गये ! इंग्लैंड स्वयं अपनी सेना ला सकता है। रही बात भारतीय सेना की, तो उसका कोई छोटा-सा हिस्सा ही लड़ने से मना करेगा।

नी—दत्त का कहना है कि असहयोग आन्दोलन के समय गढ़वालियों ने अपने ही लोगों पर गोली चलाने से इंकार कर दिया था।

श्रीअरविन्द—हां, और गढ़वालियों के अलावा अन्य सेनाएं भी हैं जो मारने को तैयार होंगी।

पु—और फिर गढ़वालियों पर कोर्ट मार्शल किया गया।

नी—दत्त ने एक यह भी कहानी सुनायी कि एक समय विदेशी सरकारों को भी भारत के स्वाधीनता संग्राम में रस आने लगा। वास्तव में बंगाल आंदोलन के दिनों में अंग्रेज सरकार ने जर्मनी से आता हुआ हथियारों से भरा जहाज पकड़ा था।

श्रीअरविन्द—यह शायद १९०५ या १९०८ में रासबिहारी घोष के समय की बात है। उन दिनों क्रांति

की बात समझ में आती थी। लेकिन अब पहले महायुद्ध के बाद युद्ध के साधन इतने बढ़ गये हैं कि यह असंभव है।

नी—दत्त आपके दिव्य जीवन पर समीक्षा लिखनेवाला है।

श्रीअरविन्द—क्या वह दार्शनिक है ?

नी—मुझे नहीं लगता पर शिशिर मित्र ने उससे लिखने के लिये कहा है।

पु—वह एक कहानी से शुरू कर सकता है।

श्रीअरविन्द—और एक कहानी से खतम भी कर सकता है। (हंसी)

पु—सुना है कि 'खुलना वासी' पत्रिका में दत्त ने कुछ अच्छा लिखा है। (श्रीअरविन्द मुस्कुराते हैं।)

नी—उसने माताजी के बारे में जो लिखा है क्या वह सच है ? उसका कहना है कि आपकी साधना में दस वर्ष में जितनी प्रगति होती, माताजी के आने से उतनी एक वर्ष में हो गयी। क्या यह ठीक है ?

श्रीअरविन्द—शायद मैंने भी ऐसा कुछ कहा है, ठीक यही शब्द तो नहीं, लेकिन ऐसा ही कुछ कहा है।

—नीरदवरण

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार

(२१)

जो सृष्टि उतर रही है उसमें कभी-कभी एक छोटा-सा परमाणु भी बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता है, ऐसा लगता है कि वहां व्यक्तिगत सोच-विचार के लिये कोई स्थान नहीं है।

सच्चे व्यक्तित्व के लिये तो वहां स्थान है परंतु छोटे-से अहंकार के लिये नहीं।
१९ अगस्त १९३२

आज मुझे लगा कि देखने के दो तरीके हैं, एक तो वह जिसमें व्यक्ति ऊपर का प्रकाश देखता है और दूसरी है वह आंतरिक दृष्टि और चेतना जो भीतर की चीजों और क्रियाओं को देखती है। मैं सोचता हूं कि क्या इनमें से एक से दूसरे की ओर जाना अच्छा होगा या केवल एक को ही विकसित करना चाहिये ?

दोनों जरूरी हैं जबतक कि ऊपर का प्रकाश पूर्ण न हो जाये।
२० अगस्त १९३२

आज मैं अचंचल और शांत स्थिति में रहा, परंतु प्रयास का कोई सवाल ही न आया, मैंने बस चुपचाप प्रतीक्षा की।

प्रयास ऐसा जरूरी नहीं है यदि श्रद्धा, अभीप्सा और अचंचलता हों।
२२ अगस्त १९३२

कभी मुझे लगता है कि नीचे अव्यवस्था, गड़बड़ और विद्रोह में जाने का कोई लाभ नहीं। जहांतक हो सके आदमी को दिव्य चेतना में रहना चाहिये।

अगर व्यक्ति कर सके तो यह ज्यादा अच्छा है।
२४ अगस्त १९३२

अब मेरी स्थिति में तीव्रता का अभाव है। मैं आशा करता हूं कि यह ठीक हो जायेगा।

कभी-कभी एक शांत अंतराल अच्छा होता है—अगर इसमें कोई गड़बड़ और अव्यवस्था न हों।
२७ अगस्त १९३२

मैं बहुत चाहता हूं कि यहां से चला जाऊं। बहुधा मैं सोचता हूं कि यह मेरी साधना में एक अच्छा कदम होगा और प्रगति और अनुभूति की ओर ले जायेगा। बहुत बार मैं सोचता हूं कि क्या मैं यहां सचमुच कोई साधना कर रहा हूं या व्यर्थ का जीवन बिता रहा हूं। मैं साधना के बारे में जितना सोचता हूं उतना मुझे लगता है कि मैं जो चाहता हूं यह उससे बहुत भिन्न है, मानों यह मेरी साधना नहीं है। यद्यपि कभी-कभी मुझे जो अनुभूतियां प्राप्त होती हैं वे उनसे बहुत अधिक महान् हैं जो मैं बाहर पा सकता। जो चीज मुझे चले जाने से रोकती है वह यह विचार है कि यह अकर्मण्यता की क्रिया होगी।

वह तो होगी ही, मुझे लगता है कि यह मात्र अकर्मण्यता की क्रिया नहीं बल्कि पराजय की स्वीकृति भी होगी जो बिलकुल अनावश्यक है। चाहे जो भी कठिनाइयां या मार्ग में रोड़े आयें चलते रहो। जो यह करे उसका लक्ष्य तक पहुंचना अवश्यंभावी है।
२९ सितंबर १९३२

कल रात को और आज मैंने ऐसी ज्योतियों को देखा जो विभिन्न स्थानों से अंदर और बाहर जा रही थीं। मैं जानना चाहूंगा कि क्या ज्योति को देखना हमेशा अच्छा लक्षण है।

यह ज्योति की प्रकृति पर निर्भर है। सामान्यतः यह अच्छा लक्षण होता है।
२० अक्तूबर १९३२

यदि मैंने अपनी साधना में ज्यादा प्रयास किया होता और तब ये अनुभूतियां पायी होतीं जिन्हें मैं इतनी आसानी से पा रहा हूं, तो मेरे लिये उनका मूल्य अधिक होता। मैं जितना प्रयास करता हूं उससे कहीं अधिक भागवत कृपा और हस्तक्षेप पा लेता हूं।

लेकिन वह भागवत कृपा और हस्तक्षेप ही हैं जिनसे उच्चतम अनुभूतियां आती हैं।
२४ अक्तूबर १९३२

मैं जानना चाहता हूं कि सांसारिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में यथार्थ रूप से क्या फर्क है। मेरा ख्याल है कि सांसारिक जीवन में एक तरह का सुख है जो आध्यात्मिक जीवन में नहीं होता या किसी वजह से उसे दूर रखा जाता है, परंतु उसके बदले में हम आध्यात्मिक संपर्क पा लेते हैं। कभी-कभी मुझे लगता है कि सामान्य जीवन के साथ संपर्क कुछ ऐसा लाभ लाता है जो योग में सहायक होता है, लेकिन फिर कभी-कभी मुझे यह भी लगता है कि योग से जो कुछ प्राप्त होता है वह बाहरी संपर्क से नष्ट-भ्रष्ट हो जाता या बिगड़ जाता है।

बाहरी जीवन के लोग बिलकुल अलग चेतना में जीते हैं और अगर साधक अपनी साधना के बीच बाहर जाये तो या तो वह उस झमेले में वापस जा गिरता है या फिर वह उसमें इतना घुल-मिल जाता है कि या तो वह अपने रास्ते से छिटक जाता है या बहुत-सी मुश्किलों में जा गिरता है। या तो आंतरिक कार्य बाहर बिलकुल नहीं होता या जो काम यहां दो या तीन वर्षों में किया जायेगा वह काम वहां तीस साल में होगा।
११ नवम्बर १९३२

आज मैंने नीरवता का अनुभव किया और साथ ही यह भी कि हर चीज सामान्य रूप से अच्छी तरह चल रही थी, लेकिन मेरी तरफ से कोई भी घालमेल मुझे बड़े गड़बड़झाले और मुश्किल में डाल सकता था जिससे सब कुछ अस्तव्यस्त हो जाता। इसलिये मैंने शांति से रहने का प्रयास करते हुए चीजों को सुस्थिर होने दिया।

निरंतर शांति और गहरी नीरवता स्थिर साधना का आधार है। जब गड़बड़ आये तो उसे अस्वीकार करना और बहुत शांत रहना ही सबसे अच्छा तरीका है।
१३ नवम्बर १९३२

यह योग

श्रीअरविन्द—यह योग निश्चय ही कठिन है, किंतु क्या कोई भी योग सरल हो सकता है ? तुम एक ऐसी मुक्ति की बात करते हो जो विश्व से परे की पूर्ण 'परम सत्ता' में प्रवेश करके ही प्राप्त हो सकती है, किंतु इस निर्वाण के पथ पर चलनेवालों में से कितने व्यक्ति इस जीवन में या एक लम्बे, कठोर और कठिन प्रयत्न को किये बिना उसे प्राप्त करते हैं ? वहांतक पहुंचने के लिये कौन-सा रास्ता सूखी मरुभूमि से नहीं गुजरता ? वस्तुतः भक्ति का मार्ग भी, जो सबसे सरल माना जाता है, भक्तों के रुदन से भरा है, वे शिकायत करते हैं कि वे अपने प्रिय को बुलाते हैं किंतु वह उनकी पकड़ से छूट-छूट जाता है, मिलन-स्थल तैयार है पर तब भी कृष्ण नहीं आते, थोड़ी झांकी मिल भी जाये तो वे तिरोहित हो जाते हैं; और मिलने के बाद फिर लंबा समय विछोह का होता है। यह समझना गलती है कि योग

का कोई भी पथ आसान है, या भगवान् तक पहुंचने का कोई सीधा या छोटा मार्ग है अथवा "फ्रेंच की सरल शिक्षा" या "बिना आंसू बहाये फ्रेंच की शिक्षा" के समान "योग की सरल या बिना आंसू बहाये शिक्षा" जैसी कोई पुस्तक है। कुछ महान् आत्माओं को, जिनकी पूर्व जन्मों में तैयारी हो चुकी है या जो सामान्य आध्यात्मिक योग्यता से कुछ आगे जा चुकी हैं, जल्दी प्राप्ति हो सकती है, कुछ को शुरू में ही उदात्त अनुभव हो सकते हैं किंतु अधिकतर लोगों को तो कोई भी सिद्धि एक लंबे, कठिन और सतत प्रयत्न के बाद ही प्राप्त होती है। संघर्ष किये बिना व्यक्ति आध्यात्मिक विजय का सेहरा अपने सिर पर नहीं बांध सकता, न ही वह ऊपर चढ़े बिना शिखर पर पहुंच सकता है। बल्कि यही कहा जा सकता है, "मार्ग बड़ा कठिन है, ठीक तलवार की धार के समान।"

तुम्हें मार्ग नीरस लगता है, क्योंकि तुम अभी उसके किनारे तक भी नहीं पहुंचे हो। किंतु नीरसता के क्षण सभी मार्गों में आते हैं, विशेषतया शुरू-शुरू में। वस्तुतः अंदर की मनोवैज्ञानिक अवस्था तक पहुंचने के लिये एक लंबी तैयारी की आवश्यकता है, तभी व्यक्ति के सामने अनुभूतियों के द्वार खुलते हैं और वह खुले स्थानों में विचर सकता है—पर इसके बाद भी नये दरवाजे प्रकट हो सकते हैं, जो तबतक नहीं खुलते जबतक सब कुछ ही तैयार न हो जाये। यह समय रूखा-सूखा तो हो सकता है, पर यदि व्यक्ति में आत्म-निरीक्षण की और अपने ऊपर विजय प्राप्त करने की लगन हो, साथ ही यदि उसे अपने प्रयत्न और संघर्ष का प्रत्येक पग रोचक लगे या उसे विश्वास और आत्म-त्याग के उस रहस्य का पता हो जो मार्ग में पग-पग पर भगवान् के हस्तक्षेप को, बल्कि प्रत्येक कठिनाई में उनकी कृपा और पथप्रदर्शन को देखता है, तब बात और हो जाती है। योग का वर्णन ऐसे किया जाता है कि वह "आरंभ में जहर के समान कड़वा" होता है, इसका कारण है कठिनाई और संघर्ष, किंतु "अंत में अमृत के समान मीठा" हो जाता है। कारण, भगवत्-प्राप्ति का आनंद, मुक्ति की शांति अथवा भागवत आनंद। साधक और भक्त जो नीरसता के क्षणों की इस प्रकार बार-बार चर्चा करते हैं उससे पता चलता है कि यह कोई इसी योग की विशेषता नहीं है। पुरानी सभी पद्धतियों ने इसे स्वीकारा है और इसलिये गीता में भी कहा गया है कि योग का अभ्यास धीरता और स्थिरतापूर्वक करना चाहिये, एक ऐसे हृदय के साथ जो निराश होना अस्वीकार कर दे। यह नियम इस योग के मार्ग पर तो प्रयुक्त होता ही है, साथ ही गीता में कहे गये मार्ग और वेदांत में चर्चित "तलवार की धार के समान कठोर मार्ग" एवं अन्य सभी मार्गों पर भी प्रयुक्त होता है। और यह स्वाभाविक ही है कि जितना बड़ा आनंद तुम्हें प्राप्त होगा उतनी बड़ी कठिनाई भी आरंभ में तुम्हारे सामने आयेगी, और मार्ग की नीरसता भी उतनी ही अधिक होगी।

निश्चय ही अतिमानसिक अभिव्यक्ति केवल शांति, पवित्रता, शक्ति, सामर्थ्य एवं ज्ञान ही नहीं लाती; वस्तुतः, ये सब अंतिम प्राप्ति के लिये आवश्यक भूमि तैयार करते हैं, बल्कि ये उसके अंग हैं, किंतु प्रेम, सौंदर्य और आनंद इस प्राप्ति के सार तत्त्व हैं। यद्यपि यह सत्य है कि सर्वोच्च आनंद सर्वोच्च प्राप्ति के साथ ही आता है पर ऐसा कोई कारण नहीं है कि मार्ग में प्रेम, आनंद और सौंदर्य की अनुभूति न-हो। कई लोगों को आरंभिक अवस्था में ही किसी भी और अनुभूति से पहले इनका अनुभव हुआ है। किंतु इसका रहस्य व्यक्ति अपने हृदय में पाता है, मन में नहीं, उस हृदय में जो अपने आंतरिक द्वार खोल देता है और तब उसमें से आत्मा की ज्योति विश्वास और आत्मदान के प्रकाश में बाहर की ओर झांकती है। इस आंतरिक अग्नि के सामने मन के वाद-विवाद और उसकी कठिनाइयां निर्जीव हो जाती हैं और मार्ग चाहे जितना लंबा या कठिन क्यों न हो, वह प्रकाश से जगमगा उठता है; वह प्रेम और आनंद की ही ओर नहीं जाता, बल्कि उनमें से हो कर गुजरता है।

जो भी हो, शुरू में ऐसा न भी हो, व्यक्ति धीरतापूर्वक प्रयत्न करते रहने से वहां पहुंच सकता है—अतिमानसिक पथ पर चलने के लिये आंतरात्मिक परिवर्तन एक अनिवार्य प्रारंभिक अवस्था है। और इसी परिवर्तन के मूल में आंतरिक प्रेम, आनंद और भक्ति प्रस्फुटित होते हैं। किन्हीं लोगों में प्रारंभ में मन का द्वार भी खुल सकता है जिसके फलस्वरूप उन्हें शांति, प्रकाश और प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं, किंतु ऊपर का यह उद्‌घाटन अपूर्ण होता है, इसके बाद अंतर में हृदय का खुलना आवश्यक है। यह सोचना कि क्योंकि तुम्हारे मन और प्राण के संघर्षों ने तुम्हारे प्रारंभिक मार्ग को नीरस बना दिया है, इसलिये योग नीरस और निरानंद है, एक भ्रम है, भारी गलती है। यदि तुम इसमें धैर्यपूर्वक लगे रहोगे तो मधुरता के छिपे हुए स्रोत कभी-न-कभी अवश्य फूट पड़ेंगे चाहे अभी वे संदेह और असंतुष्ट कामनादि-रूपी राक्षसों से घिरे हुए भी हों। यदि तुम्हारी प्रकृति तुम्हें शिकायत करने को विवश ही करे, तो ऐसा करो पर प्रयत्न मत छोड़ो।

५ अप्रैल, १९३५

श्रीअरविन्द—तुम्हारी यह अनुभूति बहिर्गमन की थी अर्थात् शरीर से बाहर निकलने की। चेतना ऊपर की ओर उठी थी और कुछ समय तक शरीर से ऊपर ठहरी रही। ऐसी अवस्थाओं में प्रायः ही व्यक्ति अपने-आपको एक अंडे की शकल में देखता है अथवा अनुभव करता है, किंतु सदा ऐसा नहीं होता। कारण, बहुत-से लोग अपनी व्यक्तिगत चेतना में अपने शरीर से बाहर जा सकते हैं, और उस अवस्था में वे एक सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म विचार, सूक्ष्म संवेदन आदि के प्रति सचेतन होते हैं, बल्कि प्राणिक और भौतिक जगत् में भी विचर सकते हैं, ऐसा वे तबतक करते हैं जबतक वे अपने शरीर में लौट नहीं आते। किंतु जब व्यक्ति ऐसा करना शुरू करता है, तो प्राणिक शरीर, बल्कि चेतना भी आरंभ में थोड़ी अस्पष्ट-सी होती है जिसके परिणामस्वरूप आरंभ में सब कुछ बड़ा धुंधला और अव्यवस्थित प्रतीत होता है। सांप कुंडलिनी-शक्ति होगी जो मूलाधार की अपनी सिमटी सुप्तावस्था को छोड़कर एक लंबी-सीधी स्थिति में आ गयी है, इसी अवस्था में वह मूर्त चेतना को ऊपर की चेतना के साथ जोड़ती है।

शरीर के बाहर जाने की इस शक्ति को जब योगी अपने अंदर विकसित कर लेता है तो वह इसे कई उद्देश्यों के लिये प्रयुक्त कर सकता है।

२ जून, १९३५

समर्पण के विषय में, बात करना तो सरल है पर उसकी सारी जटिलताओं के साथ उसके विषय में सोचना उतना सरल नहीं है, बिलकुल भी नहीं। किंतु वास्तविक आत्मसमर्पण का 'क, ख, ग' भी साधित करना! ओह, कितना कठिन है यह, मां?

मुझे पता है मुझमें बहुत गलतियां हैं, किंतु कहीं कोई आमूल गलती भी है, वह क्या है मां?

माताजी—ऐसा विशेष तुम्हारे साथ ही नहीं है। यह वही कठिनाई है जो सभी मनुष्यों के सामने आती है: भौतिक मन का अहंकार और उसकी अंधता।

हमारी सहायता और आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ हैं।

८ जुलाई १९३

एकाकारौ

भगवान् मानवश्च परमात्मा जीवात्मा च, अभिन्नौ सखायौ तौ। भगवान् भक्तस्य भक्तिशृङ्खलया सुबद्धः इत्येतत् तथ्यं श्रुत्या अपि स्वीकृतम्, तस्मात् तु कथ्यते यत् सः अन्तर्यामी निजहृदये तं देहाभिमानिनं मानवं सर्वदैव धारयति।

यत् किमपि युगं स्यात्, भक्तभगवतोः प्रगाढप्रेमदर्शनं सुलभ्यम् एव। भगवतः श्रीकृष्णस्य युगमेव लक्ष्यतां, सः यस्य स्वजनः अभवत् चिरकालं तदीयः एव आस्त। आत्मजनैः सह अभिन्नता एव तस्य स्वभावः।

भीष्मपितामहस्य शरशय्याग्रहणकालेन एषा कथा आरभ्यते। कौरवपक्षेण कथमपि निजशोकः संयतः यतो हि महाप्रलयङ्करः युद्धकालः एषः। सङ्ग्रामभूमौ पतिते एव पितामहे स्वयं कर्णः अग्रभागमागतः। तस्य सम्मत्या अचिरमेव दुर्योधनः आचार्य-द्रोणं कौरवपक्षस्य महासेनापति-पदे प्रतिष्ठापितवान्। तथा कृते कौरवसेनायां पुनरेकदा महायुद्धावेशः सञ्चारितः।

सेनापतिपदं प्राप्य एव द्रोणाचार्येण प्रमाणितं यत् समरभूमौ तं सेनापतिं कृत्वा दुर्योधनेन समीचीनम् आचरितम्। सत्यमेव आचार्यः युद्धकौशले भीष्मपितामहसदृशः विशारदः बली च आसीत्। प्रथमे दिने एव आचार्यः दुर्योधनम् अब्रवीत्—"अद्य समरभूमौ यदिच्छसि तद् वरय।"

पर्याप्तकालं सुविचिन्त्य दुर्योधनेन वरः याचितः—"युधिष्ठिरं बन्दिनम् इच्छामि आचार्यप्रवर !"

दुर्योधनः एतत् कथयिष्यति इति द्रोणाचार्येण नैव चिन्तितमासीत्। पूर्वं चकितः अभूत् आचार्यः परं मनसि दुर्योधनस्य बुद्धिचातुर्यं प्राशंसत। सः अचिन्तयत्—"युधिष्ठिरस्तु अजातशत्रुः। यदि अस्माकं सेनायाः कोऽपि परमवीरः युद्धे कथमपि तं हन्यात् तर्हि अनर्थः भवेत्। तदानीम् अर्जुनस्तु क्रोधज्वाला भूत्वा दिव्यास्त्राणां प्रयोगे सर्वाः मान-मर्यादाः विस्मरिष्यति। किं नु अर्जुनः, नकुलसहदेवयोः एव कोऽपि एकः क्रोधान्वितः सम्पूर्णकौरवसेनां विनाशयेत्। भीमसेनस्तु प्रलयं जनयिष्यति। अतः युधिष्ठिरः जीवितः एव बन्दीकर्तव्यः। तस्य वधः तु अस्माकं समस्तकुलविनाशाय आमन्त्रणं भवेत्। युद्धे बन्दीकृत्य पुनरपि द्यूतक्रीडायां पराजितस्य तस्य भ्रातृभिः सह वनप्रेषणं सम्भवम्। अस्माकमर्थे विजयप्राप्तेः एषः एव सरलतमः मार्गः।"

आचार्यं तूष्णीं दृष्ट्वा दुर्योधनः पुनरपि अवादीत्—"आचार्यश्रेष्ठ ! मम वरयाचनं भवन्तं तथा गभीर-चिन्तने पातयिष्यति इति ज्ञाते सति मया न कदापि मुखमुद्घाटितं स्यात्..."

आचार्यः तत्क्षणम् अगदत्—"सुयोधन ! सत्यं वदसि त्वम्। उत्साहाधिक्येन वरयाचनाय उक्तं मया किन्तु अधुना निजसामर्थ्यं वीक्ष्य सावधानः अभवम्। तथापि मा भैषीः वत्स ! बन्दिनं युधिष्ठिरं द्रक्ष्यसि त्वम्। अस्य अर्थे एका युक्तिः अन्विष्टा मया। तव साहाय्यमिच्छामि अधुना। युधिष्ठिरेण सह छायावत् तिष्ठति अर्जुनः यं पराजेतुं शक्तिः न वर्तते देवासुरेष्वपि। यदि त्वं सेनया सह कथमपि युधिष्ठिरम् अर्जुनात् पृथक्कुर्याः तर्हि निज-अभीष्टं सिद्धम् एव मन्यस्व। रक्षाकवचे गते तस्य धरणम् अतिसुकरम्।"

दुर्योधनेन कौरवपक्षे घोषितं यत् द्रोणाचार्यः युधिष्ठिरं बन्दिनं कर्तुं प्रतिज्ञामकरोत्। वायुना सह पाण्डवशिविरेऽपि एषः समाचारः प्रसृतः। श्रुत्वैव युधिष्ठिरः अर्जुनमकथयत्—"भ्रातः ! युद्धकाले त्वं सततं मया सह एव तिष्ठ।"

द्रोणाचार्यस्य सेनापतित्वे प्रथमदिनस्य सङ्ग्रामः महाभयङ्करः आसीत्। युद्धभूमिः महाश्मशानभूमिः दृश्यते स्म। सायङ्कालः उपागच्छति स्म। आचार्यः निजलक्ष्यं प्रति अर्थात् युधिष्ठिरं प्रति असरत्। युधिष्ठिरस्य समीपस्थान् सर्वान् योधान् हत्वा वा पराजित्य वा द्रोणाचार्यः सर्वथा युधिष्ठिरस्य सम्मुखमागतः। अत्रान्तरे विकटयुद्धे व्यापृतः अर्जुनः किञ्चित् दूरमपासरत्। एतत् वीक्ष्य सम्पूर्णकौरवसैन्ये हर्षोल्लासः उच्छलितः—"आचार्यप्रवरः अधुना युधिष्ठिरं बन्दिनं कृत्वा अस्माकं महाराजाधिराजदुर्योधनस्य सम्मुखे उपस्थापयिष्यति। अहो ! युद्धे विजयिनः भविष्यामः वयम्।"

युधिष्ठिरस्य बन्धनाय द्रोणाचार्येण चापे नागपाशे अध्यारोपिते एव सहसा श्रीकृष्णः हयरश्मीन् संयम्य रथं द्रोणाचार्यस्य दिशि परावर्त्य अर्जुनमवदत्—"वत्स ! शीघ्रातिशीघ्रम् आचार्यस्य प्रहारं निष्फलीकुरु।"

तत्क्षणम् आचार्यस्य नागपाशः अर्जुनेन खण्डशः कृतः। आचार्यः अपश्यत् यत् एषः तु सव्यसाचिनः अर्जुनस्य शरः। अनायासं सः उच्चैः अवदत्—"हन्त ! अर्जुनः आगतः।" तस्य घोषणां निशम्य कौरवसेना आतङ्किता। पाण्डवसेनायामपि केनापि उद्घोषितम्—"अहो, अर्जुनः प्राप्तः।" पाण्डवसैन्यं हर्षोल्लसितम्। पलायमानाः पाण्डवसैनिकाः प्रत्यागत्य द्विगुणोत्साहेन अयुध्यन्।

सत्यमेव अर्जुनः सम्प्राप्तः। आगत्यैव तेन यः नरसंहारः कृतः तेन सम्पूर्णं युद्धक्षेत्रं शवैः आच्छादितम्। सम्पूर्णकौरवसैन्ये त्राहि त्राहि अभवत्। लक्ष्यम् आसन्नोऽपि द्रोणाचार्यः बहुदूरं प्रक्षिप्तः !! सूर्यास्ते युद्धविरामः कौरवान् अरक्षत्।

रात्र्याः प्रथमप्रहरे अर्जुनः निजपरमं बन्धु-गुरुं श्रीकृष्णम् उपागत्य सादरं प्राणमत्। तस्य करकमलं हस्तयोः गृहीत्वा अभणत् च—"गोविन्द ! पृथिव्याः परमशूरवीरः योद्धा आचार्यः द्रोणः, अजेयप्रायः सः। एवमपि सङ्ग्रामे जयपराजयौ अनिश्चितौ। ज्ञातुमिच्छामि यत् यदि केनापि अमोघास्त्रेण अहं परलोकं गच्छेयं तर्हि त्वं किं करिष्यसि, सखे ?"

गोविन्दः अर्जुनस्य हस्तौ निजवक्षसि निपीड्य अगदत्—"हे धनञ्जय ! किमर्थं तथा चिन्तयसि त्वम् ? मयि सति यः त्वयि साङ्घातिकं प्रहारं कुर्यात् तादृशः वीरः पृथिव्यां न भूतो न वा भवेत्। वत्स ! न वर्तते एतादृशम् अस्त्रं यत् मम इदं वचनम् अन्यथा कुर्यात्। स्वयं शूलपाणिः भगवान् प्रलयङ्करेण पिनाकेन सह आगच्छेत् तदापि मे प्राण-सखं हन्तुं न शक्ष्यति। वत्स ! स्यादेषा पृथिवी न वा किन्तु मयि सति तव हननाय सर्वेषां सर्वे प्रयासाः निष्फलाः भविष्यन्ति।"

अर्जुनः रोमाञ्चितः। वाणी तस्य निरुद्धा। तदापि बहुप्रयासेन अवरुद्धकण्ठेन पुनरपि अगदत् सः—"जानामि प्रभो ! किन्तु कदाचित् अनपेक्षितं घटते एव। ज्ञातुमिच्छामि यत् किं करिष्यसि त्वं मे मृत्योः परम्, हे सखे ?"

भगवान् श्रीकृष्णः कम्पितः, हृदयं तस्य मानववत् अस्पन्दत, नेत्रे दयार्द्रे। आर्तस्वरेण क्रन्दनमिव अकरोत् सः—"वत्स ! एतद् असम्भवम् अपि यदि कदापि सम्भवं स्यात् तर्हि भंक्ष्यामि अहं सृष्टेः सर्वाः मर्यादाः। चक्रम् उत्थापयिष्यामि तदा अहम्। कस्यापि वरदानस्य मर्यादां विस्मृत्य सम्पूर्णकौरवपक्षं निमिषमात्रेण नष्टभ्रष्टं करिष्यामि। आगच्छेयुः सर्वे देवाः दानवाश्च कौरवाणां रक्षार्थम्, मम सुदर्शनचक्रं तान् सर्वान् अपि संहरिष्यति। सर्वान् च हत्वा युधिष्ठिरस्य राजतिलकं करिष्ये . . ."

निस्पन्दः, निर्वाक् अर्जुनः प्रस्तरवदतिष्ठत्। श्रीकृष्णः समानावेगेन अवदत्—"प्रिय ! एतत् सर्वं कृत्वा निजसखस्य शरीरेण सह अहमपि चितारोहणं करिष्यामि। हे अर्जुन ! 'त्वां विना न स्थास्यामि पृथिव्याम्' एषा मे प्रतिज्ञा। त्वत्तः पूर्वं धरात्यागं करिष्येऽहम्। यत्र नास्ति अर्जुनः तत्र न कदापि स्थास्यति कृष्णः।"

अर्जुनः श्रीकृष्णस्य चरणद्वयं हृदये निधाय अश्रुभिः प्राक्षालयत्। तस्य पद्मलोचनस्य हृदयं तु पूर्वतः एव

करुणार्द्रम्। उभाभ्यां समालिङ्गिते शरीरे परस्परम् अश्रुभिः अभ्यषिञ्चताम्। इदं पार्थिवं दृश्यं वीक्ष्य धरा-आकाशौ रोमाञ्चितौ। धरित्र्याः मूकवाणी ऊर्ध्वं गच्छति स्म—"ईश्वरस्य महिमदर्शनं तु अत्र करणीयम्।" ततश्च आकाशात् देवानाम् आशीर्वचनवृष्टिः समभवत्—"सत्यभक्त्याः अनुपमदृश्यं केवलमत्र पृथिव्यामेव दृष्टिगोचरः।"

भक्तभगवतोः एतेन परमसम्मेलनेन धराकाशौ अपि चिरम् एकाकारौ।

एकाकार

भगवान् और मानव या यूं कहें कि परमात्मा और जीव सचमुच अभिन्न सखा हैं—आदिकाल से इस प्रिय बंधन में प्रभु ने अपने-आपको बांध रखा है। श्रुति भी इसकी साक्षी है। श्रुति कहती है कि वह अंतर्यामी अपने अंक में इस देहाभिमानी को सदैव लिये रहता है।

हम जिस किसी युग में झांक कर देख लें, भक्त और भगवान् के प्रेम के अटूट बंधन की झांकियां अवश्य पायेंगे। श्रीकृष्ण भी तो सदैव उन्हीं के रहे जो उन्हें अपना स्वीकार लें। और एक बार वे जिसके हो गये उसके सर्वथा हो रहे। उनका स्वभाव ही है, अपने-आपको अपनों से अभिन्न रखना।

इस कहानी का आरंभ उस समय हुआ जब भीष्म पितामह ने शर-शय्या ग्रहण कर ली। यह महाप्रलयंकर युद्ध का समय था, कौरव-पक्ष ने शीघ्र ही अपने शोक को संयम में बांधा, संग्राम-भूमि पर पितामह के गिरते ही कर्ण स्वयं कौरव सेना के अग्रभाग में आ गया। और कर्ण की सम्मति से दुर्योधन ने आचार्य द्रोण को अपने पक्ष के महासेनापति के पद पर तुरंत प्रतिष्ठित कर दिया। कौरव सेना में फिर से युद्ध का जोश उमड़ आया।

इधर जल्दी ही द्रोणाचार्य ने समर-भूमि में यह सिद्ध कर दिखलाया कि उन्हें महासेनापति बनाकर दुर्योधन ने कोई भूल नहीं की। सचमुच युद्ध-कौशल में वे भीष्म पितामह के जितना ज्ञान और बल रखते थे। और पहले ही दिन अर्थात् महासेनापति के पद पर आसीन होते ही उन्होंने दुर्योधन से कहा—"आज तुम युद्ध में जो चाहो वरदान मुझसे मांग लो।"

दुर्योधन ने बहुत सोच-विचार कर वर मांग ही लिया—"आप युधिष्ठिर को जीवित पकड़ कर मेरे सामने ला दें।"

दुर्योधन यह मांग लेगा यह तो द्रोणाचार्य ने सोचा भी न था। वे उसकी मांग पर चकित रह गये, फिर मन ही मन दुर्योधन की बुद्धि की दाद देने लगे। उन्होंने सोचा—"युधिष्ठिर वैसे तो सचमुच अजात शत्रु हैं, लेकिन अगर उन्हें युद्ध में हमारी सेना का कोई परम वीर किसी भी प्रकार मारने में सफल हो जाये तो अनर्थ हो जायेगा। अर्जुन तो क्रोध की लपटें बनकर दिव्यास्त्रों के प्रयोग में मान-मर्यादा सब भूल बैठेंगे। अर्जुन तो दूर, नकुल, सहदेव में से भी अगर कोई क्रोधावेश में आ जाये तो वह अकेला ही सारी कौरव-सेना का संहार करने की शक्ति रखता है। और भीमसेन तो प्रलय मचा देंगे। युधिष्ठिर को जीवित ही बन्दी बनाना होगा। उनको मारना तो अपने समस्त कुल के विनाश को आमन्त्रण देना है। युद्ध में वे बन्दी बना लिये जायें तो फिर उन्हें द्यूत-क्रीड़ा में हराया जा सकता है, उन्हें सभी भाइयों के साथ वन में भेजा जा सकता है। यही हमारे लिये विजय पाने का सरलतम तरीका होगा।"

द्रोणाचार्य को चुप्पी साधे देख दुर्योधन कह बैठा—"आचार्यप्रवर! अगर मुझे यह मालूम होता कि मेरा वर मांगना आपको इतने गंभीर चिंतन में डाल देगा तो कदापि अपना मुंह न खोलता . . .।"

दुर्योधन को अपनी बात पूरी न करने दी आचार्य ने। बोले—"तुम सच कहते हो सुयोधन! बड़े

उत्साह में आकर मैंने वरदान देने को कहा था, अब अपनी शक्ति आंक कर सावधान हो गया हूं। लेकिन युधिष्ठिर को तुम्हारे सामने जीवित पकड़ कर लाने के लिये मैंने एक उपाय ढूंढ़ निकाला है। युधिष्ठिर के साथ परछाईं की तरह अर्जुन रहा करता है, वह अर्जुन जिसे युद्ध में देवता और असुर भी पराजित करने की क्षमता नहीं रखते। अगर तुम लोग अर्जुन को कुछ समय के लिये युधिष्ठिर से अलग कर सको, उसका वह रक्षा-कवच दूर कर सको तो बस समझो कि तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध हो गया। तब बन्दी युधिष्ठिर को तुम्हारे सामने प्रस्तुत करना मेरे बायें हाथ का खेल होगा।"

दुर्योधन ने कौरव-पक्ष में घोषणा करवा दी कि द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को बन्दी बनाने की प्रतिज्ञा की है। पाण्डव-शिविर में भी यह समाचार हवा के साथ-साथ पहुंच गया। इसे सुनते ही युधिष्ठिर ने अर्जुन से कहा—"भाई, तुम युद्ध में मेरे समीप ही रहना।"

द्रोणाचार्य के महासेनापतित्व में होनेवाला पहले दिन का संग्राम अत्यंत भयंकर रहा। पाण्डव और कौरव दोनों पक्षों ने महान् पराक्रम दर्शाया और कौरव महारथी द्रोणाचार्य की रक्षा में जी-जान से जुटे हुए थे। परिणामस्वरूप युद्धभूमि महाश्मशान-भूमि बनती जा रही थी।

दोपहर ढल चुकी थी। अभी सूरज ढलने में कुछ देर थी और द्रोणाचार्य अपने लक्ष्य अर्थात् युधिष्ठिर की ओर बढ़ रहे थे। युधिष्ठिर के आस-पास के सभी रक्षकों को पराजित कर वे ठीक उनके सम्मुख आ पहुंचे। उधर अर्जुन विकट युद्ध में उलझ कर कुछ दूर हो गये थे। यह देखकर कौरवों की सेना में हर्षनाद उमड़ पड़ा। उनके हृदय में यह खुशी समा न रही थी कि "अब आचार्य युधिष्ठिर को बन्दी बनाकर हमारे महाराजाधिराज दुर्योधन को सौंप देंगे और हम युद्ध में विजयी हो जायेंगे।"

द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को बांधने के लिये धनुष पर नागपाश चढ़ाया नहीं कि दूसरी ओर से श्रीकृष्ण ने सहसा रथ मोड़ कर अर्जुन से कहा—"वत्स, जल्दी करो, आचार्य का वार काट दो।"

देखते न देखते द्रोणाचार्य का नागपाश दो टुकड़े हो गया। उन्होंने देखा, यह तो सव्यसाची अर्जुन का बाण है। वे अनायास पुकार उठे—"अरे अर्जुन आ गया।" उनकी घोषणा सुन कौरव सेना में आतंक छा गया। दूसरी ओर पांडव सेना में भी किसी ने कहा, "अरे, अर्जुन आ गये।" और यह सुनते ही पांडव सेना में उत्साह की लहरें दौड़ गयीं। भागते हुए सैनिक लौट पड़े और अस्त-व्यस्त पाण्डव सेना जमकर लड़ने लगी।

सचमुच अर्जुन आ गये। सारथि श्रीकृष्ण ने नन्दिघोष रथ सीधा युधिष्ठिर की दिशा में हांक दिया था और देखते-न-देखते अर्जुन ने वह संहार प्रारम्भ किया कि पृथ्वी शत्रुओं के शव से पट गयी। कौरव सेना में त्राहि-त्राहि मच गयी। आचार्य द्रोण लक्ष्य के समीप पहुंच कर भी बहुत दूर जा छिटके। सूर्यास्त ने युद्ध बन्द करवा कर कौरवों को सुरक्षा प्रदान की।

रात के प्रथम प्रहर में अर्जुन अपने सखा-गुरु श्रीकृष्ण के पास जा बैठे। उन्हें प्रणाम कर, उनके कर-कमलों को हाथ में लेकर पूछ बैठे—"गोविन्द ! द्रोणाचार्य पृथ्वी के किसी भी योद्धा से कम नहीं हैं। अजेयप्रायः हैं। वैसे भी युद्ध में जय-पराजय तो अनिश्चित रहती है। मैं जानना चाहता हूं कि कल को अगर मैं किसी अमोघ अस्त्र से परलोक सिधार जाऊं तो आप क्या करेंगे ?"

गोविन्द ने अर्जुन के दोनों हाथों को अपने सीने में भींच कर कहा—"धनञ्जय ! तुम भला ऐसा क्यों सोचते हो। मैं तुम्हारे साथ होऊं और तुम पर कोई सांघातिक वार करे, ऐसा शूर न सृष्टि ने उत्पन्न किया है न कर सकेगी। वत्स, ऐसा कोई अस्त्र नहीं है जो मेरे इस वचन को अन्यथा कर सके। स्वयं भगवान् प्रलयंकर भी पिनाक लेकर आ जायें फिर भी मेरे प्राण-सखा अर्जुन को मारा नहीं जा सकता। वत्स ! यह पृथ्वी रहे या टुकड़े-टुकड़े हो जाये, लेकिन मेरे रहते तुम्हें मारने का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकता।"

अर्जुन को रोमांच हो आया। शब्द गले में अटक गये। बहुत प्रयास के बाद रुंधे गले से बोले—"जानता हूं प्रभो ! लेकिन फिर भी कभी-कभी अनहोनी भी घट जाती है। ऐसा हो जाये तो तुम क्या करोगे मेरी मृत्यु के पश्चात् सखा ?"

भगवान् श्रीकृष्ण कांप उठे, उनका हृदय मानव की तरह धड़कने लगा, आंखें पसीज उठीं और आर्त स्वर में क्रन्दन-सा कर बैठे—"वत्स ! यदि यह असंभव कभी संभव हो जाये तो सृष्टि की सारी मर्यादाओं को मैं भंग कर दूंगा। तब मैं चक्र उठाऊंगा और किसी के भी वरदान एवं महास्त्र की मर्यादा की जरा भी चिंता किये बिना संपूर्ण कौरव-पक्ष को पलक झपकते नष्ट कर दूंगा। चाहे उनकी रक्षा करने सभी देवता या दानव उतर आयें, मेरा सुदर्शन चक्र उन सबको समाप्त कर देगा। सबका काम तमाम कर युधिष्ठिर को सिंहासन पर बिठा कर उनका तिलक कर दूंगा . . ."

अर्जुन अवाक्, पत्थर की भांति निस्पन्द खड़े रहे। श्रीकृष्ण उसी आवेग में बोलते रहे—"प्रिय, इतना सब करने के बाद अपने सखा के शरीर के साथ मैं स्वयं चितारोहण करूंगा। अर्जुन ! कृष्ण की प्रतिज्ञा है कि वह तुमसे रहित पृथ्वी पर नहीं रहेगा, तुमसे पहले धरा का त्याग कर देगा। जहां अर्जुन नहीं वहां कृष्ण कदापि नहीं।"

अर्जुन ने श्रीकृष्ण के दोनों चरणों को अपने अंक में लिया और उनसे लिपट कर अपने अश्रुओं से उन्हें धोने लगे। उन पद्मलोचन का हृदय तो पहले ही पसीज उठा था। दोनों के शरीर एक-दूसरे के आंसुओं से अभिषिक्त हो रहे थे। इस पार्थिव दृश्य को देखकर धरती-आकाश रोमांचित हो उठे। धरती से मूक वाणी ऊपर उठ रही थी, "भगवान् की महिमा हो तो ऐसी।" आकाश से देवताओं का असीस बरस रहा था, "सच्ची भक्ति की अनुपम झांकी देखनी हो तो यह रही।"

भक्त और भगवान् के परम मिलन से धरती और आकाश भी सदा के लिये एकाकार हो गये।

—वन्दना

तुम किसी को कोई अच्छी सलाह तबतक नहीं दे सकते जबतक स्वयं अपने-आपको न दे लो और उसके अनुसार आचरण न करो।

—श्रीमां

अपने-आपको नयी शक्ति के प्रति खोलो। उसे अपने अंदर रूपांतर का काम करने दो।

—श्रीमां

यदि तुमने भगवान् को चुना है तो इसका कारण है कि भगवान् ने तुम्हें चुन लिया है।

—श्रीमां

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये।

—श्रीमां

With Best Compliments From :

Sri Madhopur Vikas Parishad Trust
48 Dobson Road
HOWRAH - 711101

Sharad Seva Nidhi Trust
26 Amherst Street
CALCUTTA - 700009

Seth Chiranjilal Khaitan Trust
7 Keyatala Lane
CALCUTTA - 700009

Mamraj Jayatri Trust
6A Ironside Road
CALCUTTA - 700019

Dhanuka Charity Trust
Dhanseri House, 4A Woodburn Park
CALCUTTA - 700020

Eastern Enterprises Ltd.
CALCUTTA

With Best Compliments From :

Salarpuria Public Charity Trust
7, Chittaranjan Avenue
CALCUTTA - 700 072

M/s Patton Ltd.
3C, Camac Street
CALCUTTA - 700 016

Naurangrai Lohia Charitable Trust
14A Loudon Street
CALCUTTA - 700 017

Charu Enterprises
42B Shakespear Sarani, 13, Shalimar Apt.
CALCUTTA - 17

Kitply Industries Ltd.
White House, 'A' Block, 4th Floor, 119 Park Street
CALCUTTA - 700 016

Maikal Fibres Ltd.
CALCUTTA

With Best Compliments From :

Manav Seva Trust
CALCUTTA

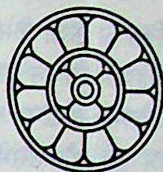
Saria Charitable Trust
(J. P. Saria)
D-9 Kirti Nagar
NEW DELHI - 110 015

Shri Gopal Kamal Kumar
196, Jamuna Lal Bajaj Street
CALCUTTA - 700 007

Adukia Industrial Concern
17, Ganesh Ch. Avenue
CALCUTTA - 700 013

Sri Keshar Deo Saraf & Sons (HUF)
35, Chittaranjan Avenue
CALCUTTA - 700 012

M/S. ODC Carrier (P) Ltd.
15, India Exchange Place
CALCUTTA - 700 001



प्रार्थना और ध्यान

२ जून १९१४

नीरव चिंतन में, मूक आराधना में, अपने-आपको इस समस्त अंधकारमय और पीड़ाजनक पदार्थ के साथ एक करते हुए, हे प्रभो, हे दिव्य परित्राता, मैं तेरा जयजयकार करती हूं; मैं परम उद्धारक के रूप में तेरे प्रेम को धन्यवाद देती हूं, मैं उसके अनगिनत वरदानों के लिये कृतज्ञता अर्पित करती हूं, मैं अपने-आपको पूरी तरह तुझे सौंपती हूं ताकि तू अपने पूर्ण बनाने के कार्य को पूरा कर ले। तब तेरे प्रेम के साथ अपने-आपको एकात्म करके, मैं तेरे अक्षय प्रेम के सिवा और कुछ भी नहीं हूं; मैं सभी वस्तुओं में प्रवेश करती हूं, प्रत्येक परमाणु के हृदय में निवास करते हुए मैं वहां उस अग्नि को उद्‌बुद्ध करती हूं जो शुद्ध करती और रूपांतरित करती है, यह ऐसी अग्नि है जो कभी नहीं बुझती, जो तेरे परमानंद की संदेशवाहक ज्वाला है, समस्त पूर्णताओं की सिद्धिदाता है।

तब यही प्रेम नीरवता के साथ ध्यानशील बन जाता है और हे अज्ञेय भव्यता, वह तेरी ओर मुड़कर आनंद में तेरी नयी अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा में है...

—श्रीमां

दैनन्दिनी

मार्च

१. साधना करते हुए तुम्हें वैश्व जीवनी शक्ति से ऊर्जा लेना और उस शक्ति से अपनी ऊर्जाओं की बार-बार कमी पूरी करना सीखना चाहिये। लेकिन सामान्यतः सबसे अच्छा उपाय है अपने-आपको माताजी की शक्ति के प्रति खोलना सीखना और इसके बारे में सचेतन होना कि वह शक्ति शरीर को सहारा दे रही है, चला रही और उसमें प्रवाहित हो रही है और काम के लिये मानसिक, प्राणिक या भौतिक आवश्यक ऊर्जा प्रदान कर रही है।
स्वभावतः एक उच्चतर ऊर्जा वर्तमान वैश्व ऊर्जाओं के ऊपर है और वही प्रकृति को रूपांतरित करेगी और मानसिक, प्राणिक और भौतिक ऊर्जाओं को लेकर उन्हें अपने सादृश्य में बदल लेगी।

२. भगवान् के लिये सच्चा प्रेम तो आत्मोत्सर्ग है, मांग से मुक्त, आत्म-निवेदन और समर्पण से भरा, वह कोई दावा नहीं करता, कोई शर्त नहीं लगाता, कोई सौदा नहीं करता, ईर्ष्या, घमण्ड या क्रोध की उग्रता में रस नहीं लेता क्योंकि ये चीजें उसकी रचना में नहीं हैं। बदले में दिव्य जननी भी अपने-आपको देती हैं, परंतु देती हैं मुक्त रूप से और यह देना अपने-आपको एक आंतरिक दान में चरितार्थ करता है—तुम्हारे मन में, तुम्हारे प्राण में, तुम्हारी भौतिक चेतना में उनकी उपस्थिति, उनकी शक्ति तुम्हें भागवत स्वभाव में फिर से गढ़ती है, तुम्हारी सत्ता की सभी गतिविधियों को लेकर उन्हें पूर्णता और परिपूर्ति की ओर चलाती है, उनका प्रेम तुम्हें घेरे रहता है और अपनी बांहों में लेकर भगवान् की ओर ले जाता है।

३. वास्तव में तुम अच्छे ढंग से, पूर्ण सच्चाई के साथ तबतक चुनाव नहीं करते, जबतक कि तुम्हें अपने चुनाव के परिणाम में नहीं, बल्कि यथार्थ में, चुनाव के सत्य में दिलचस्पी नहीं होती। अगर तुम परिणाम को दृष्टि में रखकर चुनाव करते हो तो वह तुम्हारे चुनाव को मिथ्या बना देता है।

४. सत्यनिष्ठ होने में एक अद्भुत आनंद है। सत्यनिष्ठता का प्रत्येक कार्य अपने-आपमें अपना प्रतिदान ले आता है : पवित्रता की, ऊपर की ओर उड़ान भरने की, उस मुक्ति की भावना को ले आता है जिसे मनुष्य तब पाता है जब वह मिथ्यात्व के एक छोटे-से कण को भी त्याग देता है। सत्यनिष्ठा ही रक्षोपाय है, संरक्षण है, यही पथ-प्रदर्शक है, और अंत में रूपांतरकारिणी शक्ति है।

५. अपनी सत्ता के सत्य में, तुम्हारे निजी गठन के अनुसार, तुम्हारी प्रगति की क्षमता लगभग असीम है।

६. सच्चे, सद्‌हृदय बनो तो तुम्हें सहायता प्राप्त होगी।

७. किसी भी आपातदृश्य और बाहरी वस्तु का कोई वास्तविक मूल्य नहीं है।
एकमात्र वस्तु जो मूल्यवान् है वह है दिव्य चेतना तथा परमात्मा के साथ एकत्व।

८. प्रत्येक व्यक्ति को उन क्रियाओं का पता लगाना होगा जो उसकी अभीप्सा को, उसकी चेतना को, वस्तुओं के संबंध में उसके गहरे ज्ञान को बढ़ाती हैं, तथा जो, उनके विपरीत, उसे यंत्रवत् बना देती हैं और उसे अधिक पूरे तौर पर पीछे खींच लाती और वस्तुओं के साथ उसका एक विशुद्ध भौतिक संबंध जोड़ देती हैं।
कोई एक साधारण नियम बनाना कठिन है।

९. श्रीअरविन्द यह कहते हैं कि कर्म का सच्चा मनोभाव तब आता है "जब कर्म सर्वदा माताजी के विचार के साथ जुड़ा होता है, उनकी पूजा के रूप में किया जाता है, इस प्रार्थना के साथ किया जाता है कि वह तुम्हारे द्वारा किया जाये।"

१०. स्वयं अपने-आपको अपना निजी अनुशासन देने में सफल हो जाओ, यदि तुम अपने ऊपर कोई अनुशासन (प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी अनुशासन, किसी दूसरे व्यक्ति का अनुसरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है) लादने की व्यवस्था कर लो, एक अनुशासन केवल इसलिये कि तुम प्रगति करना और सर्वोत्तम लाभ उठा लेना चाहते हो, . . . तुम उन लोगों से बहुत अधिक ऊंचे उठ जाओगे जो पाठशालाओं के सामान्य अनुशासनों का पालन करते हैं।

११. मनुष्य एक दिन पहले या एक क्षण पहले जो कुछ कर चुका है उससे थोड़ा-सा अधिक, उससे जरा अच्छा करने का उसे सदा प्रयत्न करना चाहिये। हां, जितना अधिक वह अपने प्रयास को बढ़ाता है, उतना ही अधिक उसे अपनी ग्रहण करने की क्षमता को, ग्रहण करने के सुअवसर को भी बढ़ाना चाहिये।

१२. . . . एक अतिमानसिक जगत् की रचना करने की आशा करने के लिये, सर्वप्रथम, आवश्यकता यह है कि अपनी चेतना को विस्तारित किया जाये, और सतत व्यक्तिगत प्रगति की जाये : ऐसा नहीं कि हठात् उड़ानें ली जायें, थोड़ी अभीप्सा हो, थोड़ा-सा प्रयास हो, और फिर निद्रा में डूबा जाये! बस, यही जीव की सतत भावना, जीव का सतत संकल्प, जीव का सतत प्रयास, जीव का सतत सर्वोपरि कार्य होना चाहिये।

१३. तुम्हारी सत्ता में पर्याप्त रूप में एक अभीप्सा और एक लगन हो ताकि सत्ता का प्रसारण, चेतना का प्रसारण संभव हो सके।

१४. प्रगति के लिये अभीप्सा भी अवश्य होनी चाहिये : जो कुछ हम हैं, जैसे हम हैं, जो कुछ हम करते हैं, जो कुछ हम जानते या समझते हैं कि हम जानते हैं उससे संतुष्ट नहीं होना चाहिये; बल्कि कुछ अधिक के लिये, किसी अधिक अच्छी वस्तु के लिये, एक महत्तर ज्योति, एक विशालतर चेतना, एक सत्यतर सत्य और एक अधिक विश्वव्यापक शुभ के लिये सतत अभीप्सा रखनी चाहिये। और इस सबके साथ-ही-साथ एक शुभेच्छा होनी चाहिये जो कभी कम नहीं होती।

१५. हमारी चेतना के अंदर कहीं पर कल्पना की या सृजन करने की एक शक्ति है और हम कोई चीज निर्मित करते हैं ताकि वह सुन्दर कल्पना संसिद्ध हो सके।

१६. व्यावहारिक दृष्टिकोण से मनुष्य को एक स्थिर और अचल-अटल उच्चता पर बने रहने में सक्षम होना चाहिये ताकि वह बहुत कुछ दुःखदायी परिणामों से स्पृष्ट हुए बिना उस स्थिति में बना रहे। . . . यदि हम चाहें कि वह स्थिति यथार्थ में सर्वांगपूर्ण हो तो हमें उसे प्रत्येक क्षण, किसी भी व्यक्ति और किसी भी वस्तु के सम्मुख, बनाये रखने में समर्थ होना चाहिये।

१७. भगवान् का शत्रु होना अचेतन होने के सिवा और कुछ नहीं है।

१८. श्रीअरविन्द ने प्रायः ही यह बात कही है; जो वस्तु एक विशेष काल में विश्व के अंदर सुंदर, शुभ, यहांतक कि पूर्ण और अद्भुत तथा दिव्य प्रतीत होती थी वह अब वैसी नहीं प्रतीत हो सकती। और, जो कुछ हमें इस समय सुंदर, अद्भुत, दिव्य और पूर्ण प्रतीत होता है, वह कुछ समय बाद धुंधला मालूम होगा। और इसी भांति, जो देवता एक विशेष काल में सर्वशक्तिमान थे वे उन देवताओं की अपेक्षा निम्नतर स्तर के हो जायेंगे जो कि भविष्य में अभिव्यक्त होंगे।

देर के लिये अपने स्वभाव और स्वधर्म को न भूल जाये और आंखें मूंदकर या तो पश्चिम की नकल करने लगे अथवा उन चीजों को मिलाकर एक खतरनाक गोरखधंधा न खड़ा कर ले जो उसके पास घटिया-से-घटिया रूप में मौजूद हैं और जो भद्दे रूप उसके ऊपर बाहर से फेंके जा रहे हैं।

अतः विचार की समस्या यह है कि सम्यक् विचार और संगति के सम्यक् तरीके को ढूंढ़ निकाला जाये, आत्मा के प्राचीन और सनातन सत्य का फिर से उद्‌घोष हो जिससे कि यह मानसिक तथा भौतिक जीवन में फिर से फैले, इसे यह फिर से अपने आलिंगन में ले ले, इस पर अधिकार करे, इसमें घुलमिल जाये तथा इसे बदल डाले, मनोवैज्ञानिक आत्म-विकास और आत्मानुशासन के गंभीर प्राणवन्त तरीकों का विकास करे जिससे कि मानव का मानसिक और आत्मिक जीवन अपनी समृद्धि, शक्ति और जटिलता को बहुत विकसित कर आध्यात्मिक जीवन को अभिव्यक्त करे और उन साधनों और तरीकों को ढूंढ़े जिनके द्वारा उसका बाहरी जीवन, उसका समाज और संस्थाएं आत्मा के सत्य के अनुरूप उत्तरोत्तर अपने को ढालती चली जायें और सामाजिक एकता और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की पूर्णतम संगति की ओर विकसित हों।

यह है हमारा आदर्श और हमारी खोज। इसी एक प्रेरणा से उत्प्रेरित हो संसार में कितने ही आंदोलन आज चल रहे हैं, लेकिन विचार के प्रयास के लिये आज भी गुंजायश है जो आज समस्या को सर्वांगीण जटिलता के साथ अंगीकार करे और अपने अनुसंधान की उन्मुक्तता में किसी भी धर्म, सम्प्रदाय और किसी प्रचलित दर्शन-पद्धति के प्रति आसक्ति के द्वारा किसी भी प्रकार से नियंत्रित अथवा कुंठित न बने।

इस प्रयत्न के अंदर जीवनव्यापी सत्य तथा जगत् में इसकी अभिव्यक्ति के मौलिक नियमों का अनुसंधान छिपा हुआ है—यह काम है तत्त्वज्ञानसंबंधी दर्शन और धार्मिक विचार का, इसमें उस मनोवैज्ञानिक अनुशासन की रीति-नीति का तथा उस संगति का रहस्य छिपा हुआ है जिसके द्वारा मनुष्य अपने-आपको शुद्ध और पूर्ण बनाता है,—यह काम है मनोविज्ञान का, उस मनोविज्ञान का नहीं जो यूरोप में प्रचलित है, बल्कि उस गभीर व्यावहारिक मनोविज्ञान का जिसे भारत में योग कहते हैं और इसमें मनुष्य के सामाजिक और सामूहिक जीवन की समस्याओं का समाधान छिपा है।

आध्यात्मिक अनुभूति के ऊपर आधृत दर्शन और धार्मिक विचार ही ऐसे प्रयत्न का आधार और प्रारंभ होगा, क्योंकि वे ही बाहरी गतियों और रूपों के पीछे सत्य की ओर अकेले जाते हैं। इनकी महत्ता से भागने का सारा प्रयत्न अंत में बेकार ही सिद्ध होगा। बाहरी चीजों के मर्म में जाना, सोचना और नियमों को ढूंढ़ निकालना—इस कार्य को मनुष्य छोड़ नहीं सकता, क्योंकि उसकी जागृत चेतना का यह दुर्लंघ्य नियम है, मनुष्य अपने व्यापक निर्देशों को हमेशा धर्म का जामा पहनाता रहेगा यद्यपि यह धर्म मात्र जड़वादी रीति का अथवा यथार्थवाद ही क्यों न हो। दर्शन वस्तुओं के मौलिक सत्य का बौद्धिक अनुसंधान है; धर्म सत्य को मनुष्य की आत्मा में क्रियाशील करने का प्रयत्न है। वे एक दूसरे के लिये आवश्यक हैं। वह धर्म जो किसी दार्शनिक सत्य की अभिव्यक्ति नहीं अंधविश्वास और निष्प्रभता में गिर जाता है, वह दर्शन जो धार्मिक भावना से अपने-आपको अनुप्राणित नहीं रखता, एक निर्जीव प्रकाश बन जाता है, क्योंकि उसका उपयोग नहीं किया जा सकता। लेकिन इनमें से कोई भी अपना अंतिम मूल्य तबतक प्राप्त नहीं करता जबतक कि अध्यात्म सत्ता में उठा न लिया जाये और उसे जीवन में ढाला न जाये।

तब हम लोगों का आदर्श क्या होगा ? केवल बाहरी हितों के समन्वय के द्वारा ही नहीं बल्कि

आंतरिक एकत्व के द्वारा मानवजाति की एकता, पशु और आर्थिक जीवन से अथवा सिर्फ बौद्धिक और कलात्मक जीवन से प्रभापूर्ण आध्यात्मिक जीवन में उसका उन्नयन, शारीरिक ढांचे और मानसिक यंत्रत्व में आध्यात्मिक शक्ति का प्रवाह जिससे कि मनुष्य की मानवता सच्ची अतिमानवता में विकसित हो और जो हमारी वर्तमान स्थिति से उतनी ही ऊंची होगी जितनी ऊंची हमारी स्थिति उस पशु-जीवन से है जिससे विज्ञान कहता है कि हम विकसित हुए हैं। ये तीनों एक ही हैं, क्योंकि मनुष्य की एकता और मनुष्य का आत्मोन्नयन उसके अध्यात्म-निवास से ही संपन्न हो सकता है।

—श्रीअरविन्द

४ मई १९५५ की वार्ता

मधुर मां, "वैश्व प्राणिक शक्ति" को हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

तुम यह कई तरीकों से कर सकते हो।

पहले तो तुम्हें यह जानना चाहिये कि इसका अस्तित्व है और तुम इसके साथ नाता जोड़ सकते हो। फिर, तुम्हें इसके साथ संपर्क स्थापित करने की कोशिश करनी चाहिये, यह अनुभव करने की कोशिश करनी चाहिये कि यह हर जगह संचारित हो रही है, सब में से होकर, सभी व्यक्तियों और सभी परिस्थितियों में फैली हुई है; उदाहरण के लिये, यह अनुभव करना कि जब तुम कहीं बाहर देहात में पेड़-पौधों के साथ हो, तो भी इसे समस्त 'प्रकृति' में, पेड़-पौधों में, चीजों में संचारित होते देखो, और इसके साथ नाता जोड़ो, अपने-आपको उसके नजदीक अनुभव करो, और हर बार जब तुम उसके साथ संबंध स्थापित करना चाहो, तो तुम उस पिछले संस्कार को याद करो और उसके साथ संपर्क स्थापित करने की कोशिश करो।

कुछ लोग अनुभव करते हैं कि वे अमुक गतियों, अमुक संकेतों और अमुक क्रियाओं के द्वारा अधिक घनिष्ठ संपर्क बना पाते हैं। मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो चलते समय हाथों को इधर-उधर डुलाते थे... इससे उन्हें सचमुच ऐसा लगता था कि उनका उस शक्ति से नाता है—वे चलते हुए कुछ संकेत किया करते थे...। लेकिन बच्चे, जब वे पूरी तरह खेल में रम जाते हैं तो इसे स्वाभाविक रूप से करते हैं, दौड़ते हुए, खेलते हुए, कूदते हुए, चिल्लाते हुए; जब वे अपनी सारी शक्ति इस तरह खर्च कर देते हैं, तो वे अपने-आपको पूरी तरह दे देते हैं, और खेलने, हिलने और दौड़ने के आनंद में उनका उस वैश्व प्राणिक शक्ति के साथ नाता जुड़ जाता है; उन्हें इसका पता नहीं होता, लेकिन वे अपनी प्राणिक शक्ति को वैश्व प्राणिक शक्ति के संपर्क में रख कर खर्च करते हैं और इसी कारण अधिक थकावट महसूस किये बिना वे दौड़-भाग कर सकते हैं, उन्हें थकान बहुत देर में ही आती है। इसका यह अर्थ है कि वे इतनी शक्ति खर्च करते हैं कि अगर वे वैश्व शक्ति के संपर्क में न होते तो तुरंत, थक कर चूर हो जाते। इसीलिये वे बढ़ते भी हैं; यह इसलिये होता है क्योंकि वे जितनी शक्ति खर्च करते हैं उससे अधिक पाते हैं। वे जितना खर्च करते हैं उससे अधिक पाना जानते हैं। और यह किसी ज्ञान के अनुरूप नहीं होता। यह एक सहज-स्वाभाविक क्रिया है, आनंद की क्रिया... वे जो कुछ करते हैं उसमें आनंद प्राप्त करते हैं—शक्ति को खर्च करने का आनंद। व्यक्ति इससे बहुत-से कार्य कर सकता है।

मैं कुछ ऐसे युवकों को जानती थी जो हमेशा शहरों में ही रहे थे—शहर में, और वहां उन छोटे कमरों में, जैसे कि बड़े शहरों में हुआ करते हैं जहां हर एक ठुंसा रहता है। हां, तो वे अपनी छुट्टियां देहात में बिताने दक्षिण फ्रांस में आये थे, वहां सूरज काफी तपता है, स्वभावतः यहां की तरह नहीं, लेकिन फिर भी वहां गर्मी बहुत पड़ती है (उदाहरण के लिये, जब तुम भूमध्य सागर के तट की धूप की तुलना पैरिस की धूप के साथ करो, तो सचमुच उसमें बहुत फर्क होता है), तो, जब वे देहात में घूमने निकले तो पहले कुछ दिनों तक उनके सिर में भयंकर दर्द रहा। वे धूप के कारण बिलकुल बेचैन हो उठे; लेकिन अचानक उन्हें यह विचार आया : "अगर हम सूरज के साथ दोस्ती कर लें तो वह हमें आगे से नुकसान नहीं पहुंचायेगा।" और उन्होंने सूरज के साथ मैत्री और विश्वास का संबंध जोड़ने के लिये एक तरह का आंतरिक प्रयास शुरू कर दिया, और जब वे धूप में होते तो सिमट-सिकुड़ कर अपने-आपसे यह कहने की बजाय : "ओह, कितनी गर्मी है, कितनी जलन होती है!" वे कहते : "आहा, यह सूरज कितनी शक्ति, कितने आनंद और कितने प्रेम से भरपूर है!" इत्यादि . . ., वे यूं (संकेत) खुल गये, और इतना ही नहीं कि आगे से उन्हें बिलकुल कष्ट न उठाना पड़ा, बल्कि उन्होंने स्वयं को इतना शक्तिशाली अनुभव किया कि उनसे जो भी कहता : "ओह, गरमी पड़ रही है"—वे यही कहते : "हमारी तरह कहो, तुम देखोगे कि यह कितना भला करती है"—और वे नंगे सिर, बिना किसी असुविधा के घंटों तपती धूप में रह सकते थे। सिद्धांत वही है।

हां, सिद्धांत वही है। उन्होंने अपने-आपको सूर्य में जो वैश्व प्राणिक शक्ति है उसके साथ जोड़ लिया और उन्हें वह शक्ति प्राप्त हुई जिसने उन सभी चीजों को हटा दिया जो उन्हें अप्रिय थीं। जब तुम देहात में होते हो, पेड़ों के नीचे टहलते हुए स्वयं को 'प्रकृति' के, वृक्षों के, आसमान के, सभी पत्तियों, सभी शाखाओं और सभी घासों के बहुत निकट अनुभव करते हो, जब तुम इन वस्तुओं के साथ एक गहरी दोस्ती का अनुभव करते हो और जब तुम उस हवा में सांस लेते हो जो इतनी अच्छी है, जो सभी पेड़-पौधों की सुगंध लिये होती है, तब तुम अपने-आपको खोलते हो, खुलते समय वैश्व शक्तियों के साथ तुम्हारा संबंध जुड़ जाता है, सभी चीजों के साथ यही बात होती है।

क्या ठंड में भी हम यही चीज कर सकते हैं?

हां, मेरा ख्याल है। मैं समझती हूं कि सभी परिस्थितियों में तुम यही कर सकते हो।

'प्रकृति' की व्यवस्था में सूरज एक बहुत शक्तिशाली प्रतीक है। इसलिये बात एकदम वही न होगी, उसमें ऊर्जा की असाधारण घनता होती है। ठंड मुझे अधिक अभावात्मक वस्तु प्रतीत होती है : वह किसी वस्तु का अभाव है। लेकिन हर हालत में, अगर तुम 'प्रकृति' के क्रिया-कलापों के ताल के साथ मेल बैठाना जानो, तो तुम बहुत-सी असुविधाओं से बच जाते हो। जो चीज तुम्हें कष्ट देती है, जो शरीर के संतुलन में गड़बड़ पैदा करती है वह है एक संकीर्णता, यह हमेशा संकीर्णता ही होती है। यह इसलिये होता है क्योंकि तुम अपनी सीमाओं में बंद रहते हो, अतः, जैसा कि श्रीअरविन्द यहां लिखते हैं कि कोई शक्ति होती है जो इन सीमाओं को बहुत ज्यादा दबाती है—इससे सब कुछ अस्तव्यस्त हो जाता है . . .

मधुर मां, क्या वैश्व प्राणिक शक्तियों की सीमाएं होती हैं?

मैं नहीं सोचती कि शक्तियों की सीमा होती है, क्योंकि तुम्हारे अनुपात में वे निश्चय ही असीम हैं। लेकिन तुम्हारी ग्रहणशीलता की शक्ति सीमित होती है। तुम अमुक मात्रा से अधिक आत्मसात् नहीं कर सकते, और फिर हमें खर्च और ग्रहण करने की क्षमता में एक संतुलन रखना चाहिये। अगर तुम यकायक किसी आवेश में आकर खर्च करो—उदाहरण के लिये किसी आवेशपूर्ण क्रिया में—तुम्हें जितनी शक्ति मिली है उससे कहीं अधिक खर्च कर डालो, तो तुम्हें वैश्व शक्तियों को आत्मसात् करने के लिये क्षण-भर की एकाग्रता, शांति, ग्रहणशीलता की आवश्यकता होती है। उन्हें प्राप्त करने के लिये तुम्हें अपने-आपको एक विशेष अवस्था में रखना होता है; तब वे कुछ समय तक बनी रहती हैं, एक बार खर्च कर देने पर तुम्हें उन्हें फिर से प्राप्त करना होगा। सीमाएं इसी अर्थ में होती हैं। शक्तियां सीमित नहीं होतीं, ग्रहणशीलता सीमित होती है।

हर व्यक्ति की ग्रहणशीलता भिन्न होती है। कोई भी दो ग्रहणशीलताएं गुण और परिमाण में, विशेषकर गुण में, समान नहीं होतीं। तुम्हारा बहुत पवित्र, बहुत तीव्र शक्तियों के साथ संपर्क जुड़ जाता है—ऐसी शक्तियों के साथ जिन्हें तुम परिवर्तित शक्तियां कह सकते हो, अर्थात्, ऐसी वैश्व शक्तियां जिनका भगवान् के साथ संबंध है और वे न केवल भगवान् को प्राप्त करती है, बल्कि उन्हें पाने के लिये अभीप्सा करती हैं। तो अगर तुम इन शक्तियों को आत्मसात् कर लो, तो ये तुम्हें प्रगति के लिये महान् बल देती हैं। इसमें गुण बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। रही बात वैश्व प्राणिक शक्तियों के गुण की, यह स्वभावतः बहुत कुछ इस पर निर्भर है कि तुम क्या हो, और साथ-ही-साथ इस पर कि तुम क्या करते हो।

अगर तुम इन शक्तियों का उपयोग शुद्ध रूप से किसी निम्न प्रकार की स्वार्थपूर्ण क्रिया के लिये करो, तो तुम अपने लिये फिर से उसी गुण की नयी शक्तियों को पाना बिलकुल असंभव कर देते हो। सब कुछ इस पर निर्भर है कि जिन शक्तियों को तुम प्राप्त करते हो उनका किस तरह उपयोग करते हो। इसके विपरीत, अगर तुम उनका उपयोग प्रगति करने के लिये, स्वयं को पूर्ण बनाने के लिये करो, तो यह तुम्हें ग्रहणशीलता प्रदान करती है, तुम्हारी ग्रहणशक्ति को बहुत अधिक बढ़ा देती है, और अगली बार तुम पहले से बहुत अधिक प्राप्त कर सकते हो। सब कुछ हर हालत में, मुख्यतः उनके उपयोग पर निर्भर है। उदाहरण के लिये, ऐसे लोग हैं जो स्वभाव से चिड़चिड़े हैं और जो अपने क्रोध को वश में करने में सफल नहीं हुए हैं। हां तो, अगर अभीप्सा या किसी और प्रक्रिया द्वारा उन्होंने कुछ उच्चतर प्राणिक शक्तियां प्राप्त कर ली हैं तो, चूंकि उनके अंदर आत्म-संयम नहीं है, यह प्राप्ति उनके चिड़चिड़ेपन या गुस्से को शांत करने की जगह, उनका क्रोध और बढ़ा देती है, अर्थात्, उनकी खीज, उग्रता की क्रिया अधिक शक्ति, अधिक ऊर्जा से भर जाती है और बहुत अधिक उग्र हो उठती है। तो यह ठीक ही कहा गया है कि वैश्व शक्तियों के साथ संपर्क कोई प्रगति नहीं करवाता। लेकिन यह इसलिये होता है क्योंकि लोग उनका गलत उपयोग करते हैं। लेकिन स्वभावतः कुछ समय के बाद गलत उपयोग ग्रहणशीलता को कम कर देता है, लेकिन इसमें समय लगता है, यह तुरंत नहीं हो जाता। अतः यह बहुत जरूरी है कि तुम निम्न शक्तियों को नहीं, उच्च शक्तियों को ग्रहण करने के लिये अपने-आपको उचित अवस्था में रखो, और फिर दूसरी बात यह कि जब उन्हें पा लो तो उनका उपयोग यथासंभव अच्छी-से-अच्छी चीज के लिये करो, ताकि तुम अपने-आपको अधिक ऊंची शक्तियों को ग्रहण करने के लिये तैयार कर सको। लेकिन अगर तुम अपने-आपको खोल कर शक्तियों को प्राप्त कर लो, और फिर उस प्राप्ति से संतुष्ट होकर स्वयं को हर साधारण क्रिया में जा गिरने दो तो तुम दरवाजा बंद कर देते हो और शक्ति फिर वापिस नहीं आती।

हम ग्रहणशीलता को बढ़ा भी सकते हैं?...

ग्रहणशीलता को किस तरह बढ़ाया जाये? प्रगति करके।

पहले तुम्हें यह जानना चाहिये कि अपने-आपको कैसे खोला जाये। एक महान् शांति में उन प्राप्त की गयी शक्तियों को आत्मसात् करना तुम्हें आना चाहिये, उन्हें फिर से फेंक न देना चाहिये। तुम्हें उन्हें आत्मसात् करना जानना चाहिये।

तो प्रगति सामान्य किंतु क्रमशः बढ़ते हुए संतुलन में है, आत्मसात् करने की अवधियां—ग्रहण और आत्मसात् करने की—और उन्हें खर्च करने की अवधियां, इन दोनों में तुम्हें संतुलन रखना आना चाहिये, और उन्हें बारी-बारी से ऐसी लय में बदलना भी आना चाहिये जो तुम्हारी निजी हो। तुम्हें अपने सामर्थ्य की सीमा को न लांघना चाहिये, न ही सामर्थ्य से कम करना चाहिये, क्योंकि वैश्व प्राणिक शक्तियां ऐसी चीज तो हैं नहीं जिन्हें तुम तिजोरी में बंद कर रख सको। उनका संचार होना चाहिये। अतः ग्रहण करना आना चाहिये और साथ-ही-साथ व्यय करना भी, लेकिन तुम्हें ग्रहणशीलता की क्षमता को इस तरह बढ़ाना चाहिये कि जो चीजें खत्म करने या खर्च करने के लिये हैं, उन्हें अधिक-से-अधिक प्राप्त किया जाये। तो ऐसा होता है, जैसा कि मैं कह रही थी, बच्चों में यह स्वाभाविक रूप से होता है। वे कुछ शुरू करते हैं, कुछ प्रयास करते हैं, सहज रूप से कुछ शक्ति ग्रहण करते हैं, उसे आत्मसात् कर लेते हैं, फिर कुछ दिनों बाद, दो दिन, दस दिन, बीस दिन तक वे अधिक खर्च कर सकते हैं। एक साल के बाद वे बहुत अधिक कार्य कर सकते हैं, क्योंकि वे बारी-बारी से स्वाभाविक रूप में ग्रहण और व्यय करते हैं, और वे अपने आकार में बढ़ते जाते हैं। निःसंदेह वे यह अचेतन रूप से करते हैं, लेकिन अधिक बड़े होकर यह करना अधिक कठिन हो जाता है, उदाहरण के लिये, तुम बढ़ना बंद कर देते हो। तब इसका अर्थ होता है कि बढ़ने की अवधि होती है, जो अब खत्म हो गयी है। लेकिन उसे ज्यादा लम्बा किया जा सकता है। एक आंतरिक अनुशासन द्वारा इसे बढ़ाया जा सकता है, एक ऐसे तरीके से जिसे तुम खोज निकालते हो, जो तुम्हारा अपना तरीका होना चाहिये।

—श्रीमां

अमृत की यादें

(७)

मिशन स्ट्रीट के मकान को छोड़कर जब श्रीअरविन्द फ्रांस्वा मारतैं स्ट्रीट वाले मकान में आ गये तो लोगों में एक मतभेद पैदा हो गया कि यह बदलने की क्या जरूरत थी? शहर के दो भाग थे—एक में ज्यादातर फ्रेंच लोग रहते थे दूसरे में भारतीय। जिस दिन विदेशों से जहाज आते थे भीड़ हो जाती थी और फ्रांस की तरह-तरह की चीजें जैसे बिस्कुट, खिलौने, बरतन, खाद्य-सामग्री आदि शहर में बिका करती थीं। भारती को पूरा विश्वास था कि श्रीअरविन्द ने मकान बदला है तो इसके पीछे कोई विशेष कारण अवश्य होगा।

अब मैं कुछ पहले की घटनाओं की ओर मुड़ता हूं। श्रीअरविन्द ४ अप्रैल १९१० को चार बजे विजय कान्त के साथ पांडिचेरी के बंदरगाह पर उतरे और सीधे कोमटी स्ट्रीट के शंकर चेट्टी के मकान में पहुंचे। उनको राह दिखानेवाले थे श्रीनिवासचारी, सुब्रमण्यम् भारती, सुरेश चक्रवर्ती और शंकर चेट्टी। छह महीने तक तो श्रीअरविन्द का अज्ञातवास ही रहा। धीरे-धीरे लोग उन्हें जानने लगे। यहां शंकर चेट्टी के मकान में ही उन्होंने २१ दिन का उपवास किया था। उनका कहना था कि उपवास के कारण उनका भार तो कम हो गया पर ऊर्जा बढ़ गयी।

शंकर चेट्टी के मकान में ही फ्रांस का एक प्रतिष्ठित विद्वान् श्रीअरविन्द से मिलने के लिये आया। उसे फ्रांस से मीरा ने एक योग चक्र के चित्र के साथ भेजा था और कहा था कि इस चक्र का सच्चा अर्थ बतानेवाला भारत में ही मिलेगा और वही मेरे योग का सच्चा गुरु होगा। उस फ्रेंच विद्वान् ने यह चक्र श्रीअरविन्द को दिखलाया और उनसे इसका सच्चा अर्थ जान लिया। उसने श्रीअरविन्द से कहा कि मीरा के साथ मैं १९१४ में यहां आऊंगा। ये मीरा वही हैं जिन्हें हम लोग माताजी के नाम से जानते हैं।

पांडिचेरी में बसे हुए क्रांतिकारी आपस में कानाफूसी कर रहे थे कि दो यूरोपीय विद्वानों ने श्रीअरविन्द को गुरु मान लिया है और जल्दी ही यहां आ रहे हैं। यह सुनकर मेरी छाती फूली नहीं समायी, लेकिन काफी समय तक यह बात गुप्त रखी गयी। अब सबकी समझ में आ गया कि श्रीअरविन्द ने गृह-परिवर्तन क्यों किया था। यह बहुत बड़ा मकान था और अब वहां बिजली की रोशनी की व्यवस्था भी कर दी गयी थी। १९१४ के मार्च का अंत था। शाम के छह बजे होंगे। राम स्वामी आयंगार मकान के आंगन में अकेले बैठे थे, वहां कोई और न था, कोई मछली या कौआ भी न था। मैंने मकान में प्रवेश किया, राम स्वामी ने मुझे इशारे से नजदीक बुलाया और कहा—फ्रांस के दो व्यक्ति आ पहुंचे हैं और श्रीअरविन्द से मिलने के लिये अभी आते होंगे। मुझे आज्ञा मिली है कि गृहवासियों के सिवा और कोई घर में चक्कर न काटे। आज तुम अकेले ही समुद्र-किनारे घूमने चले जाओ।

मेरा हृदय दुःख और विक्षुब्धता की प्रतिक्रिया से भर गया। मुझे लगा, उफ, मैं इस घर का वासी नहीं, कोई पराया हूं!

आयंगार इस नये मकान में ज्यादा दिन नहीं रह सके। जहां तक मुझे याद है वे मई १९१४ में अपने गांव चले गये। वे यहां रह कर संस्कृत भी पढ़ने लगे थे। नलिनीकान्त गुप्त उन्हें बंगला सिखाते थे। नये मकान में आयंगार ने बंकिम चन्द्र चटर्जी की एक छोटी कहानी का तमिल में अनुवाद भी किया था। लेकिन वे यहां टिक न पाये क्योंकि उनको अपनी मां के लिये बहुत अधिक प्रेम था। इधर वर्ष भर से उन्होंने अपनी मां को न देखा था। उन्होंने श्रीअरविन्द से घर जाने की स्वीकृति मांगी परंतु श्रीअरविन्द बहुत राजी न थे, फिर भी वे चले गये। मैं मानों टूट गया। विजय कान्त श्रीअरविन्द के मकान में रहते थे। उन्होंने मेरी ऐसी अवस्था देखकर मुझे सांत्वना दी और मुझे गुरु के चरणों तक पहुंचाने में सहायता की।

(क्रमशः)

'श्रीअरविन्द के साथ बातचीत' :

विभिन्न विषय

१ मार्च १९४०

(किसी साधक के आश्रम छोड़ कर जाने के बाद उसके पत्र के बारे में बातचीत करते हुए)

पु—'ब' का पत्र आया है, क्या उसकी मनोवृत्ति में कोई फर्क आया है ?

श्रीअरविन्द—(मुस्कुरा कर हवा में हाथ लहराते हुए) 'ब' के बारे में कहना मुश्किल है। उसने बाहर जो कुछ किया उसमें असफल होने के बाद अब वह सारी चीज को एक अलग ही प्रकाश में देख रहा है। वह अवसर के अनुकूल अब कुछ भी कह सकता है। हो सकता है कि उसकी मनोवृत्ति में कोई फर्क भी आया हो, लेकिन यह कहना कठिन है कि उसने कितनी आंतरिक प्रगति की है।

पु—क्या मनोवृत्ति में परिवर्तन आंतरिक प्रगति का चिह्न नहीं है ?

श्रीअरविन्द—हमेशा नहीं, यह केवल मानसिक परिवर्तन भी हो सकता है; क्योंकि यहां से जाकर उसने हर चीज में असफलता पायी जब कि आश्रम हर चीज में बढ़ता गया है। आश्रम के इस विकास ने उसे प्रभावित किया हो . . . ।

विषय बदल गया, किसी नेता के बारे में बात चली तो श्रीअरविन्द ने कहा—

श्रीअरविन्द—इस तरह का नेता बनना कोई मुश्किल काम नहीं है। इसमें नेतृत्व का सवाल ही नहीं उठता। अगर तुम्हारे अंदर बक बक करने की क्षमता है, विचारों की शक्ति है और उन्हें रूप देने की क्षमता है तो तुम हमेशा नेता बन सकते हो, सच्चे नेता नहीं क्योंकि सच्चा नेता बक बक से दूर रहता है। आजकल राजनीति एक ढकोसला बन कर रह गयी है। अंग्रेजों की पार्लियामेंट में हर चीज में नौकरशाही सामने रहती है लेकिन जो सचमुच पीछे काम करते हैं उनका नाम कभी प्रकाश में नहीं आता। मन्त्री तो केवल प्रवक्ता होते हैं। हां, इनमें चर्चिल और होर-बेलिशा जैसे अपवाद होते हैं।

उदाहरण के लिये माताजी के भाई ने कौंगोलैण्ड (अफ्रीका) को संगठित कर वहां बहुत काम किया। वे औपनिवेशिक गवर्नरों और व्यवस्थापकों में सबसे अच्छे थे—लेकिन सारा श्रेय उस मंत्री को मिला जो नाम के लिये ऊपर बैठा था। जब वे अफ्रीका में गवर्नर या गवर्नर जनरल के पद पर थे तब भी उन्होंने बहुत काम किया, नाम की वे परवाह न करते थे। कहते हैं कि बिस्तर का वे उपयोग ही नहीं करते थे, बस आराम-कुर्सी पर लेट कर आराम कर लेते थे। अब वे लगभग सत्तर वर्ष के हैं, पर जैसे ही महायुद्ध शुरू हुआ वे अपने दफ्तर में आ गये और उन्होंने काम मांगा। आजकल वे दिन में अठारह घंटे काम करते हैं। यह हैं सच्चे नेता।

शाम को

कृष्णलाल ने एक भैंसे का चित्र बनाया था। माताजी श्रीअरविन्द से कह रही थीं कि यह चित्र जरा भावुक मालूम होता है।

श्रीअरविन्द—(अपने बिस्तर से पुराणी को) मैं इस भैंसे को देख रहा हूं। मुझे तो लगता है कि इसमें चैत्य परिवर्तन आ रहा है! (सत्येन्द्र से) तुम्हारी क्या राय है ?

स—भगवन्, मैं नहीं जानता कि इसके पीछे क्या विचार है ? पर यह मुझे कुछ विशेष नहीं लगता। तालाब में से कमल चुनते हुए सफेद हाथी का विचार तो ठीक था। हाथी को दुर्गा का वाहन बताया जाता है। पर भैंसा क्यों ?

श्रीअरविन्द—भैंसा भी तो किसी का वाहन है।

पु—यमराज का वाहन बताया जाता है।

(उसी समय माताजी आ गयीं)

स (माताजी से)—हम लोग सोच रहे थे कि भैंसे का क्या अर्थ होगा ?

माताजी—अर्थ ? क्या कृष्णलाल इसको कोई अर्थ देना चाहता है ? मैंने तो समझा था कि बस उसने भैंसे का चित्र बना दिया, जैसे उसने बिल्लियों का बनाया था। एक साल हमें फूल के चित्र मिले, पिछले साल पक्षियों के और इस वर्ष पशुओं के।

(स ने गुजराती में भैंसों के बारे में कुछ कहानियां सुनायीं)

श्रीअरविन्द (नी से)—शरत चैटर्जी ने भी भैंसे के बारे में कोई कहानी लिखी है। है न ?

नी—मेरा ख्याल है कि बैल के बारे में थी।

स—ऐसा माना जाता है कि गाय का दूध अच्छा होता है जब कि भैंस का दूध बुद्धि को मंद कर देता है। इसीलिये डॉक्टर इसकी सिफारिश नहीं करते। भगवन् ! आप दूध क्यों नहीं पीते ?

श्रीअरविन्द—मुझे परवाह नहीं है।

स—यह रक्त के लिये बहुत अच्छा है।

श्रीअरविन्द—शायद मेरे अंदर काफी रक्त है !

डॉ० बेचर—ऐसा माना जाता है कि दूध आध्यात्मिकता के लिये अच्छा है।

श्रीअरविन्द—वह नीरद के बैंगन से अच्छा तो है ही (हंसी)। माताजी और मैं दूध नहीं लिया करते। कई लोग हैं जो वर्षों से दूध पीते रहे हैं—दस-दस वर्षों से—पर मुझे मालूम नहीं कि उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि से कोई प्रगति की है। पुन्नू स्वामी को अल्सर की शिकायत थी, वह दूध के सिवाय कुछ न लेता था।

डॉ० बेचर—दूध को आदर्श भोजन माना जाता है।

श्रीअरविन्द—मुझे पता नहीं।

नी—बेचरलाल दूध के बहुत शौकीन मालूम होते हैं।

स—मैं भी उसके विरोध में नहीं हूं।

श्रीअरविन्द—लेकिन यह तुम्हारे रक्त के लिये अच्छा है ! (हंसी)

स—कहते हैं कि भैंसे का उपयोग बलि के लिये भी होता है।

श्रीअरविन्द—ओह ! तो शायद इस भैंसे का उसी के लिये उपयोग होगा।

नी—निशिकांत को फिर से पुरानी तकलीफ हो रही है, दर्द, वमन आदि की।

श्रीअरविन्द—वह खा तो रहा है न ?

नी—मुझे नहीं लगता। जानने का कोई साधन नहीं है।

श्रीअरविन्द—कोई साधन नहीं है ?

नी—जेब-खर्च के लिये कुछ नहीं है, लेकिन दर्शन पर आये हुए लोग कुछ मिठाई लाते हैं, वह वे लेते हैं।

श्रीअरविन्द—ओह, मैंने ठीक यही सोचा था!

नी—लेकिन मिठाई वगैरह ज्यादा नहीं होती थी।

श्रीअरविन्द—ज्यादा नहीं ?

नी—मेरा कहने का मतलब है ज्यादा मात्रा में नहीं—वह कहता है बस तीन या चार।

श्रीअरविन्द—पिछली बार वह कैसे ठीक हुआ था?

नी—वह कहता है आपकी शक्ति से।

श्रीअरविन्द—और अब उसकी अपनी शक्ति उसे पुरानी दशा में ले आयी ?

नी—सुना है कि पी० चक्रवर्ती की मृत्यु के बारे में दत्त की कहानी गलत है। नलिनी स्वयं उस दल में थे। वे कभी दत्त के पास नहीं गये थे। लेकिन उस लड़के की बम-विस्फोट वाली बात बिलकुल ठीक है।

पु—नलिनी कहते हैं कि बारीन खुले हुए बम को हाथ में लिये जा रहे थे।

श्रीअरविन्द—खुले हुए बम को ? ठीक बारीन के जैसी बात है।

पु—और बम जमीन तक पहुंचने से पहले ही फट गया।

नी—चक्रवर्ती ने सोचा था कि बम के धरती तक पहुंचते-पहुंचते वह एक शिला के पीछे जा छिपेगा। उसने यह उम्मीद न की थी कि बम पहले ही फट जायेगा।

श्रीअरविन्द—फिर भी यह बहुत संकटपूर्ण था। मेरा ख्याल है कि नेविन्सन ने कहा था कि भारतीय क्रांतिकारी रूसी क्रांतिकारियों के जितने अच्छे होते हैं। परंतु यह घटना बहुत उत्साहवर्धक नहीं है। निपुण होने में समय लगता है। रूसियों को "ज़ार" को उठा फेंकने में सौ वर्ष से अधिक लगे थे। भारतीय क्रांतिकारियों में रासबिहारी एक अपवाद था जो हर दिशा में होशियार था। पुलिन दास भी बहुत अच्छा था।

पु—रासबिहारी विलक्षण था। वह बहुत-सी भाषाएं जानता था। वह पंजाबियों की तरह ठेठ पंजाबी बोलता था और वह गिरफ्तारी से पहले की रात को फरार हो गया जब कि उसके साथी गिरफ्तार हो गये।

—नीरदवरण



हम किसी भावी आदर्शवाद के बिना काम नहीं चला सकते। यदि हम अपने मामूलीपन और अपने अर्द्ध-मानव और अर्द्ध-पशु की लड़खड़ाती दिनचर्या से ही संतुष्ट होकर नहीं रह सकते—और यह ऐसी सिंहासन-च्युति है जिसे हमारे अंदर का उच्चतम कभी स्वीकार न करेगा—तो हमें व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपने और अपने जीवन से कोई निर्माण करने के लिये श्रम करना चाहिये। और जीवन में हो या कला में, मनुष्य कोई महान् निर्माण नहीं कर सकता जबतक कि वह पूर्णता के भाव या रूप की कल्पना न कर सके और उन्हें देखकर वह अपने अंदर ऐसी क्षमता पर विश्वास करे जो उन्हें सिद्ध कर सके—उसकी प्रकृति के तत्त्व में चाहे जितनी अनम्यता या विद्रोही तत्त्व क्यों न हों। उसे पूर्णता के लिये अपनी इस शक्ति पर विश्वास से वंचित कर दो और तुम उसकी महत्तम सर्जक शक्ति या आत्म-सर्जक की क्षमता की हत्या कर दोगे या उसे पंगु बना दोगे।

—श्रीमां

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार

(२२)

मेरी समझ में नहीं आता कि क्या आश्रम से जाना केवल एक भौतिक कामना थी? अगर मैं हैदराबाद चला जाता तो हो सकता है मैं बीसियों लोगों को अपने साथ इकट्ठा करके यहां वापिस आ जाता, वे यहीं कहीं पास ही में अपने खर्च पर रहते, उन्हें एकदम आश्रम में भर्ती न करवाता, उनके लिये एक होटल खोलता और जब तक साधना की कोई मजबूत क्रिया उन्हें पकड़ न लेती या उनकी साधना का कोई निश्चय न कर लेती तबतक वे अपने खर्च पर ही रहते।

मेरे मन में यह विचार इस तरह आया जब बबन्स यहां आया और यहां के मुसलमान दुकानदारों से घुल-मिल गया। उसने उर्दू बोलकर ही बहुत-से मित्र बना लिये। सड़क पर चलते हुए, उसकी टोपी देखकर ही लोग खुश हो जाते, और उससे "अस्सलाम अलैकुम" कहते। उसके इस स्वाभाविक व्यवहार से मैं बहुत खुश हो जाता था। पहली बार मुझे पांडिचेरी में मुस्लिम जनता का स्पर्श मिला और उनका सौहार्द भी दीखा। अतः मेरी तीव्र इच्छा हुई कि वह या कोई और यहां आकर बस जाये और मुस्लिम लोगों के साथ सतत सम्पर्क रखे। इससे यहां एक अच्छा वातावरण बन जायेगा। आखिर यह तो संभव नहीं लगता कि बारह करोड़ मुसलमान योग के संपर्क से दूर रहें। मेरी इच्छा के ये ही कारण थे।

तुम्हारे अंदर जो विचार जाग रहे हैं वे निश्चय ही भौतिक प्राण या भौतिक मन के हैं जो इच्छाओं को मानसिक रूप दे देते हैं। साधक को उन्हें देखना तो चाहिये, यह जानना भी चाहिये कि उनका क्या मूल्य है, लेकिन उनके द्वारा उसे क्रियाशील न होना चाहिये।

यदि किसी को नीचे उतरते हुए यौगिक सत्य और बाहरी जगत्, उदाहरण के लिये बाहरी मुसलमान जगत् के बीच की कड़ी बनना है तो यह जरूरी है कि पहले वह शांत और संतुलित हो, उच्चतर चेतना में प्रतिष्ठित हो और उसकी सत्ता में स्थायी ज्योति स्थापित हो सके—अन्यथा वह अपना काम न कर सकेगा। अगर तैयार हो जाने से पहले ही कोई उसके लिये प्रयास करेगा तो वह असफल होगा। इसलिये जरूरी है कि समय से पहले कोई काम हाथ में न लिया जाये।

१६ नवम्बर १९३२

अपने कल के पत्र में श्रीअरविन्द ने लिखा था, "अगर कोई यौगिक सत्य और मुस्लिम जगत् के बीच की कड़ी बनना चाहे..."। मैं यह जानना चाहता हूं कि क्या मुस्लिम जगत् यहां इतनी पृथक् चीज है। क्योंकि इस वाक्य को इस तरह नहीं रखा जा सकता "यौगिक सत्य और हिन्दू जगत् के बीच।"

निश्चय ही यह कहा जा सकता है—कट्टर हिन्दू समाज बिलकुल अलग है, बाहर का सारा जगत् अलग है जब तक कि वह ज्योति, जो यहां कार्य कर रही है, उस जगत् के साथ नाता न जोड़ दे।

१७ नवम्बर १९३२

मेरा ख्याल था कि लोगों के मन में मुसलमानों के प्रति यह भाव उनके अवचेतन प्रभाव के कारण था और मैंने उसे ऐसा अज्ञान माना जिसकी अभी के लिये उपेक्षा की जा सकती है। लेकिन अगर श्रीअरविन्द ने भी ऐसा लिखा है तो मैं यह जानना चाहूंगा कि क्या मुस्लिम जगत् ऐसा पृथक् खण्ड है जिसके साथ विदेशियों, अजनबियों, लगभग शत्रुओं जैसा व्यवहार करना चाहिये।

बहरहाल मुझे इस बात पर विश्वास नहीं है कि यहां की सृष्टि इस मामले में बिलकुल शुद्ध है—हां माताजी और श्रीअरविन्द बीच में पड़ें तो और बात है। यहां मुसलमानों के विरुद्ध भयंकर घृणा, जुगुप्सा, अज्ञान और संदेह है और उनके साथ व्यवहार करते हुए बहुत वरीयता और देशप्रेम का भाव रहता है। साधारण मुस्लिम दृष्टिकोण से मैं कहूंगा कि यह सारे संसार में सबसे ज्यादा भयंकर जगह है जिसकी गहराई की थाह नहीं पायी जा सकती।

मैं यह भी पूछना चाहता हूं : माताजी ने बहुत बार ऐसी सूचनाएं दी हैं, "जब कोई आदमी यहां आता है तो वह हिन्दू मुसलमान या किसी और संप्रदाय का नहीं रहता।" यद्यपि मुसलमान पर काफी जोर दिया जाता है कि वह मुसलमान न रहे, लेकिन कोई हिन्दू हिन्दू होना छोड़ देता है क्या ? इस विचार पर कोई हिन्दू साधक विश्वास भी करता है क्या ? हर एक जानता है कि यह बिलकुल सच बात नहीं है, किसी के मन में यह विचार आता तक नहीं। इन परिस्थितियों में भगवान् जाने क्या मेरे लिये यह ठीक होगा या यह समझदारी की बात होगी कि जीवित रहते हुए इस विनाश को देखता रहूं और यहां मुस्लिम प्रभाव लाने की कोशिश न करूं। जब मैंने समर्पण किया था तो मैंने मुसलमान होना छोड़ नहीं दिया था, जो मैंने बाद में किया।

अगर इस आश्रम में ऐसा कोई व्यक्ति है जो कट्टर हिन्दू सम्प्रदायवादी हो, जो मुसलमानों से घृणा करता हो और ऐसी ज्योति की ओर खुला न हो जिसमें सब अपनी सीमाएं खो देते हैं और जिसमें सब कुछ परिपूर्ण हो सकता है (हर धर्म या भगवान् की ओर जाने का प्रत्येक मार्ग अपने सत्य का अंश उसमें देता है लेकिन फिर सब घुल-मिल जाते और विभिन्न धर्मों से पार होकर ऊपर निकल जाते हैं) तो वह हिन्दू सम्प्रदायवादी भी पूरी तरह श्रीअरविन्द का शिष्य नहीं है। अपनी संकीर्णता तथा दूसरों के प्रति घृणा द्वारा वह यहां हो रहे कार्य में अड़चन लाता है, उसमें मिथ्यात्व के तत्त्व को लाता है।

जब मैंने बाहरी जगत् की बात की थी तो मेरा मतलब हिन्दू, ईसाई वगैरह उन सभी बाहरी लोगों से था जिन्होंने अभी तक उस ज्योति को स्वीकार नहीं किया है जो आ रही है। अगर यह आश्रम केवल हिन्दुओं की सेवा करने के लिये होता तो मैं यहां न होता और माताजी भी यहां न होतीं जो हिन्दू नहीं हैं।

परंतु यहां जो हो रहा है वह उस सत्य की तैयारी के लिये है जिसमें सभी सत्य आ जाते हैं, जो किसी एक धर्म या मत तक सीमित नहीं है। यह तैयारी चुपचाप नीरवता में होनी चाहिये जबतक कि बाकी चीजें तैयार न हो जायें। इसी अर्थ में मैं बाकी जगत् और उसके घटक तत्त्वों की बाहरी जगत के रूप में बात कर रहा था—यह बात नहीं है कि कुछ नहीं करना है या बाहर के साथ कोई संबंध नहीं रखना है, लेकिन ये चीजें अपने उचित समय पर होनी चाहियें।

क्या तुम्हारा यह कहना है कि सभी लोग इस्लाम के विरोध में हैं या तुम कुछ विशेष व्यक्तियों को लेकर साधारण नियम बना रहे हो ? अगर यही हाल है, जैसा कि तुम कहते हो, तब तो मैं बीच में पड़कर पूर्ण-विराम लगाने के लिये तैयार हूं। क्योंकि यह भावना उस सत्य के बिलकुल विपरीत होगी जिसे मैं यहां व्यक्त करने की कोशिश कर रहा हूं।

अंगुष्ठ मात्र

कल्याण को कालू ने बुलाया। दोनों खुसुर-पुसुर करते-करते बाहर आ गये। कालू फुसफुसाया, 'छोटे सरकार, क्यों, गोलगप्पे खाओगे ?' कल्याण का मुख खिल उठा, फिर कुछ सोचकर मुरझा गया। वह बोला, 'देख, ये दस पैसे ! मां ने चने के लिये दिये हैं। तू और मैं इसमें से चने खा लेंगे।' कालू हंसा, 'हम एक काम करें तो दस के बीस हो जायेंगे।' कल्याण उत्सुक हो उठा, 'यह कैसे होगा ?' कालू कुछ देर चुप रहकर बोला, 'थोड़ा काम करना होगा। सामने राम-मन्दिर है, तुम तो रोज जाते ही हो। कभी-कभी पैसे, दो पैसे भगवान् के थाल में डालते भी होगे . . .' कल्याण झुंझला उठा, 'हां, हां, लेकिन तुम तो . . .' कालू ने बात काटते हुए कहा, 'वही तो बता रहा हूं। बड़े लोग उसमें चवन्नी डालकर कुछ खुदरा उठा लेते हैं। महन्त जी दूर रहते हैं, वैसे भी देखते थोड़े ही हैं ? मैंने कहा, तुम दस पैसे डालकर चवन्नी उठा लाओ तो कैसा रहे ?' कल्याण भौंचक्का-सा देखता रहा फिर धीरे-से बोला, 'ना, ना ऐसा नहीं करते। यह चोरी है, बड़ा पाप लगता है।' कालू ने कहा, 'नहीं, चोरी कैसी होगी ? सब कहते हैं भगवान् हमारे पिता हैं। पिता से लेने में हर्ज ही क्या है ? जब हमें किसी चीज की जरूरत हो तो पिताजी से ही तो मांगते हैं ?' कल्याण बोला, 'हां, उनसे पूछे बिना तो नहीं उड़ा लेते। याद नहीं, रमेश ने अपने पिताजी की जेब से पैसे निकाले थे तो कैसी मार पड़ी थी ? ना, मैं नहीं जाता।'

कालू के बहुत फुसलाने, समझाने पर सहमता-सहमता कल्याण थाल के पास आया। अचानक महन्तजी पर दृष्टि पड़ी और वह भाग खड़ा हुआ। हांफता हुआ बाहर निकला तो कालू बड़ा खुश हुआ। 'क्यों, आ गये न, देखा, कुछ भी मुश्किल नहीं है, लाओ।' कल्याण ने कहा, 'कालू मेरी हिम्मत नहीं होती। तू ही चला जा न, भाई, यह काम मैंने कभी नहीं किया, मुझसे होगा भी नहीं।' कालू खीज कर बोला, 'क्या बेवकूफों-सी बातें करते हो ? मैं कैसे जा सकता हूं ? महन्त जी लाठी लेकर मेरा कचूमर न निकाल देंगे ?'

कल्याण और कालू दो अजीब-से मित्र थे। कल्याण के पिताजी का घर गांव से दूर था। आस-पास कोई न था। कल्याण घर पर ही पढ़ता था इसलिये उसका कोई मित्र भी न था। कभी-कभी नौकरानी का छोटा लड़का कालू आ जाता तो कल्याण की बाछें खिल जातीं। उसे यह मालूम ही न था कि वह मालिक जाति का है और कालू गन्दी, फटेहाल नीच जाति का, जिसे मन्दिर में देखते ही लोग मार भगायेंगे। लेकिन कालू कैसे भूल सकता था ? उसकी बात सुनते ही कल्याण चुप हो रहा। आधे घण्टे के असंख्य प्रयासों के बाद वह चवन्नी चुरा लाया। कालू ने बहुत शाबाशी दी। दोनों गोल गप्पे खाने बैठे। कालू चटकारे ले-लेकर खा रहा था किन्तु कल्याण के गले में कुछ अटक गया था। पता नहीं क्यों आज के गोल गप्पे उसे जरा न भाये। खा-पीकर दोनों घर लौटे।

मां ने कल्याण का सूखा मुंह देखा तो पूछा, 'बेटा, क्या हुआ ?' कल्याण नीचे देखकर बोला, 'कुछ नहीं, मां।' मां ने माथे पर हाथ रखा, 'ना, कुछ नहीं', माथा ठंडा ही था। मां बोली, 'चलो, खाना तैयार है।' कल्याण धीरे-से बोला, 'शाम को बहुत खाया था, भूख नहीं है।' मां ने उसे सोने के लिये भेज दिया।

कई दिन बीत गये। कल्याण बेचैन रहा। उसे रात को नींद न आती, खाने में स्वाद न लगता; हालत इतनी बुरी हुई कि हार कर उसने मां से कहने की ठानी, लेकिन कहे तो कैसे कहे ? कई दिन इसी उधेड़बुन में बीत गये।

एक दिन दोपहर को मां विश्राम कर रही थी। कल्याण धीरे-से आकर अच्छे बच्चे की तरह मां के

पास बैठ गया। मां को आश्चर्य हुआ, दस बार पुकारो, नाराज हो तब घर में आनेवाला, आज अभी से आ गया! सोचा, चलो, तमाशा देखा जाये। कुछ देर बाद कल्याण ने मां के खुले बालों को अंगुली पर लपेटना, खोलना शुरू किया। मां ने कहा, 'क्या कर रहा है? छोड़, आज क्या हुआ है? बाहर तोता, गिलहरी सब भाग गये क्या?' कल्याण बोला, 'अच्छा मां, तूने कहा था ना कि रावण दुष्ट था।' मां बोली, 'हां, था ही। सीता माता को कितना कष्ट दिया, उन्हें चोरी से उठा ले गया! दुष्ट ऐसे ही होते हैं।' कल्याण बोल पड़ा, 'मां, चोरी बहुत बड़ा पाप है?' मां ने कहा, 'और नहीं तो क्या? किसी की चीज बिना पूछे ले उड़ना . . . फिर रावण ने तो भगवान् की पत्नी चुरायी . . .' कल्याण झट बीच में टपक पड़ा, 'भगवान् की चोरी बहुत बुरी होगी न?' मां बोली, 'हां बेटे, भगवान्, जो हमें प्यार करते हैं, हर मिनट हमारी रक्षा करते हैं उनसे कुछ चुराना . . . बाप रे बाप! कितना बड़ा पाप!' कल्याण रुंआसा हो गया। कुछ क्षण नीचे देखता रहा, फिर धीरे-से बोला, 'अच्छा मां, अगर कोई पाप करे तो तू कहती है न कि पछतावा कर के और वह क्या . . . नहीं, उस दिन दीनू के घर पंडित आये थे . . . क्या नाम है उसका?' मां हंसी, 'ओहो, प्रायश्चित करना, हां, हां, सच्चे दिल से पछता कर प्रायश्चित करने से पाप धुल जाता है।' कल्याण बोला, 'लेकिन सब प्रायश्चित नहीं कर सकते, न? तू उस दिन बता रही थी, कि रामू चाचा इतने गरीब हैं कि प्रायश्चित का पैसा नहीं है फिर . . . अब तो वे सब के घर जाते हैं . . . क्या हुआ?' मां ने निःश्वास छोड़ते हुए कहा, 'क्या करें बेचारे! मन्दिर में जाकर घी का दिया जलाया, भगवान् का नाम जपा, उपवास किये और लोगों ने कहा, ठीक है, तुम गरीब हो इतना प्रायश्चित बहुत हुआ।'

पांच दिन बाद कल्याण ने राम मंदिर में पांव रखा, कितना निर्भय, कितना प्रसन्न। कई दिन तक दोपहर के नाश्ते के पैसे बचाता रहा था। आज चुराई हुई चवन्नी लौटाते समय कल्याण को इतने दिनों की सही हुई भूख सार्थक लग रही थी। हाथ जोड़ कर बुदबुदाया, 'रामजी, बड़ा पाप हो गया, माफ करना। अब तो मैंने वो क्या कहते हैं . . . खैर, जाने दो, जो भी नाम था, . . . हां, पछतावा कर लिया है। देखो, तुम्हारे पैसे लौटा दिये, रोज दस बार तुम्हारा नाम भी जपता रहा। अब मेरा मन नहीं जलेगा।'

*

कल्याण के प्रोफेसर भाषण दे रहे थे, दर्शनशास्त्र पर। 'आत्मा, वह अंगुष्ठ मात्र पुरुष ही हमारे कार्यों को साक्षी बनकर देखता है, और अनुमति देता है। वही हमारा सच्चा रूप है, हमारे अंदर रहनेवाला भगवान् का अंश है और अजर है, अमर है, वह शरीर में रहे तो जीवन और वह छोड़ जाये तो मरण। और कोई प्रश्न?'

उमेश खड़ा हुआ, 'सर, हम बहुत बार आत्मा की आवाज के बारे में पढ़ते और सुनते हैं, वह क्या चीज है?'

प्रोफेसर चुप रहे, फिर बोलने के लिये मुंह खोला ही था कि घंटी बज गयी। उन्होंने कहा, 'इस विषय में जिन्हें रुचि हो वे आज शाम को मेरे घर आ सकते हैं, मेरे एक मित्र आये हुए हैं जिन्होंने आध्यात्मिक जीवन अपना लिया है। वे अनुभव से उत्तर दे सकेंगे।'

कल्याण भी उमेश, रवि और चन्द्रेश के साथ प्रोफेसर के घर जा पहुंचा। देखा, सामान्य नागरिकों की वेशभूषा में एक सज्जन बैठे प्रोफेसर के साथ बातें कर रहे हैं। कॉलेज के कई साथी बैठे थे। प्रोफेसर ने खड़े होकर सबसे अपने मित्र का परिचय कराया। बोले, 'रघुवीर मेरे बचपन के साथी हैं। ऑक्सफोर्ड और प्रिंस्टन उनके लिये हमारे शहर के चौराहे जैसे परिचित स्थान हैं। कुछ वर्ष पूर्व उन्हें एक विलक्षण अनुभूति हुई और तब से इन्होंने आध्यात्मिक जीवन अपना लिया है। अब यह आध्यात्मिकता का संदेश लिये शहरों और गांवों में घूमा करते हैं। तुम्हें कुछ पूछना हो तो शौक से पूछो।'

उमेश ने आत्मा की आवाज के बारे में पूछा। रघुवीर ने कहा, 'मनुष्य के अंदर बैठा दिव्य रूप ही आत्मा है। अगर मनुष्य जरा सचेतन हो तो दुष्कार्य करते समय कोई आवाज उसे मना करती है। इसे हम व्याकुलता या बेचैनी कहते हैं। हमने कई बड़े-बड़े अपराधियों से सुना है कि शुरू-शुरू में अपराध करते समय और उसके बाद भी वे बड़े व्यग्र और बेचैन रहते थे; किंतु अपराध करते-करते कठोर बन गये और बेचैनी अदृश्य हो गयी। साधारण लोग इसी को आत्मा की आवाज कहते हैं, परंतु सचमुच यह अंतःकरण है जो तुम्हारे धर्म, समाज, नीति, रीति-रिवाजों के रंग में रंगा होता है। और उनसे उल्टा चलने पर मना करता, डांटता और पछताता है। यह मन का ही एक हिस्सा होता है। सचमुच आत्मा इससे गहरी चीज है। साधारणतः जिसे अंगुष्ठ मात्र पुरुष कहा जाता है वह है चैत्य पुरुष जो हृदय में निवास करता है, भौतिक हृदय में नहीं, सूक्ष्म हृदय में, छाती के लगभग बीचोंबीच। इसका विकास मनुष्य में ही होता है। यह हमें सच्चा रास्ता, भगवान् का रास्ता दिखाता है। यह भगवान् का ही एक अंश है। हम इसके साथ ताल-मेल रख सकें तो विकास तेजी से होता है।

'मेरा अपना अनुभव है कि आत्मा की आवाज शुरू में एक फुसफुसाहट से अधिक नहीं होती, जैसे-जैसे हम उसके आदेशों का पालन करने लगते हैं वैसे-वैसे उसकी आवाज दृढ़ होती जाती है। हम धरती पर जीवन इसलिये धारण करते हैं कि यह अपने-आपको अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सके। हम धरती पर क्यों और क्या करने आये हैं यह जानने के लिये चैत्य-पुरुष का साक्षात्कार आवश्यक है। हमारा मुख्य काम है इस चैत्य पुरुष द्वारा लीला में अपना स्थान जानना और फिर उसके अनुसार कार्य करना। हमारे दुःख, असंतोष और व्यथा का मूल कारण है इस परम सत्य से अलग रहना।'

एक झटके के साथ कल्याण बचपन में लौट गया। कालू, राम मंदिर, अपनी चोरी, सब पिछली बातें याद हो आयीं। चोरी के बाद हुई व्यथा और दुःख का कारण समझ गया। तो यह उसका अंतःकरण था या चैत्य की आवाज ? वह जानने के लिये उत्सुक हो उठा। सबके बीच में यह बात पूछता भी तो कैसे ? इन आंतरिक चीजों को भाषा में प्रकट करना भी तो मुश्किल है। खैर, उसे संधान मिल गया, अब वह इस अंगुष्ठ मात्र पुरुष को जानकर रहेगा।

—अनुबेन

जीवनयात्रा . . .

जीवनयात्रा में समस्त भय, संकट और विपदा का सामना करने के लिये कवच के रूप में तुम्हारे पास केवल दो ही चीजों का होना आवश्यक है, पहली है दिव्य मां की कृपा और दूसरी है एक ऐसी आंतरिक स्थिति अपनाना जो श्रद्धा, निष्कपटता और समर्पण से भरपूर हो। अपनी श्रद्धा को पवित्र, निश्छल तथा पूर्ण बनाओ। मानसिक तथा प्राणिक सत्ता की ऐसी अहंकारमयी श्रद्धा जो आकांक्षा, अभिमान, दम्भ, मानसिक अक्खड़ता, प्राणिक स्वैरता, व्यक्तिगत मांग, निम्न प्रकृति की तुच्छ कामनाओं की पूर्ति में लगी रहती है वह निम्न प्रकार की तथा धुएं से भरी श्रद्धा होती है जो ऊपर स्वर्ग की ओर प्रज्ज्वलित नहीं हो सकती। अपने जीवन को इस रूप में देखो कि वह तुम्हें केवल दिव्य कर्म करने और दिव्य अभिव्यक्ति में सहायता देने के लिये मिला है। केवल भागवत चेतना की पवित्रता, शक्ति, प्रकाश, विस्तार, अचंचलता तथा आनंद की कामना करो और तुम्हारे अंदर यह आग्रह हो कि ये भागवत चीजें तुम्हारे मन, प्राण और शरीर को रूपांतरित और पूर्ण कर दें। मांगो केवल भागवत,

आध्यात्मिक तथा अतिमानसिक सत्य को; यह मांगो कि पृथ्वी पर, स्वयं तुम्हारे अंदर और उन सभी में उस परम सत्य की उपलब्धि हो जो भागवत कार्य के लिये चुने गये हैं और यह मांगो कि इस सत्य के प्रकट होने के लिये पृथ्वी पर आवश्यक परिस्थितियां पैदा हो जायें और यह सत्य सभी विरोधी शक्तियों पर विजय पा ले।

तुम्हारी निष्कपटता और समर्पण सच्चे तथा पूर्ण हों। अपने-आपको निःशेष रूप से, बिना मांग, बिना शर्त, बिना संकोच के दे डालो ताकि तुम्हारे अंदर का सब कुछ उन दिव्य मां का हो जाये, अपने अहं या अन्य किसी शक्ति के लिये कुछ भी बचाकर न रखो।

तुम्हारी श्रद्धा, निष्कपटता तथा समर्पण जितने अधिक पूर्ण होंगे कृपा तथा सुरक्षा भी उसी हद तक तुम्हारे साथ रहेंगी। और जब दिव्य मां की कृपा तथा सुरक्षा तुम्हारे साथ हों तो कौन है जो तुम्हारा स्पर्श कर सके या कौन है जिससे तुम भयभीत होओ ? उनकी कृपा तथा सुरक्षा का जरा-सा अंश भी तुम्हें सभी मुश्किलों, बाधाओं तथा खतरों से पार ले जायेगा; उनकी कृपा तथा सुरक्षा की पूर्ण उपस्थिति से घिरे हुए तुम अपने पथ पर निरापद आगे बढ़ सकते हो क्योंकि वह पथ मां का है, वह सभी संकटों से अछूता है, सभी प्रतिकूलताओं और विद्वेषों के परे है—वे विद्वेष चाहे जितने शक्तिशाली क्यों न हों चाहे वे इस जगत् के हों या अदृश्य जगतों के। मां का स्पर्श कठिनाइयों को सुअवसरों में, असफलता को सफलता में और दुर्बलता को अडिग बल में बदल सकता है। क्योंकि दिव्य जननी की कृपा परम प्रभु की अनुमति है और आज या कल उसका फल निश्चित है। वह कृपा बरसेगी यह पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अप्रतिरोध्य तथ्य है।

—श्रीअरविन्द

विद्यार्थियों को अमूल्य सीख

(एक बालक) कभी-कभी बहुत काम होता है और समझ में नहीं आता कि क्या करें ?

बहुत काम . . . सचमुच बहुत काम ?

बहुत प्रकार के काम, उदाहरण के लिये, पढ़ाई में, हमें बहुत-से विषय पढ़ने पड़ते हैं।

तुम सारे दिन क्या करते हो, सुबह से शाम तक ? तुम नित्यकर्म—स्नान, कपड़े पहनने आदि में कितना समय लगाते हो ? लगभग, ठीक मिनट के हिसाब से नहीं।

लगभग पौन घंटा।

और खाने में कितना समय लगाते हो ?

पंद्रह मिनट।

हर बार ? दिन में कितनी बार ? चार ? अच्छा। गप्पों में कितना समय लगाते हो ? . . . यह तुम्हें नहीं मालूम !

मैं गप्पें नहीं लगाता।

तुम गप्पें नहीं लगाते ! तुम अद्‌भुत हो, सचमुच। मैं तुम्हें पीठिका पर स्थापित कर दूंगी। तुम गप्पें नहीं लगाते ?

जी हां, मैं गप्पें तो लगाता हूं पर जब मेरे पास काम हो तब गप्पें नहीं लगाता।

हां, तो तुम्हें अपना काम पूरा करने के लिये दिन में कितने घंटे चाहियें।

कभी-कभी मैं सवेरे साढ़े चार बजे उठ बैठता हूं।

अपना गृहकार्य करने के लिये ? उस समय तुम आधी नींद में होते हो, होते हो न ?—साढ़े चार बजे ? क्या तुम पूरी तरह जागे हुए होते हो ? नहीं, तो फिर, तुम तुरंत काम करना शुरू कर देते हो ?

जी हां, कभी-कभी।

मैं तुम्हें सीधा उसी ओर लिये जा रही हूं . . .। जब तुम काम करो, उस समय यदि तुम एकाग्र हो सको तो तुम ठीक दस मिनट में उतना काम कर सकोगे जितने में अन्यथा एक घंटा लग जाता। अगर तुम समय लाभ करना चाहो तो एकाग्र होना सीखो। ध्यान देकर काम करने से ही आदमी तेजी से काम कर सकता है और काम ज्यादा अच्छा भी होता है। अगर तुम्हारे पास आधे घंटे का काम है—मैं यह नहीं कहती, निश्चय ही—कि यदि तुम्हें आध-घंटा लिखना हो—नहीं, यदि तुम्हें सोचना हो और तुम्हारा मन इधर-उधर उड़ता फिर रहा हो, अगर तुम जो कुछ कर रहे हो उसपर ध्यान न देकर यह भी सोचो कि तुम क्या कर चुके हो, और क्या करनेवाले हो, और इसी तरह और चीजें सोचा करो, तो इन सबके कारण, काम में जितना समय लगना चाहिये उससे तिगुना समय नष्ट होता है। जब तुम्हारे पास बहुत अधिक काम हो तो तुम्हें, जो कर रहे हो, केवल उसीपर एकाग्र होने की आदत डालनी चाहिये। ध्यान देकर काम करने से जिस काम में एक घंटा लग जाता वही काम दस मिनट में हो सकता है।

तो मैं नहीं जानती, मैं विषय की पूरी जानकारी के बिना फैसला नहीं कर सकती कि तुम्हारे पास बहुत अधिक काम है या नहीं—जबतक कि तुम वह सारा काम मुझे न बतलाओ जो तुम्हें करना होता है; लेकिन मुझे नहीं लगता कि तुम काम के बोझ से दबे हुए हो। मैं कहती हूं कि मुझे नहीं लगता। मैं इस बात का दावा नहीं करती क्योंकि मुझे पता नहीं है कि सब अध्यापक क्या करते हैं। बहरहाल, अगर तुम्हें बहुत करना है तो तुम्हें ज्यादा एकाग्र होना सीखना चाहिये, और भी ज्यादा। जब तुम एक चीज कर रहे हो तो केवल उसीके बारे में सोचो और अपनी सारी शक्ति जो कर रहे हो उसीपर केन्द्रित रखो। तुम कम-से-कम आधा समय तो बचा ही लोगे। इसलिये, अगर तुम मुझसे कहते हो : "मेरे पास बहुत अधिक काम है", तो मेरा उत्तर है : "तुम काफी एकाग्र नहीं होते।"

(एक दूसरा बालक) किसी गणित के प्रश्न के लिये, कभी तो उसका उत्तर बहुत जल्दी मिल जाता है, कभी बहुत अधिक समय लगता है ?

हां, ठीक यही बात है : यह एकाग्रता की मात्रा पर निर्भर है। अगर तुम अपना अवलोकन करो तो यह बात अच्छी तरह देख सकोगे। जब उत्तर नहीं आता तो उसका कारण यह होता है कि दिमाग में एक प्रकार की अस्पष्टता होती है, कुछ मेघाच्छन्न-सा, कहीं पर कुहरे जैसा, और तब तुम वहां ऐसे होते हो मानों सपने में हो। तुम उसे पाने के लिये आगे बढ़ते हो परंतु ऐसा लगता है मानों रुई के फाहों में आगे बढ़ रहे हो, तुम्हें वहां स्पष्ट दिखायी नहीं देता इसलिये कुछ नहीं आता। तुम घंटों इसी अवस्था में रह सकते हो।

एकाग्रता ठीक इस बादल को हटाना है। तुम अपनी बुद्धि के सभी तत्त्वों को इकट्ठा करके एक बिंदु पर जमा देते हो और तब सक्रिय रूप से चीज को पाने की कोशिश भी नहीं करते। तुम सिर्फ इतना करते हो कि इस प्रकार एकाग्र हो सको कि केवल प्रश्न ही दिखायी दे—केवल सतह पर ही न दिखायी दे, बल्कि अपनी गहराई में दिखायी दे, जो उसमें छिपा है वह दिखायी दे। अगर तुम अपनी सभी मानसिक ऊर्जाओं को इकट्ठा कर सको, उन्हें एक निश्चित बिंदु पर लाकर समस्या के हल के लिये जमाए रख सको और वहीं बंधे रहो मानों तुम किसी दीवार में छेद करनेवाले हो तो अचानक हल आ जायेगा। और यही एक तरीका है। अगर तुम कोशिश करो, क्या यह रास्ता है, क्या वह है ? . . . तो तुम्हें कुछ न मिलेगा या तुम्हें घंटों लग जायेंगे। तुम्हें अपनी मानसिक शक्तियों को एक बिंदु पर ला सकना चाहिये, इतनी शक्ति के साथ जो शब्दों को छेदकर उनके पीछे की चीज पर पहुंच सके। वही पाने लायक चीज है, उसपर झपट पड़ो।

और हमेशा, उन्हीं दिनों जब तुम जरा अस्पष्ट-से होते हो, यह काम ज्यादा मुश्किल हो जाता है। तुम अस्पष्ट होते हो, मानों तुम किसी चीज को पकड़ना चाहते हो और वह तुमसे बच निकलती है।

स्वभावतः, यदि भौतिक रूप से यह असंभव हो—तुम्हें दानवों के साथ काम नहीं पड़ता है ! मेरा ख्याल है कि तुम्हारे अध्यापक काफी समझदार हैं। अगर तुम उनसे जाकर कहो : "मैं इसे न कर सका। मेरे पास समय नहीं था, मैं जो कर सकता था किया, पर मेरे पास समय नहीं था।" तो वे तुम्हें नहीं डांटेंगे। मुझे नहीं लगता। पर यहां सौ में से निन्यानवे बार मन की जड़ता का एक प्रकार ही तुम्हें यह विचार देता है कि तुम्हारे पास बहुत अधिक काम है। अगर तुम अपना निरीक्षण करो तो तुम देखोगे कि हमेशा तुम्हें एक चीज इस ओर खींचती है और दूसरी चीज उस ओर खींचती है, और फिर इस तरह की अस्पष्टता, मानों तुम रुई के फाहों में रह रहे हो, बादलों में रह रहे हो, कुछ भी स्पष्ट नहीं है।

काम का उपयोग इसके सिवाय कुछ नहीं है : तुम्हारी मानसिक शक्तियों को निश्चित रूप देना है क्योंकि, तुम जो कुछ सीखते हो, (अगर तुम उसे किसी काम या अधिक गहरे अध्ययन द्वारा व्यवहार में न लाओ), जो कुछ तुमने सीखा है उसका कम-से-कम आधा भाग तो समय के साथ उड़ जायेगा, विलीन हो जायेगा। लेकिन वह एक चीज अपने पीछे छोड़ जायेगा। अपने विचार को निश्चित रूप देने की क्षमता को, उसमें से किसी सुनिश्चित, यथार्थ और संगठित चीज बनाने की क्षमता को और काम का सच्चा उपयोग यही है; अपने मस्तिष्क की क्षमता को व्यवस्थित करना। अगर तुम अपनी बादल जैसी तरलता में, अपनी अस्पष्ट-सी गति-विधि में लगे रहते हो तो, चाहे बरसों परिश्रम किये चले

जाओ, वह तुम्हारे लिये निरर्थक होगा। तुमने जब उसमें प्रवेश किया था, उसमें से निकलते समय उससे ज्यादा समझदार न होगे; लेकिन अगर तुम आधे घंटे के लिये भी ऐसी चीजों पर ध्यान केन्द्रित कर सको जो तुम्हें रुचिकर नहीं लगतीं, उदाहरण के लिये, व्याकरण के नियम (मैं जिन शुष्क विषयों के बारे में कह रही थी उनमें व्याकरण के नियम भी हैं, इनसे भी बहुत अधिक शुष्क विषय हैं, पर वास्तव में व्याकरण के नियम काफी शुष्क हैं); अगर तुम उनमें से एक को लेकर समझना शुरू करो, रटना नहीं, और रटी हुई चीज का यांत्रिक रूप में व्यवहार करना भी नहीं, इससे तुम्हें कोई फायदा नहीं होगा—बल्कि शब्दों के पीछे के विचार को समझने की कोशिश करो: "यह नियम इस रूप में क्यों बनाया गया ?" और उस चीज के लिये अपना ही सूत्र बनाने की कोशिश करो; तो यह बहुत रुचिकर होगा। "जिन सज्जन ने यह नियम बनाया है उन्होंने इसे इस तरह क्यों लिखा होगा ? मैं अध्ययन कर रहा हूं। समझने की कोशिश कर रहा हूं कि उन्होंने ऐसा क्यों किया। उन्होंने यह शब्द उसके बाद और वह शब्द उस दूसरे शब्द के बाद क्यों रखा और नियम को उस तरह क्यों व्यक्त किया ? क्योंकि उन्होंने समझा कि यही इस बात को कहने का अधिक-से-अधिक पूर्ण और अधिक-से-अधिक स्पष्ट तरीका है।" तो तुम्हें उस चीज का पता लगाना चाहिये और जब तुम्हें पता लग जाये तो तुम अचानक कह उठते हो: "इसका यह अर्थ है। इसे यूं देखना चाहिये। तब यह बहुत स्पष्ट हो जाता है।"

मैं तुम्हें यह समझाती हूं: जब तुम चीज को समझ जाते हो तो वह तुम्हारे अंदर एक स्फटिक-सा बनाती है, एक चमकदार, छोटा-सा बिंदु। और जब तुम ऐसे बहुत, बहुत, बहुत-से बिंदु पा लेते हो तब तुम समझदार होने लगते हो। काम का यह उपयोग है, बेकार चीजों के ढेर से दिमाग को भर लेना नहीं।

२४ जून, १९५३ — 'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५; पृ० ११६-१२०

भोजन के बारे में

अतिभोजन शरीर को तामसिक और भारी बना देता है, बहुत कम भोजन उसको अशक्त और उत्तेजित बना देता है—आदमी को शरीर की आवश्यकता और दिये गये भोजन के बीच सच्चा समन्वय और संतुलन खोज लेना चाहिये।

*

यह सच है कि आयु बढ़ने पर कम भोजन वांछनीय हो।

*

यह सच है कि उपवास द्वारा—यदि मन और स्नायु ठोस हों और इच्छा-शक्ति सक्रिय हो—आदमी कुछ समय के लिये आंतरिक ऊर्जा और ग्रहणशीलता की स्थिति में पहुंच सकता है जो मन के लिये मोहक होती है और क्षुधा, दुर्बलता, आंत्र-विक्षोभ इत्यादि की सामान्य गड़बड़ों से पूरी तरह बचा जा सकता है। परंतु शरीर ह्रास से कष्ट पाता है और आसानी से प्राण में रुग्ण अतिश्रान्ति की अवस्था आ

जाती है; स्नायु-मंडल जितनी प्राणिक ऊर्जा आत्मसात् कर सकता या समन्वित कर सकता है उससे अधिक प्रवाह के कारण ही यह अव्यवस्था आती है। उत्तेजित लोगों को उपवास के प्रलोभन से बचना चाहिये, उसके साथ या उसके पीछे प्रायः भ्रांति और संतुलन का अभाव आता है। विशेषकर यदि उसमें भूख-हड़ताल का उद्देश्य हो या यह तत्त्व आ जाये तो उपवास खतरनाक होता है क्योंकि तब वह आसानी से प्राणिक गति का उपभोग बन सकता है जो आसानी से हानिकर आदत बन सकती है जो साधना के लिये हानिकर और विषैली हो सकती है। अगर इन सब प्रतिक्रियाओं से बचा जा सके तब भी उपवास का कोई पर्याप्त उपयोग नहीं हो सकता क्योंकि उच्चतर ऊर्जा और ग्रहणशीलता को अस्वाभाविक भौतिक साधनों द्वारा नहीं बल्कि चेतना की तीव्रता और साधना के लिये प्रबल इच्छा द्वारा ही आना चाहिये।

*

जब लोग खाना और सोना छोड़ना चाहते हैं तो मैं उनसे पहली चीज यह कहता हूं कि कोई योग पर्याप्त भोजन या निद्रा के बिना नहीं हो सकता। (इस विषय में गीता देखो) उपवास या निद्राहीनता स्नायुओं को रुग्ण और उत्तेजित बना देते हैं और मस्तिष्क को दुर्बल बना देते हैं और भ्रांतियों और सनकों की ओर ले जाते हैं। गीता कहती है, योग उसके लिये नहीं है जो बहुत ज्यादा खाता या बहुत सोता है और न उसके लिये है जो खाता भी नहीं और सोता भी नहीं, बल्कि युक्ताहारी और युक्त-निद्रा वाले के लिये है। तभी सबसे अच्छी तरह योग किया जा सकता है। सभी चीजों के बारे में यही बात है। मैंने कितनी बार कहा है कि अतिशय वैराग्य मेरे लिये संदिग्ध है और ध्यान के सिवा कुछ न करना असंतुलित और अस्वस्थ साधना है।

*

न खाना भोजन के लोभ से पिंड छुड़ाने के लिये वैरागी का तरीका है। हमारा तरीका है समता और निर्लिप्तता का।

*

मेरा ख्याल है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सात्त्विक भोजन के महत्त्व के बारे में अतिशयोक्ति की गयी है। भोजन सचमुच स्वास्थ्य का प्रश्न है और पुराने धर्मों में उन्हें दी गयी स्वीकृतियों और निषेधों के पीछे आध्यात्मिक से अधिक स्वास्थ्य-संबंधी कारण थे। गीता की व्याख्याएं इसी दिशा की ओर संकेत करती प्रतीत होती हैं—उसका कहना है कि तामसिक भोजन वह है जो बासी, सड़ा हुआ यानी सत्त्वहीन हो, राजसिक भोजन वह है जो बहुत तीखा, चटपटा इत्यादि हो, जो खून को गरम कर देता और स्वास्थ्य को बिगाड़ देता हो। सात्त्विक भोजन वह है जो रुचिकर, स्वास्थ्यवर्धक इत्यादि हो। यह भी संभव है कि विभिन्न प्रकार के भोजन विभिन्न गुणों की क्रिया का पोषण करें और इस तरह अपनी भौतिक क्रिया के अलावा परोक्ष रूप से सहायक या हानिकारक हों। लेकिन व्यक्ति विश्वास के साथ इसी सीमा तक जा सकता है। कौन-सी खाने योग्य चीजें सात्त्विक हैं या कौन-सी नहीं हैं यह प्रश्न भिन्न है और इसका निश्चय करना अधिक कठिन है। आध्यात्मिक रूप से मैं कहूंगा कि भोजन का प्रभाव स्वयं भोजन से नहीं बल्कि अधिक तो उस गुह्य वातावरण और उन प्रभावों से आता है जो भोजन के साथ-साथ आते हैं। शाकाहारी सिद्धांत एकदम से अलग ही प्रश्न है; जैसा कि तुम कहते हो, उसका आधार

है पेट को संतोष देने के लिये जीवन के अधिक सचेतन रूपों को क्षति न पहुंचाने की इच्छा करना।

रही बात हर तरह के भोजन को समान रस के साथ खाने का अभ्यास करने की तो न तो इसका अभ्यास करने की आवश्यकता है और न ही अभ्यास से यह चीज आती है। व्यक्ति को अपने अंदर अपनी चेतना में समता प्राप्त करनी चाहिये और इस समता के बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति चेतना के क्रिया-कलापों के विभिन्न क्षेत्रों में उसका विस्तार कर सकता और उसे लागू कर सकता है।

—श्रीअरविन्द

'गैर्वाणी' :

भेदः

प्रचण्डप्रभञ्जनविनाशेन भयाकुलः नगरवासिनः। जगति आत्मानं श्रेष्ठम्मन्याः मनुष्याः प्रकृतेः भयात् मूषकवत् निजगृहेषु प्रच्छन्नाः अभवन्। एतत् दृष्ट्वा, "अहो ! शक्तिमान् खल्वहम्। चतुर्दिक्षु ममैव प्रचण्डता राजते। इन्द्रतुल्योऽहम्।" इति चिन्तयन् अधिकवेगेन प्रभञ्जनोऽवहत्।

नन्दनकाननसदृशमासीत् तत्स्थानम्। नानाविधपुष्पाणि मन्दपवनेन व्यचलन्। हठात् दृश्यं परिवर्तितम्।

कठोरशीत्कारैः सहोपस्थितः प्रभञ्जनः। स्वभ्रातरं समीरं दृष्ट्वा सः उच्चैरट्टहासं कृत्वा तमुपगम्याभणत् —दुर्बलस्त्वम्, किं नेच्छसि मादृशीं शक्तिम् ?

समीरः ईषदहसत्।

तं निःशब्दं वीक्ष्य प्रभञ्जनेन पुनरप्युक्तम्—किमर्थं तूष्णीं तिष्ठसि ? न मन्यसे मां शक्तिमन्तम् ? यदा झञ्झावातः ममागमनस्य सूचनां प्रसारयति तदा जनाः अस्थिराः जायन्ते। मां दृष्ट्वा तु सर्वे यत्र तत्र धावन्ति। पशुपक्षिणः स्वजीवनरक्षार्थमितस्ततः आश्रयमन्वेषयन्ति। यदाहं वहामि तदा समुद्रस्थपोतानाम् अवस्था जले तृणवत् भवति। स्वशक्त्या तान् यत्र यत्र क्षिपामि। समुद्रेण सह तथा खेलामि यथा तस्य तरङ्गाः पर्वततुङ्गतां प्राप्नुवन्ति। यतः निर्गच्छामि तत्रत्याः सर्वे वृक्षाः मम स्वामित्वं स्वीकुर्वन्ति। का खलु लघुपादपानां कथा ! तान् तु नामशेषान् करोमि। किं नेच्छस्यधुनापि मद्वत् शक्तिं बलं च ?

समीरः पुनः निःशब्दमतिष्ठत्।

तं तथा वीक्ष्य प्रभञ्जनेन पुनरुक्तम्—मूढस्त्वम्। तिष्ठ तावत्। सत्यमेव कथ्यते यत् प्रकृत्याः दुर्बलजने ईश्वरोऽपि बलस्य बीजं वप्तुमसमर्थः। किन्तु बोधिष्यस्यचिरमेव मम बलस्य माहात्म्यम्।

तदापि समीरः सुमन्दमस्मयत। प्रभञ्जनं तत्रैवाश्चर्यचकितं त्यक्त्वा सः अग्रे अवहत्। मन्दसमीरं वीक्ष्य सर्वे प्राणिनः भयमुक्ताः जाताः। नद्यः पुनः मधुरेण कलकलनादेनावहन्। समुद्रः अचिरमेव स्वगाम्भीर्यं प्राप्तवान्। तस्य वीचयः तटेन सह पूर्ववत् प्रेमालापे निमग्नाः। समीरस्य पदरवं श्रुत्वा सर्वत्र सुगन्धित-पुष्पाणि प्रास्फुटन्। चतुर्दिक्षु खगानां कूजनैः मुखरिता वसुन्धरा। भ्रमराणां गुञ्जनैः स्पन्दितानि उद्यानानि। कोकिलानां गानैः प्रफुल्लिताः जनाः। साम्प्रतं विनाशमेघं विदार्य सर्वत्र सामञ्जस्यसूर्यः चकास्ति।

सर्वं विलोक्य सुमन्दं हसन् समीरः अग्रे अवहत्। एतत् दृष्ट्वा श्रुत्वा च लज्जितः प्रभञ्जनः निर्माणविनाशयोर्भेदं स्पष्टमबोधत्।

भेद

बच्चो, सरल, सुन्दर, छोटी-सी कहानी सुनो आज—आंधी आयी और अपने साथ महाविनाश को ले आयी, भयभीत नगरवासियों का दिल दहला गयी। अपने-आपको जगत् में सर्वश्रेष्ठ माननेवाला मानव प्रकृति की तनी हुई भृकुटि के सामने सहम कर अपने घर में मूषक की भांति दुबक कर बैठ गया। शक्तिशाली मानव की यह दुरवस्था देख आंधी अपने विनाश-कर्म पर फूली न समायी, मन-ही-मन सोचने लगी—"अरे ! दुनिया में अपने-आपको सबसे शक्तिशाली माननेवाला मनुष्य आज मेरी शक्ति के सामने असहाय बन गया। अब मैं ही इस धरती पर सर्वश्रेष्ठ हूं। चारों तरफ मेरी प्रचण्डता की धाक जम गयी है। अरे, वह दिन संभवतः दूर नहीं जब देवताओं में मेरी गणना इन्द्र के समकक्ष होने लगे।" अपने ही गुणगान गाती हुई उस आंधी ने बवण्डर का ऐसा रूप ले लिया कि सभी प्राणी त्राहि-त्राहि कर उठे।

कुछ ही समय पहले जिस स्थान की तुलना नन्दन-कानन से की जा सकती थी, आंधी के लगातार थपेड़ों से धूलि-धूसरित हो क्षण भर में वह अपना सारा सौन्दर्य खो बैठा, जहां मन्द समीर के झोंके विभिन्न पुष्पों को दुलार रहे थे, अब वे सदा के लिये धरती की गोद में समा गये थे। पल भर में दृश्य एकदम बदल गया। जहां जीवन धड़क रहा था वहां अचानक मृत्यु ने डेरा डाल दिया। फूत्कार करती हुई आंधी सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट करती आगे ही आगे बढ़ती जा रही थी कि अचानक पीछे से उसे मन्द पवन के झोंके का-सा स्पर्श प्राप्त हुआ, पलट कर जो देखा तो पाया कि सचमुच ठण्डी हवा का एक झोंका धरती पर बिछ गयी क्यारियों के बीच दुबक कर जा बैठा था। अपनी शक्ति पर फिर से गर्व किया आंधी ने 'वाह ! मेरे सामने सभी सहम कर छिपे जा रहे हैं।' फिर बोली, "अरे समीर, छिप क्यों रहा है ? तू तो मेरी ही जाति का है, फर्क बस इतना है कि तू शक्तिहीन है और मैं शक्तिशाली। क्या मेरे जैसी सामर्थ्य और शक्ति पाना चाहता है तू ? मेरे साथ विनाश-कर्म में लग जा और मुझ जैसा बन जायेगा।

समीर आंखें नीची किये मुस्कुरा भर दिया।

उसे चुप्पी साधे देख आंधी उसी जोश के साथ फिर से बोल उठी, "बोलता क्यों नहीं ? क्या मेरे बली होने का तुझे विश्वास नहीं ? अरे, जैसे ही मेरे आने के आभास की तरंगें धरती पर फैलने लगती हैं कि चराचर व्याकुल और अस्थिर हो उठते हैं। देख नहीं रहा, मेरी शक्ति के सामने कोई नहीं ठहर पा रहा, सब मुझसे बचने के लिये इधर-उधर आश्रय ढूंढ़ रहे हैं, पशु-पक्षी भी भयभीत अपने घोंसलों, बिलों और मांदों की शरण ले रहे हैं। स्थल तो क्या अपने-आपको जल के स्वामी माननेवाले बड़े-बड़े जहाज भी मेरी महानता के सामने तिनके की भांति इधर-उधर डोलने लगते हैं, और समुद्र की लहरों के साथ तो मैं ऐसे-ऐसे खेल रचाती हूं कि कभी तो उन्हें पहाड़ की ऊंचाई तक ले जाकर नीचे पटक देती हूं और कभी उन्हें बवण्डरों में उलझा कर रख देती हूं। अरे, देख नहीं रहा, धरती-आकाश सब मेरे आगे नतमस्तक खड़े हैं, जहां से गुजर जाती हूं बड़े-बड़े पेड़ धराशायी हो मुझे शत-शत प्रणाम करते हैं और छोटे पौधों की तो बात ही क्या, उनका तो नामो-निशान तक मिटा देती हूं। बोल, क्या अब भी मेरे जैसी शक्ति और बल का भागीदार नहीं बनना चाहता क्या ? समान जाति का होने के कारण तू जल्दी ही विनाश-लीला सीख जायेगा, तू कहे तो पल भर में फूंक मारकर तेरे अंदर वह अदम्य शक्ति और ऊर्जा संचारित कर दूं कि मन्द समीर जैसे तुच्छ और अकिञ्चन नाम से जाना जानेवाला तू प्रचण्ड प्रभञ्जन का विशेष नाम पा ले!

समीर सहमा-सा चुपचाप क्यारियों में दुबका रहा।

आंधी उसकी मूढ़ता पर हंस कर बोल उठी—"अरे मूर्ख ! तेरे सामने देवता के समान मैं वरदान देने

खड़ी हूं और तू उसे ठुकरा रहा है। सचमुच, प्रकृति से दुर्बल जीव में भगवान् भी शक्ति का बीज नहीं बो सकते। जा, अपनी दुर्बलता के ही कीचड़ में फंसा रह कर मेरी शक्ति और विनाश का नृत्य देख। इतना कहकर आंधी धूल उड़ाती हुई अपने रास्ते हो ली।

समीर ने ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद दिया। आंधी के हट जाने से क्षण भर में वातावरण फिर सुरभित हो उठा। मन्द पवन के बहते ही चराचर भयमुक्त हो गये। नदियों ने फिर से अपना कलकल नाद आरंभ कर दिया और समुद्र ने भी अपनी गंभीरता शीघ्र ही पा ली, उसकी लहरें तट के साथ प्रेमालाप में निमग्न हो गयीं।

आंधी तो आगे बढ़ गयी थी, लेकिन समीर की मंद मुस्कान और चुप्पी ने उसके हृदय में संदेह का बीज बो दिया था। एक ही बात उसे रह-रह कर खटक रही थी कि समीर कमजोर क्यों बना रहना चाहता है, मेरे जैसी शक्ति क्यों नहीं पाना चाहता ? दूर खड़े होकर उसने एक दृष्टि मन्द समीर के प्रदेश में डाली और आश्चर्यचकित रह गयी—वहां क्षण भर में सामंजस्य का सुन्दर वातावरण छा गया था। कोयल कूकने लगी थीं, भौंरे गुनगुन कर फूलों में नयी जान भर रहे थे, चारों तरफ प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी थी। विनाश की कालिमा चीर कर समीर जीवन का सूर्य चमका कर आगे बढ़ गया था!

लज्जा से अभिभूत आंधी पानी पानी हो गयी। आज उसने निर्माण और विनाश के भेद को गहरे पहचान लिया था।

परिणाम-स्वरूप पृथ्वी पर सामंजस्य की एक और लहर दौड़ गयी अर्थात्, मन्द समीर का एक नया झोंका जुड़ गया।

—वन्दना

पुस्तक-परिचय

सूर्योदय से सूर्यास्त तक : ले०—अनन्तानन्द; मूल्य—३० रु०; प्रकाशक—हेमगंगा प्रकाशन, २७ राजपुर रोड, दिल्ली - ११००५४।

अंग्रेजी राज में मैकाले शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध क्रिया करनेवाली मुख्य रूप से दो संस्थाएं थीं—बंगाल में रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में शान्तिनिकेतन और उत्तर में स्वामी दयानन्द के शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में गुरुकुल कांगड़ी। रवीन्द्रनाथ कवि और कलाकार थे इसलिये शान्तिनिकेतन में साहित्य-संगीत-कला ने बहुत प्रगति की। स्वामी श्रद्धानन्द के नेतृत्व में हिन्दी माध्यम से उच्चतर शिक्षा देने का प्रयास किया गया। दोनों में ब्रह्मचर्य और गुरु-सान्निध्य पर जोर दिया गया। गुरुकुल का जीवन कठोर था, गुरुकुल के पास आर्थिक साधनों का अभाव था, उसे देखने के लिये गंगा पार जाना पड़ता था और वहां के लोग सुख-सुविधाओं से वंचित थे। केवल आदर्श से आकर्षित माता-पिता अपने बच्चों को वहां भेजते थे। वहां के स्नातकों के आगे आमदनी का कोई उपाय न दीखता था।

गुरुकुल के सबसे पहले स्नातक थे पंडित इन्द्रविद्या वाचस्पति जिन्हें दैनिक पत्र 'वीर अर्जुन' के कारण सारा हिन्दीभाषी जगत् जानता है। दूसरे थे हरिश्चन्द्र जो राजा महेन्द्र प्रताप के साथ क्रांति-कार्य में जुट गये और फिर उनका कहीं नाम भी नहीं सुनायी दिया।

इसी तरह गुरुकुल ने हर क्षेत्र में काफी नाम कमाया। उसकी ख्याति सुनकर गया, बिहार, आंध्र प्रदेश, पंजाब, उत्तर-प्रदेश इत्यादि से विद्यार्थी आने लगे। जब स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्य-समाज के सत्याग्रह किया तो उसमें भी गुरुकुल के लोगों ने भाग लिया।

धीरे-धीरे गुरुकुल को मान्यता मिलने लगी और इसी से तपस्या का अंश कम होता गया—यहां से इसके सूर्यास्त का आरम्भ हुआ। वहां पर धन तथा सुख-सुविधाओं की वृद्धि होती गयी और आदर्शवा समाप्त होता गया। डॉ० अनन्तानन्द की पुस्तक यहीं पर समाप्त होती है। काश! कोई उनसे क सकता कि रात्रिः गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्।

अतिमानस की ओर : ले०—सुखवीर आर्य; मू०—५० रु०; प्रकाशक—श्रीअरविन्द चेतना धारा, पांडिचेरी

सुखवीर आर्य को हम बचपन से जानते हैं। वे चमत्कारिक रूप से प्रगति करते जा रहे हैं। उनक "साधना-यात्रा" की यह पुस्तक दूसरी कड़ी है।

स्वयं लेखक के शब्दों में—"देख रहा हूं, मनुष्य निरर्थक कष्ट पाते हैं, व्यर्थ परेशान रहते हैं। वास्त में उनकी परेशानी का कारण बाहर नहीं है, जैसा कि वे समझते हैं। कारण भीतर है...उन्हें अप अंदर अपने अंधकार में, मन में, हृदय में ग्रंथियां नजर आयेंगी जैसे ही वे उन्हें काट-छांट कर बा फेंक देंगे, उनके चारों ओर का वातावरण सुखदायी, शांतिमय, सामंजस्यपूर्ण हो जायेगा...।

हम आशा करते हैं कि इस पुस्तक को पढ़कर पाठकों को अपनी कुछ ग्रंथियां सुलझाने में मद मिलेगी। पुस्तक सुन्दर बन पड़ी है और मुखपृष्ठ आकर्षक।

तुम किसी को कोई अच्छी सलाह तबतक नहीं दे सकते जबतक स्वयं अपने-आपको न दे लो और उस अनुसार आचरण न करो।

—श्री

Statement about ownership and other particulars about the Monthly PURODHA to be published in the first issue every year after the last day of February.

Form IV
(See Rule 8)

1. Place of Publication	Sri Aurobindo Society Pondicherry - 605002
2. Periodicity of its publication	Monthly
3. Printer's Name	Amiyo Ranjan Ganguli
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Ashram Press Pondicherry - 605002
4. Publisher's Name	Aniruddha Sarkar
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Ashram Pondicherry - 605002
5. Editor's Name	Ravindra, Vandana
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Ashram Pondicherry - 605002
6. Names and addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital	Sri Aurobindo Society Pondicherry - 605002

I, Aniruddha Sarkar, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

March 2001

(sd) Aniruddha Sarkar
Signature of Publisher

अपने-आपको नयी शक्ति के प्रति खोलो। उसे अपने अंदर रूपांतर का काम करने दो।

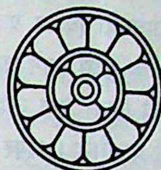
—श्रीमां

यदि तुमने भगवान् को चुना है तो इसका कारण है कि भगवान् ने तुम्हें चुन लिया है।

—श्रीमां

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये।

—श्रीमां



प्रार्थना और ध्यान

३ जून १९१४

अब जब कि सारी सत्ता भौतिक क्रिया-कलाप में, भौतिक अनुभूति में अधिकाधिक डूबी हुई है जिसमें ऐसे बहुत-से ब्योरे हैं जिन्हें सोचना और नियमित करना होता है, मैं तुझे पुकारती हूं हे प्रभो, ताकि मेरी चेतना इस तरह बहिर्मुख होकर, सदा तेरे साथ इस सायुज्य को बनाये रखे जो समस्त शांति, बल और आनंद का स्रोत है।

हे मेरे मधुर स्वामी, इस व्यष्टिगत सत्ता द्वारा अपने-आप ही काम को पूर्ण रूप से सिद्ध कर। बल्कि इस व्यष्टिगत सत्ता के अंदर किसी भी चीज को एक क्षण के लिये भी यह न भूलने दे कि यह केवल एक यंत्र है, एक भ्रम है जिसे उसके अंदर तेरे हस्तक्षेप के लिये वास्तविक बनाया गया है, और यह कि केवल तू ही है और तू ही क्रिया करता है।

धन्य है तेरी चिरस्थायी उपस्थिति का यह आशीर्वाद...

—श्रीमां

दैनन्दिनी

अप्रैल

१. तुम यह मुश्किल से कह सकते हो कि भगवान् अपने-आपको किसी वाणी के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं, बल्कि वे चेतना को एक अवस्था विशेष प्रदान करके स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं

२. चाहे काम में हो या साधना में, शांति के साथ आगे बढ़ना और शक्ति को ठीक तरह काम करने के लिये अपना अच्छे-से-अच्छा प्रयास करने देना ज्यादा अच्छा है—लेकिन यह हो पग-पग पर आत्मपीड़ा और सतत बेचैनी भरे प्रश्नों के बिना। अगर तुम सारे समय वही डफली न बजाते रहो तो जो भी त्रुटियां या दोष होंगे वे ज्यादा जल्दी चले जायेंगे क्योंकि उनके ऊपर बहुत जोर देने से तुम आत्मविश्वास खो बैठोगे और अपने ऊपर, सदा-सर्वदा उपस्थित दिव्य शक्ति की ओर खुल सकने की अपनी सामर्थ्य के ऊपर से विश्वास खो बैठोगे और काम के रास्ते में अनावश्यक कठिनाइयां पैदा कर लोगे।

३. भीतरी साधनों के बिना बाहरी साधना प्रभावकारी नहीं होती। एक हदतक क्रमशः प्रशिक्षण द्वारा शरीर को कार्य के लिये अधिक योग्य बनाया जा सकता है। लेकिन महत्त्वपूर्ण चीज है शरीर के अंदर काम के लिये शक्ति को उतारना और काम के लिये रस पैदा करना। तब शरीर अनिच्छा के बिना, थकान अनुभव किये बिना वह सब करेगा जिसकी उससे मांग की जाती है।

४. कार्य भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण करने का साधन है, लेकिन उसे आवश्यक आंतरिक चेतना के साथ करना चाहिये जिसमें बाहरी प्राण और शरीर भी भाग लें।

५. सतत आंतरिक विकास द्वारा ही हम सदा नवीनता और जीवन में अक्षय रस पा सकते हैं। औ कोई संतोषजनक उपाय नहीं है।

६. सभी अहंकारमय हेतुओं से मुक्त, वाणी और क्रिया में सत्य के प्रति सावधान, स्वाग्रह औ स्वेच्छाचार-रहित, सभी चीजों के बारे में चौकन्ना—यह है निर्दोष सेवक होने की शर्त।

७. यह बात बहुत सच है कि भौतिक चीजों के अंदर एक चेतना होती है जो अनुभव करती है औ सावधानी को प्रत्युत्तर देती है तथा असावधानी के साथ रख-रखाव और बुरी तरह से उपयोग के प्रति संवेदनशील होती है। इस बात को जानना या इसका अनुभव करना और इनके बारे में सावधान रहना सीखना—यह चेतना की एक महान् प्रगति है।

८. ज्ञान के लिये सीखना, प्रकृति और जीवन के रहस्यों को जानने के लिये पढ़ना, चेतना के विकसित करने के लिये अपने-आपको शिक्षित करना, आत्मप्रभुत्व पाने के लिये स्वयं को अनुशासित करना, अपनी दुर्बलताओं, अक्षमताओं और अज्ञान का अतिक्रम करने के लिये पढ़ना, जीवन में अधिक उच्च, विशाल, उदार और सच्चे उद्देश्यों की ओर बढ़ने के लिये अपने-आपको तैयार करना . . .।

९. प्रत्येक वस्तु को सद्भावनाभरी मुस्कान के साथ देखो, जो चीजें तुम्हें क्षुब्ध करती हैं उन्हें अपने लिये एक प्रकार की शिक्षा के रूप में ग्रहण करो और तब तुम बहुत अधिक शांति के साथ और बहुत अधिक प्रभावशाली रूप में जीवन-यापन करोगे, क्योंकि इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य जिस पूर्णता को स्वयं उपलब्ध करना चाहता है उसे दूसरों में न पाने के कारण होनेवाली नाराजगी और उत्तेजना में अपनी शक्ति का अधिकांश व्यर्थ नष्ट कर देता है।

१०. हम कहेंगे कि चीजों को जैसी वे हैं उसी रूप में जानने के लिये तुम्हें सर्वप्रथम अपनी अंतरात्मा के साथ युक्त होना चाहिये और यह कि अपनी अंतरात्मा के साथ युक्त होने के लिये तुम्हें बार-बार और लगन के साथ उसकी इच्छा करनी चाहिये।

११. अपने लक्ष्य पर एकाग्र होने की तुम्हारी क्षमता जितनी अधिक होगी तुम्हारा रास्ता भी उतना ही कम लम्बा होगा।

१२. मनुष्य जो कुछ थोड़ा-बहुत जानता है, उसे जीवन में उतारना ही अधिक जानने का उत्तम तरीका है, यह पथ पर आगे बढ़ने का सबसे अधिक शक्तिशाली उपाय है—बस, थोड़ा-सा जीवन में लाने का प्रयत्न हो, पर हो बहुत सच्चा। उदाहरणार्थ, कोई ऐसी चीज न करना जिसे तुम जानते हो कि वह नहीं करनी चाहिये। जब तुमने अपनी सत्ता में कोई दुर्बलता, कोई अयोग्यता देख ली है तो तुम्हें उसे दुबारा नहीं होने देना चाहिये।

१३. अज्ञानवश भूल करना, अचेतनतावश भूल करना अवश्य ही बहुत शोचनीय बात है, पर वह संशोधनीय है। परंतु यह जान लेने पर भी कि इसे नहीं करना चाहिये, भूल करते रहना एक प्रकार की कायरता है और इसे हमें कभी प्रश्रय नहीं देना चाहिये।

१४. जीवन में हमें वही करना चाहिये जो हमारे सामने करने लायक सच्ची चीज के रूप में प्रकट किया गया हो, चाहे दूसरे हमारी हंसी उड़ायें या आलोचना करें, क्योंकि लोगों के मतों का कोई मूल्य नहीं है, एकमात्र भागवत इच्छा ही सच्ची है और उसी की विजय होगी।

१५. भक्ति का स्वभाव है उसके प्रति आराधना, पूजा, आत्मदान जो तुमसे बड़ा है। प्रेम का स्वभाव है निकटता और ऐक्य के लिये भावना या खोज। आत्मदान दोनों का गुण है। योग में दोनों जरूरी हैं। हर एक को अपना पूरा बल तभी मिलता है जब उसे दूसरे का सहारा प्राप्त हो।

१६. मानव प्रेम के विपरीत, भागवत प्रेम गभीर, विस्तृत और नीरव होता है। तुम्हें उसकी अभिज्ञता पाने और उसे प्रत्युत्तर देने के लिये स्थिर और विस्तृत होना चाहिये। उसे अपना सारा उद्देश्य यही बनाना चाहिये कि वह समर्पित हो जाये ताकि वह एक पात्र और यंत्र बन सके—और वह यह बात भागवत प्रज्ञा और प्रेम के ऊपर छोड़ दे कि उसमें वह चीज भरी जाये जिसकी जरूरत है।

१७. साधना का रहस्य है अपने-आपको देना, मांगना या प्राप्त करना नहीं। तुम जितना दोगे उतनी ही ग्रहण करने की सामर्थ्य बढ़ेगी। लेकिन उसके लिये समस्त अधीरता और विद्रोह को जाना चाहिये। न पाने, सहायता न मिलने, प्रेम न पाने, चले जाने, जीवन या आध्यात्मिक प्रयास त्यागने के सभी सुझावों को अस्वीकार करना चाहिये।

१८. भागवत जीवन में सब कुछ भगवान् के लिये है अहंकार के लिये नहीं।

१९. अपने-आपमें, भावों में, प्रेम, विषाद, दुःख, निराशा, भावमय सुख इत्यादि में रस लेना और उन पर मानसिक प्राणिक जोर देना भावुकता कहलाता है। गहरी भावना में स्थिरता, संयम, पवित्र नियंत्रण और मर्यादा होने चाहियें। तुम्हें अपनी भावनाओं और अपनी संवेदनों के वश में नहीं होना चाहिये, बल्कि सदा अपना स्वामी होना चाहिये।

२०. बहुत स्थिर रहो। अपने मन और हृदय को श्रीअरविन्द की और मेरी ओर खुला रखो, अपने-आपको भीतरी नीरवता में खींच लो (जिसे सभी परिस्थितियों में पाया जा सकता है), इस नीरवता की गहराई में से मुझे पुकारो और तुम मुझे अपनी सत्ता के केंद्र में खड़ा देखोगे।

२१. भगवान् अनन्त और अनगिनत हैं अतः उनकी ओर जाने का मार्ग भी अनंत और अनगिनत हैं और

तुम्हारे भगवान् की ओर जाने का तरीका भी इस पर निर्भर है कि तुम भगवान् से क्या पाते और उनके बारे में क्या जानते हो। भक्त प्रेम और मधुरता से भरे भगवान् को पाता है, बुद्धिमान् व्यक्ति भगवान् को प्रज्ञा और ज्ञान से भरा पायेगा। जो डरता है वह डरावने भगवान् को पाता है और जो भगवान् पर विश्वास करता है वह भगवान् को मित्र और रक्षक के रूप में पाता है . . . और इस तरह संभावनाओं के अनंत प्रकार हैं।

२२. किसी चीज से न डरो : भगवान् हमेशा हर सच्ची अभीप्सा का उत्तर देते हैं और उन्हें पूरे हृदय के साथ जो कुछ दिया जाये उसे लेने से कभी इंकार नहीं करते।

२३. खोजने में एक आनंद है, प्रतीक्षा करने में आनंद है, अभीप्सा करने में आनंद है, कम-से-कम उतना ही अधिक जितना अधिकार कर लेने में है।

२४. सच्चा प्रेम अपनी तीव्रता में बहुत गहरा और बहुत अचंचल होता है। यह अवश्य हो सकता है कि वह अपने-आपको उल्लास द्वारा प्रकट न करे।

२५. यह योग केवल भागवत परम सत्य की—और किसी भी चीज की नहीं—खोज करने और उसे मूर्त रूप देने की अभीप्सा में जीवन के पूर्ण उत्सर्ग की मांग करता है। अपने जीवन को भगवान् तथा ऐसे किसी बाहरी लक्ष्य या गतिविधि में, जिसका परम सत्य की खोज से कोई वास्ता न हो, विभाजित करना इसे स्वीकार नहीं है। इस तरह की छोटी-सी चीज भी योग में सफलता को असंभव बना देगी।

२६. अंतर्दृष्टि के विस्तार और उसकी समग्रता के साथ कुछ ऐसी चीज आती है जो एक ऐसी करुणा है जो समझ सकती है—वह दया नहीं, जो श्रेष्ठ को अपने से हीन के लिये होती है : वह सच्ची दिव्य करुणा है जिसको इस बात की संपूर्ण समझ है कि हर चीज वही है जो होनी चाहिये।

२७. कामना करना असमर्थ होना है, अपनी सीमाओं को स्वीकार करना और उन्हें जीतने में अपनी अक्षमता मान लेना है।

२८. समस्त अभिव्यक्त विश्व तेरे वैभव का बखान करने और तेरे अद्भुत चमत्कारों की बात कहने के लिये पर्याप्त नहीं है, और काल की अनंतता में वह अधिकाधिक और अधिक-से-अधिक अच्छे रूप में, सनातन रूप से यही करने की कोशिश कर रहा है।

२९. व्यक्तिगत सत्ता एक भजन है जो नित नया होता रहता है, जिसे विश्व तेरी कल्पनातीत भव्यता को अर्पित करता है।

३०. हे प्रभो, यह दुःखी जगत् तेरे आगे मूक अनुनय-विनय में घुटने टेके है; उत्पीड़ित जड़ पदार्थ तेरे चरणों में शरण लेता है जो उसका अंतिम और एकमात्र आश्रय है और इस तरह याचना करते हुए वह तेरी आराधना करता है, तेरी जिसे न तो वह जानता ही है, न समझता है ! उसकी प्रार्थना ऐसे उठ रही है मानों मरनेवाले का आखिरी आर्तनाद हो, जो अदृश्य होता जा रहा है वह फिर से अस्पष्ट रूप में तेरे अंदर जीने की आशा का अनुभव करता है। पृथ्वी साष्टांग प्रणत होकर तेरे आदेश की प्रतीक्षा कर रही है। . . .

प्रकृति की प्रयोगशाला

कठोपनिषद् इस प्रकार के शक्तिशाली और सारगर्भित वचनों से गुंथा हुआ है जिनमें शब्द के एक बिंदु भर स्थान में अर्थ का ब्रह्मांड भरा है। इस तरह का एक काव्य है "योगो हि प्रभवाप्ययौ"। योग ही वस्तुओं का आरंभ और अंत है। पुराणों ने इस वचन पर बल दिया और उसे विकसित किया है। भगवान् ने योग से सृष्टि की रचना की और अंत में योग द्वारा ही वे उसे अपने अंदर खींच लेंगे। लेकिन केवल विश्व की मौलिक रचना और उसका अंतिम विलय नहीं बल्कि वस्तुओं के सभी महान् परिवर्तन, सृजन, विकास, विनाश भी योग की तात्त्विक प्रक्रिया तपस्या द्वारा संपादित होते हैं। इस प्राचीन दृष्टि के अनुसार योग अपने-आपको स्वयं प्रकृति की सभी प्रक्रियाओं में प्रभावकारी और शायद तात्त्विक और वास्तविक कार्यकर्त्री गतिविधि के रूप में प्रस्तुत करता है। अगर प्रकृति की सामान्य क्रियाओं में ऐसा है यानी समस्त शक्ति और सफलता का सच्चा कारण है भागवत ज्ञान और भागवत इच्छा का अपने-आपको वस्तुओं के संपर्क में रखना तो यही बात मानव क्रिया-कलाप में भी ठीक होनी चाहिये। विशेष रूप से यह बात मनोवैज्ञानिक अनुशासन की सभी सचेतन और स्वेच्छित प्रक्रियाओं के लिये भी ठीक होनी चाहिये। योग या योग पद्धतियां—जैसा कि हम कहते हैं—वास्तव में एक पूर्ण करनेवाली, आत्म-सचेतन स्वाभाविक प्रक्रिया के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकतीं, जिसका उद्देश्य है उन विषयों को तेजी से सफल करना जिन्हें साधारण प्राकृतिक क्रिया धीरे-धीरे मन्थर गति से सैकड़ों बल्कि हजारों वर्ष के विकास में पूरा करती है।

एक प्रत्यक्ष भेद है। योग में हमारे आगे भगवान् को लक्ष्य रूप में रखा गया है जब कि प्रकृति का लक्ष्य है अति-प्रकृति को संपन्न करना। लेकिन ये दोनों ही लक्ष्य एक ही रूप और एक ही अभिप्राय के हैं। भगवान् और अतिप्रकृति में एक वास्तविकता और दूसरा उस एक अलभ्य पूर्णता का औपचारिक आकारगत पक्ष है जिसकी ओर हमारे मानव आरोहण के अभियान को दिशा दी गयी है। मनुष्य के लिये योग धीमे विकासक्रम और लंबे पुनरावर्तनों से मुक्त और भागवत या मानव ज्ञान में आत्म-सचेतन प्रकृति की ऊर्ध्वमुखी प्रक्रिया है। भगवान् तत् हैं जो सर्व होते हुए भी सर्व का अतिक्रमण करते और उसके परे हैं। सत्ता में ऐसी कोई चीज नहीं जो भगवान् न हो लेकिन भगवान् केवल प्रतीक रूप में एक अपवाद हैं। वे अपनी चेतना में अपना प्रतिबिम्ब हैं। वे न तो सत् का योगफल हैं और न कुल योग में कोई चीज। दूसरे शब्दों में, हर वह चीज जिसका पृथक् अस्तित्व है, एक प्रतीक विशेष है। सत्ता का समस्त योगफल एक सामान्य प्रतीक है जो ऐसी सत्ता का, भगवान् का जगत्-चेतना की परिभाषा में अनुवाद करना चाहता है जिसका अनुवाद नहीं किया जा सकता। यह प्रयास के लिये निर्दिष्ट है लेकिन सफलता के लिये निर्दिष्ट नहीं है क्योंकि जिस क्षण इसमें सफलता मिल जायेगी वह 'अपना आप' होना बंद कर देगा और फिर से वही अननुवाद्य भगवान् बन जायेगा जिससे वह शुरू हुआ था। कोई भी प्रतीक भगवान् को पूरी तरह प्रकट करने के लिये अभिप्रेत नहीं होता, ऊंचे-से-ऊंचा प्रतीक भी नहीं। लेकिन उच्चतम प्रतीकों का यह सौभाग्य होता है कि वे भगवान् के अंदर अपनी पृथक् निश्चितता खो दें, प्रतीक होना छोड़कर चेतना में वही बन जायें जिसका वे प्रतीक हैं। मानवजाति भगवान् का ऐसा ही प्रतीक या एक ऐसी प्रतिच्छाया है। बाइबल की भाषा में हम भगवान् की प्रतिमा के रूप में बने हैं। इसका अर्थ विधिवत् प्रतिमा नहीं बल्कि उनकी सत्ता और उनके व्यक्तित्व की प्रतिमा है। हम उनके देवत्व के सारतत्त्व, उनके देवत्व के गुणों से बने हैं। हम दिव्य सत्ता के सांचे में

ढले हैं और हमारे ऊपर दिव्य सत्ता और दिव्य ज्ञान की छाप है।

हर चीज में जिसका प्रतीयमान अस्तित्व है, या मैं जिस तरह कहना अधिक पसंद करूंगा, वस्तुओं की प्रकृति में ज्यादा गहराई में जायें तो प्रतीक रूप में, सत्ता के दो भाग हैं, अपने-आप वस्तु और प्रतीक, आत्मा और प्रकृति, रेस (जो चीज है) और फेक्टम (जो चीज की जाती या बनायी जाती है), अक्षर सत्ता और क्षर संभवन, उसके लिये जो चीज अतिप्राकृतिक है और जो चीज प्राकृतिक है। सत्ता की हर अवस्था में कोई ऐसी शक्ति होती है जो उसे अपने परे जाने की प्रेरणा देती है। जड़ भौतिक, जीवन या प्राण बनने के लिये आगे बढ़ता है। प्राण मन बनने के लिये घोर परिश्रम करता है, मन आदर्श सत्य बनने के लिये अभीप्सा करता है। सत्य भागवत और अनन्त आत्मा बनने के लिये ऊपर उठता है। कारण यह है कि हर प्रतीक, भगवान् की आंशिक अभिव्यक्ति होने के नाते अपनी समग्र यथार्थता बनने के लिये आगे बढ़ता और प्रयास करता है। वह अपने आभासी स्व के परे जाकर अपना वास्तविक स्व बनने की अभीप्सा करता है, जो चीज बनी है वह उसकी ओर आकर्षित होती है जो है। संभवन सत् की ओर, प्राकृतिक अति प्राकृतिक की ओर, प्रतीक स्वयं-वस्तु की ओर और प्रकृति भगवान् की ओर आकर्षित होती है।

इस भांति, ऊर्ध्वमुखी गति इस जगत् में आत्म-परिपूर्ति का साधन है लेकिन यह सभी चीजों के लिये अनिवार्य नहीं है क्योंकि समस्त परिवर्तनशील अस्तित्व के लिये तीन शर्तें हैं: ऊपर की ओर आरोहण, रुकी हुई अवस्था, नीचे की ओर पतन। वस्तुतः अपनी निचली अवस्थाओं में प्रकृति समस्त राशि के साथ ऊपर उठती है परंतु अंतिम निस्तार अपने कुछ सीमित व्यक्तियों के लिये ही चाहती है। जड़ द्रव्य का हर रूप प्राण को संगठित नहीं करता यद्यपि जड़ द्रव्य का हर रूप जीवन के भाव से भरा होता है और उसमें मुक्ति और आत्माभिव्यक्ति की मांग भरी होती है। जीवन या प्राण का हर रूप मन को संगठित नहीं करता यद्यपि प्राण के हर रूप में मन होता है और आग्रह के साथ निस्तार और आत्माभिव्यक्ति के लिये खोज करता है। हर मानसिक प्राणी आदर्श सत्य के जीवन को संगठित करने के योग्य नहीं होता हालांकि, हर मानसिक प्राणी में, मनुष्य में ही नहीं कुत्ते, वानर और कीट तक में सत्य और ज्ञान की बंदी बनी हुई आत्मा अपने छुटकारे और अपनी अभिव्यक्ति की खोज करती है। अपनी रचना के हर उपलब्ध स्तर पर प्रकृति पहले तो उस स्तर पर अपने प्राणियों के स्वाभाविक अस्तित्व को बनाये रखने के बारे में निश्चित हो जाना चाहती है। इस पहले उद्देश्य के चरितार्थ हो जाने के बाद, उसमें सबसे अधिक उपयुक्त के द्वारा वह अपने कामों से बच निकलती, जो कुछ स्वयं उसने बनाया है उसे ढाकर परे की किसी चीज में पहुंचने की कोशिश करती है। जब वह मनुष्य तक पहुंच जाती है तो वह सत्ता के एक ऐसे प्रकार तक जा पहुंचती है जिसमें हर व्यक्ति तत्त्वतः प्राकृतिक ही नहीं बल्कि अपने अंदर के अतिप्राकृतिक को भी चरितार्थ कर सकता है। कुछ हेर-फेर के साथ गुणों के बारे में भी यही बात है लेकिन इस बारे में किसी और प्रसंग में ज्यादा विस्तार के साथ बोलना अच्छा रहेगा।

फिर भी, यह सच्ची बात है कि ऊर्ध्वमुखी गति ही प्रकृति की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गति है। रुकी हुई स्थिति एक निम्नतर परिपूर्ति है। अगर वह पूर्ण है तो वह क्षणिक पूर्णता है। यह संघर्ष के क्षेत्रों में और गुजरते हुए रूपों की शैली में पूर्णता है... ऊर्ध्वमुखी गति वह है जो मृत्यु से होकर अमरता की ओर ले जाती है। और शरीर के लिये इस धरती पर स्वर्ग के आनन्दमय और ज्योतिर्मय राज्य को चरितार्थ करती है। नीचे की ओर पतन, विनाश है, नरक है—महती विनाशः। गीता में इन

तीन गतियों की ओर संकेत किया है। मानवता को उत्तम, मध्यम और अधम तीन गतियों में से चुनाव करना होता है। इसमें से हर व्यक्ति को चुनाव करना होता है क्योंकि हम जैसा चुनाव करेंगे उसी के अनुसार भगवान् अपने-आपको हमारे अंदर चरितार्थ करेंगे—क्षणिक मानव तुष्टि, भागवत पूर्णता या हमारी मानवता का प्रकृति के सफल कूड़े करकट में विघटन।

तो प्रत्येक प्रकृति किसी अतिप्रकृति की ओर, किसी ऐसी चीज की ओर एक कदम है जो अपने लिये तो स्वाभाविक और प्राकृत है पर अपने से नीचे के लिये अति-प्राकृत है। प्राण भौतिक के लिये अति-प्राकृत है, मन प्राण के लिये अति-प्राकृत है। आदर्श सत्ता मन के लिये अति-प्राकृत है, अनन्त आत्मा आदर्श सत्ता के लिये अति-प्राकृत है। अतः हमें अति-प्राकृत को अपना लक्ष्य स्वीकार कर लेना चाहिये क्योंकि अपने से ठीक ऊपर के अति-प्राकृत की ओर हमारी प्रकृति का रुजहान, विश्व शक्ति की आज्ञा है जिसका पालन होना चाहिये, उसके विरुद्ध विद्रोह या उस पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। हमारा प्राकृत मन अपनी प्रकृति में ही रहना चाहता है और अतिप्राकृतिक के बारे में अविश्वासी रहता है। श्रद्धा और धर्म सर्व-प्रज्ञ शक्ति की प्राकृत और कोरे मानसिक मनुष्य को अपनी आदर्श अन्तरात्मा की प्रेरणाओं के लिये अभ्यस्त बनाने की व्यवस्थाएं हैं जो अब भी धुंधलके में से प्रकाश में, अंधेरे में टटोलने से सचाई में, इन्द्रिय संवेदनों और तर्कणा से अन्तर्दर्शन और प्रत्यक्ष अनुभूति में बच निकलना चाहता है। ऊर्ध्वमुखी वृत्ति हमारे ऊपर आरोपित की गयी है और हम स्थायी रूप से उसका प्रतिरोध नहीं कर सकते। किसी न किसी समय भगवान् हमें अपने हाथ में लेंगे और जबर्दस्ती उस खड़ी चढ़ाई पर उठा देंगे जो हमारी अपुनरुज्जीवित चाल के लिये बहुत कठिन है। जिस तरह निश्चित रूप से पशु मानवता की ओर विकसित होता है और अपने सबसे अधिक लचीले प्रकारों में एक प्रकार की मानवता प्राप्त कर लेता है, जिस तरह निश्चित रूप से एक बार चींटी और वानर के प्रकट होने पर मनुष्य का आना अवश्यंभावी था उसी तरह निश्चित रूप से मनुष्य देवत्व की ओर विकसित होता है और अपने अधिक योग्य प्रकारों में देवत्व के अधिक निकट पहुंच जाता है और एक प्रकार का देवत्व प्राप्त कर लेता है। अतः निश्चत रूप से प्रतिभावान और सन्त जन्म ले चुके हैं तो यह अनिवार्य है कि मनुष्य अपने अंदर और अपने अंदर के अतिमानव को, सिद्ध पुरुष को विकसित करे। इस निष्कर्ष के लिये किसी भविष्यसूचक शक्ति या अन्तःप्रकाश की जरूरत नहीं है। यह प्रकृति की विस्तृत प्रयोगशाला में हमारे लिये किये गये पिछले प्रदर्शनों का अनिवार्य परिणाम है।

—श्रीअरविन्द

———

ऐसा इसलिये होता है क्योंकि जो कुछ तुम्हें प्राप्त होता है उसका प्रभाव सामान्य चेतना के संपर्क में आने से नष्ट हो जाता है। जब आंतरिक सत्ता से तुम्हारा संपर्क स्थापित हो जायेगा तो यह प्रभाव भी अधिक समय तक बना रहेगा।

*

ये आंतरिक अनुभूतियां नीरवता में ही प्राप्त होती हैं। यदि व्यक्ति शांत-स्थिर नहीं है तो ये ढक-दब जाती हैं।

—श्रीअरविन्द

बैजू बावरे

हिन्दुस्तान में कई संगीतकारों ने अपने संगीत से ऐसा जादू फैलाया था कि वे लोक हृदय में हमेशा के लिये बस गये। यह भी स्वाभाविक था कि ऐसे संगीतकारों के बारे में बहुत-सी दंतकथाएं फैल जायें। ऐसी कथाओं के नायक भारत के दो महान् संगीतज्ञ हैं—तानसेन और बैजू बावरे। इन दोनों को लेकर बहुत सारी उल्टी-सीधी कहानियां प्रचलित हैं।

हमारे मन में सबसे पहले यह प्रश्न उठता है कि बावरे का मतलब क्या है ? बावरे ब्रज-भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है पागल। यह जानने के लिये कि बैजू के नाम के साथ यह कैसे जुड़ गया हमें उनके सारे जीवन की ओर देखना पड़ेगा।

बैजू का जन्म चांपानेर नामक गुजरात के एक छोटे गांव में हुआ था। उसका असली नाम बैजनाथ मिश्र था। पिता बचपन में ही छोड़ गये थे। कुलीन ब्राह्मण विधवा अपने लाल को बचपन से ही मुरलीमनोहर के चरित्र सुनाया करती थी। इस तरह बैजू को बचपन में ही भक्ति की दीक्षा मिली। कुछ समय बाद मां ने ठीक किया कि वह गोपालधाम वृन्दावन जाकर वहीं अपना जीवन व्यतीत करेगी। बैजू भी मां के साथ चल पड़ा। वृन्दावन तक आते-आते रास्ते में एक वन आया। मां-बेटे सुस्ताने के लिये वहीं बैठ गये। बैजू के सद्भाग्य से संगीत के उपासक स्वामी हरिदासजी इसी वन में रहते थे। स्वामीजी यमुना-स्नान करके लौट रहे थे कि उनकी दृष्टि बैजू पर पड़ी। उसकी छिपी हुई प्रतिभा को उन्होंने देखते ही पहचान लिया और बड़ी खुशी से गुदड़ी के इस लाल को अपना लिया।

मां ने बालक को स्वामीजी के हाथ में सौंप कर चैन की सांस ली और पूरे मन से बांकेबिहारी की पूजा में लीन हो गयी। बैजू स्वामीजी की छाया में दिनों-दिन बढ़ता गया और साथ-ही-साथ संगीत की साधना में भी आगे बढ़ा। यमुना के पवित्र तट पर बैठ कर उसने भक्ति रस का भी आकण्ठ पान किया। गुरु-कृपा से उसका मन संसार से हटकर कृष्ण-भक्ति में लीन हो गया। बैजू ने अपनी साधना और गुरु-कृपा से अनेक राग-रागिनियों को सिद्ध किया। राग सिद्ध करने का अर्थ है शास्त्र में वर्णित प्रभाव और परिणाम को ला सकना।

एक दिन बैजू यमुना के निर्जन तट पर बैठ कर केदार रागिनी का अभ्यास कर रहे थे। अचानक छोटे बच्चे के रोने की आवाज सुनकर उसे ढूंढ़ने लग गये। कुछ दूरी पर एक सुन्दर नवजात शिशु को देखा और उसे गुरु के पास ले आये और गुरु की आज्ञा पाकर उस बच्चे को अपना लिया। उसका नाम गोपाल रखा।

कुछ समय बाद कछवाहे के जमींदार राजसिंह ने खूब आग्रह करके बैजू और गोपाल को चन्देरी बुला लिया। चंदेरी में प्रभा और कला नामक दो अविवाहित बहनें बैजू से संगीत सीखने के लिये आने लगीं। कुछ समय बाद गोपाल और प्रभा का विवाह हो गया और उनके यहां एक कन्या ने जन्म लिया जिसका नाम बैजू ने मीरा रखा। अब मीरा ही बैजू के जीवन का केंद्र बन गयी। संसार से विरक्त बाबा फिर से उसके जाल में फंस गये।

ग्वालियर के राजा मानसिंह ने मरने से पहले मृगनयनी नाम की एक ग्राम-कन्या के साथ विवाह किया। ग्राम-कन्या होते हुए भी मृगनयनी राज-रानी बनने लायक थी। रूपवती तो थी ही, साथ ही वीरता की मूर्ति भी थी। अपने लक्ष्य-भेद के कारण वह भारतभर में प्रख्यात थी।

इन गुणों से प्रभावित होकर राजा मानसिंह ने उसे महारानी बनाने की ठानी। ऐसे शुभ अवसर पर

अन्य गुणियों के साथ बैजू को भी निमंत्रित किया। इनके अद्‌भुत संगीत से राजा-रानी दोनों ही प्रसन्न हुए। महारानी ने बैजू से संगीत सीखने की इच्छा प्रकट की। परिणामस्वरूप बैजू सपरिवार ग्वालियर में आकर रहने लगे।

उन दिनों ग्वालियर संगीत का गढ़ था। अच्छे-अच्छे गानेवाले वहीं पर रहते थे। कई ईर्ष्यावश बैजू को नीचा दिखाने की कोशिश करने लगे। स्पर्धा के इस गरम वातावरण में बैजू ने 'होरी गायकी' का आविष्कार किया। 'गूजरी टोडी', 'मृगरंजनी टोडी' तथा 'मंगल गैंजरी' रागों का भी आविष्कार किया। आजकल प्रचलित 'तालधमार' भी उन्हीं का आविष्कार है।

बैजू का दत्तक पुत्र गोपाल अधिकतर चंदेरी में ही रहता था। एक दिन वह कल्याण राग का आलाप कर रहा था कि कश्मीरी व्यापारियों ने उसकी आवाज सुनी। आवाज से मुग्ध होकर वे गोपाल को ढूंढ़ते हुए आये। गोपाल के सामने कश्मीर के महाराजा की उदारता का वर्णन करके उसे अपने साथ चलने के लिये ललचाने लगे। ऐश-आराम और बड़प्पन के लोभ में आकर गोपाल ने उनके साथ जाना स्वीकार किया। एक क्षण में ही बैजू के स्नेह को भूलकर उसे बताये बगैर ही वह कश्मीर की ओर चल पड़ा। प्रभा और मीरा ने समझाने की बहुतेरी कोशिश की किंतु विवश होकर उनको भी उसके साथ जाना पड़ा। गोपाल ने अपने जाने की खबर न बैजू को दी और न महाराज राजसिंह को।

ग्वालियर में बैजू की कला अपनी चरम सीमा पर पहुंची हुई थी। महाराजा मानसिंह और महारानी के संरक्षण में बैजू का विद्यापीठ बड़ी अच्छी तरह चल रहा था। ऐसी अवस्था में हठात् गोपाल और उसके परिवार के कश्मीर-गमन ने उसके दिल पर गहरी चोट की। जीवन का एकमात्र सहारा मीरा के चले जाने से उनका हृदय हाहाकार कर उठा। कलाकार का सुकुमार दिल इस आघात को सह न सका और बैजू बावरा बन गया। महाराजा-महारानी ने पूरी कोशिश की पर बैजू को ठीक न कर पाये। पागल बैजू जंगल, पहाड़ और नदी के किनारे अपने स्नेही जनों को ढूंढ़ता हुआ फिरा। वृन्दावन में बैजू के पागल होने का समाचार सुनकर स्वामी हरिदास बड़े चिंतित हो उठे। हरिदासजी जैसे विरक्त की आंखों में से भी अश्रुधारा बह चली। उन दिनों तानसेन हरिदास के पास ही रहते थे और संगीत-साधना में रत थे। गुरु की आंखों में आंसू देखकर तानसेन बैजू के बारे में जानने के लिये उत्सुक हो उठे। गुरुभाई के गुणों की कहानी सुनते-सुनते तानसेन ने बैजू को ढूंढ़ने का निश्चय कर लिया। वे घूमते-घूमते रीवा की राजधानी बांधोगढ़ पहुंचे। महाराज रामचंद्र बघेला ने तानसेन को दरबारी गायक बनाकर रखा। महाराजा और तानसेन के बीच अटूट स्नेह का बंधन स्थापित हो गया। सम्मान-स्नेह सब होते हुए भी तानसेन को शांति नहीं मिली। महाराजा से सलाह करके तानसेन संगीत-दिग्विजय की ओट में बैजू को ढूंढ़ने निकल पड़े। कई रियासतों में घूमे, कई संगीतज्ञों से मिले पर बैजू को तो मानों धरती ही निगल गयी थी।

बैजू घूमते-घामते फिर वृन्दावन आ पहुंचे। मां के स्नेह ने और गुरु के आशीर्वाद ने उन्माद को कम कर दिया। फिर भी उनका मन मीरा और गोपाल के बगैर छटपटाता ही रहा।

इधर तानसेन घूमते-घामते दिल्ली आ पहुंचे। उस समय अकबर गद्दी पर थे। तानसेन ने दरबारी संगीतज्ञों को प्रतियोगिता के लिये ललकारा। सभी गायक तानसेन की प्रतिभा और स्वर-माधुर्य से इतने प्रभावित थे कि किसी ने मुकाबिला नहीं किया। अकबर ने तानसेन को ही अपना श्रेष्ठ गायक बनाया। जब बैजू को तानसेन के संगीत-दिग्विजय के समाचार मिले तो उसके अंदर का कलाकार जाग उठा। दिल्ली आकर उसने तानसेन को ललकारा। सम्राट् अकबर की इच्छानुसार आगरे के पास एक वन में प्रतियोगिता निश्चित हुई।

प्रातःकाल ही अकबर, उसकी बेगमों, अमीर-उमरावों और दर्शकों की भीड़ लग गयी। बैजू भी अपने फटेहाल कपड़ों में आ पहुंचा। तानसेन बार-बार बैजू की ओर देखता था और उसका हृदय स्नेह से भर उठता था। उसे अभीतक मालूम ही न था कि वह जिस गुरु-भाई को ढूंढ़ता फिर रहा था वही सामने बैठा है। प्रतियोगिता शुरू हुई। तानसेन ने टोडी राग गाया। टोडी के स्वरों ने जैसे अनदेखे पाश में बांधकर मृगों को खींचा। चारों ओर से मृग भागे-भागे आये और यहां इकट्ठे हो गये। तानसेन ने एक मंत्रमुग्ध मृग के गले में हार पहना दिया। संगीत का जादू खत्म होते ही मृग चौकन्ने होकर भाग खड़े हुए। बैजू ने सम्राट् से कहा—तानसेन ने 'टोडी' गाकर मृगों को बुलाया। अब मैं मृगरंजनी टोडी गाकर सिर्फ उसी मृग को बुलाऊंगा जिसके गले में हार है। 'मृगरंजनी' के आलाप हवा में तैरते-इतराते रहे और अकेला वही मृग भागा हुआ बैजू के पास आ खड़ा हुआ। बैजू ने उसके गले में से हार निकाल लिया और अकबर के हाथ में दे दिया।

तानसेन को बहुत आश्चर्य हुआ। अकबर ने अब बैजू से कोई राग गाने के लिये कहा। बैजू बोला—अब मैं 'मालकोंश' राग गाऊंगा, उस राग से यह सामने पड़ा पत्थर पिघलकर मोम के समान नरम हो जायेगा। उस समय मैं अपना तानपुरा उसमें गाड़ दूंगा। राग खत्म होते ही पत्थर फिर से जम जायेगा। मैं चाहता हूं कि तानसेन तानपुरे को तोड़े बगैर उस पत्थर में से निकाल ले। बैजू ने 'मालकोंश' आरंभ किया। न मालूम वे कैसे स्वर थे जिनमें पत्थर को भी पिघलाने की शक्ति होगी। पर हां, पत्थर पिघलने लगा। यह देखते ही तानसेन दौड़कर बैजू के चरणों में गिर पड़ा। तानसेन बोला, मेरे आचार्य ने मुझे बताया है कि मुझसे बढ़कर कोई गायक है तो वह है मेरा गुरुभाई बैजूनाथ, आप कौन हैं? परिचय पाते ही बैजू ने तानसेन को गले लगा लिया। तानसेन की आंखें भर-भर आयीं।

उधर गोपाल व्यापारियों के साथ कश्मीर पहुंचा। महाराज ने उसके संगीत की तारीफ की और उसे अपना दरबारी गायक बनाया। महाराज ने कई बार गोपाल से गुरु का नाम पूछा, पर छोटे दिल का गोपाल यह स्वीकार नहीं करता था कि उसका कोई गुरु है।

बैजू को जब पता चला कि गोपाल कश्मीर महाराजा के यहां दरबारी गायक बन गया है तब वे कश्मीर की ओर चल पड़े। भरे दरबार में गोपाल ने उनके साथ संगीत-प्रतियोगिता की। बैजू ने जब अपने प्रभावशाली ध्रुपद सुनाये तो सारे दरबार के सामने गोपाल की पोल खुल गयी। महाराज तथा अन्य दरबारी समझ गये कि यही गोपाल के गुरु हैं। गोपाल की इस कृतघ्नता और बाद में उसकी मृत्यु से बैजू को इतने जोर का धक्का लगा कि उन्होंने संन्यास ले लिया और कश्मीर की पहाड़ियों में अदृश्य हो गये।

(संगीत कार्यालय, हाथरस द्वारा प्रकाशित 'हमारे संगीत-रत्न' के आधार पर)

——ꕥ——

कामवासना की प्रवृत्ति से छुटकारा तभी मिल सकता है जब प्राण में एक उच्चतर चेतना स्थायी रूप से स्थापित हो जाती है।

—श्रीअरविन्द

अमृत की यादें

(८)

अब मैंने अधिक समय श्रीअरविन्द के घर में और कम समय अपने घर में बिताना शुरू किया। मैं घर पर बस सोने और खाने जाता। मैंने मैट्रिक की परीक्षा की तैयारी शुरू की। पढ़ाई के बाद मेरा जो भी समय बचता वह श्रीअरविन्द के घर में ही बीतता। घर पर सब यही सोचते कि मैं परीक्षा की तैयारी में जी-जान से जुटा हूं। कभी-कभी मैं वहीं स्नान और भोजन भी कर लेता था, लेकिन श्रीअरविन्द के घर में रहनेवालों के साथ नहीं। विजयकान्त मेरे लिये रोटी और मक्खन ले आता था। मेरा हृदय आशा और उत्साह से भरा हुआ था इसलिये ज्यादा खाने की जरूरत न मालूम पड़ती थी, थोड़ा-बहुत नाश्ता ही काफी हो जाता था। जब विजयकान्त के साथ मेरा संबंध बढ़ने लगा तो हम दोनों ने कभी-कदास आस-पास के इलाकों में सैर के लिये जाना भी शुरू किया। अब मैंने भारती के यहां जाना काफी कम कर दिया क्योंकि मैं धीरे-धीरे श्रीअरविन्द के यहीं रमता चला जा रहा था।

एक दिन दोपहर को मैं श्रीअरविन्द के घर जा रहा था। सड़क एकदम सुनसान थी। उस समय एक ऐसा अपार्थिव प्रकाश चारों ओर फैला हुआ था जिससे धरती का कोना-कोना चमक उठा था। अंधकार को देश-निकाला दे दिया गया था। मानों सूरज के पीछे भगवान् श्रीकृष्ण उपस्थित थे जिन्होंने धरती से धूल का, अंधकार का कण-कण विलीन कर दिया हो। ऐसे स्पन्दनों को हृदय में संजोये हुए मैं बड़ी प्रसन्नता से भरा हुआ श्रीअरविन्द के कमरे में जा पहुंचा। विजयकान्त मेरे लिये बरामदे में खड़ा राह देख रहा था। उसने मुझे पुकारा और कहा—मैंने श्रीअरविन्द को तुम्हारे बारे में बतलाया और यह भी कहा कि तुम उनको देखने के लिये उत्सुक हो। मैं तुम्हें बुलवाना ही चाहता था पर यह सोच रहा था कि कैसे बुलाऊं ? चलो ऊपर चलें। दोपहर के बारह, सवा बारह बजे थे। अब अगर मैं उस स्थिति के बारे में सोचूं तो मुझे लगता है कि मैं सचमुच अंधेरी चेतना से निकलकर सूर्य की ओर बढ़ रहा था। ओह ! वह दृश्य—मैं पहली बार वहां जा रहा था। सभी दरवाजे खुले हुए थे। कोई स्थान प्रकाश से छिपा न था। मेरा हृदय भी सभी दुविधाओं और चिंताओं से मुक्त था। लो, श्रीअरविन्द सामने खड़े थे, उनके छोटे-छोटे नेत्र मुझे दो कमलों के जैसे लग रहे थे। उनके कुछ केश वक्ष पर फैले थे और कुछ पीठ पर। शायद वे स्नान करके आये थे और उनके बाल भीगे थे और उनमें से पानी टपक रहा था। उनकी दिव्य दृष्टि अभी तक मेरी ओर न मुड़ी थी।

विजयकान्त पहले आगे बढ़ा और मैं उसके पीछे चला। मैं उस गलियारे में चला। शायद बीस फुट की दूरी में श्रीअरविन्द की नजर मेरे ऊपर पड़ी। पता नहीं मैं उनकी तरफ बढ़ा या उछल कर गया। मुझे बस यही याद है कि मेरे अंदर चारों ओर दीपक जल उठे। बिना जाने मेरी सत्ता नीरवता के सागर में तैरने लगी। मेरा मन, प्राण, शरीर सब उनके सम्मुख प्रणिपात हो गये। उन्होंने मुझे अपने हस्तकमल से स्पर्श किया और मुझे खड़ा कर दिया। मैंने उनके दिये हुए अमृत का पान किया। पता नहीं क्यों मेरी आंखों से आंसुओं की धारा बह चली। क्या वे आनन्द के आंसू थे जो इन्द्रलोक का आनन्द पाकर बह रहे थे या फिर अहंकार अपने जीवन का अंत देखकर दुःखी हो रहा था। मैं नहीं जानता।

इस दृश्य को देखते समय मेरी नजरों के सामने सुदूर अतीत का एक दृश्य उपस्थित हो गया—हमारा गांव, गांव के बाहर एक मिट्टी का टीला, और चारों ओर घने लंबे, आसमान से बातें करते हुए

वृक्ष, पास ही कमल और कुमुद से खिला हुआ सुन्दर सरोवर। वहीं खड़ा था गांव का पीपल का पेड़ और दूसरी ओर था बरगद का वृक्ष। गांव के कुछ ब्राह्मण संध्या-वंदन के लिये यहां आया करते क्योंकि यहां गणेशजी का एक छोटा-सा मंदिर भी बसा था।

एक दिन मैं उसी टीले पर बैठा उतरती हुई संध्या के अंधकार के सन्नाटे में बैठा मन ही मन कुछ गुन रहा था और देख रहा था आकाश में टिमटिमाते तारों को कि अचानक दूर क्षितिज पर एक चमकदार गोला उभरा। नीली आभा से प्रकाशित वह गोला ठीक मेरे पास आ गया, उसके प्रकाश में मैं नहा उठा और तुरंत मेरे तन-मन और हृदय में एक ऐसी शांति, ऐसा प्रकाश और ऐसा आनंद उतर आया जिसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता। धीरे-धीरे वह गोला तैरता हुआ दक्षिण दिशा में जाकर अन्तर्धान हो गया।

उस समय तक श्रीअरविन्द पांडिचेरी में नहीं आये थे। उच्चतर क्षेत्रों की सत्ताएं पांडिचेरी शहर को इस धन्य नागरिक का स्वागत करने के लिये तैयार कर रही थीं।

जब मैंने उस दिन पहली बार श्रीअरविन्द के चरणों में दण्डवत् प्रणाम किया तो मैंने एक बार फिर उसी चमकते हुए नीलाभ गोले को अपने बहुत निकट पाया जो मेरे हृदयाकाश में उभर आया था और वही मुझे इस दक्षिण दिशा में ले आया था। वही मेरा ध्रुवतारा था जिसने मुझे लक्ष्य तक पहुंचा दिया था।

(क्रमशः)

'श्रीअरविन्द के साथ बातचीत' :

दो कहानियां

२ मार्च, १९४०

माताजी—(ग्यारह बजे श्रीअरविन्द के कमरे में आकर) क्या आप एक कहानी सुनना चाहेंगे?

श्रीअरविन्द—हां, किस बारे में?

माताजी—आरूमे (भोजनालय का मकान) में हुई चोरी के बारे में। कहते हैं एक आदमी भोजनालय की दीवार से सटा हुआ, धुत् पिये हुए पड़ा था और उसके पास ही एक भूसे से भरा हुआ थैला पड़ा था। समय लगभग सवेरे के साढ़े आठ का था। कुछ साधकों ने उसे देखा और पहचान लिया कि वह भोजनालय का ही एक सफाई करनेवाला नौकर था। उन्हें उस पर दया आ गयी लेकिन उनकी समझ में न आया कि क्या करें! वे अमृत के पास आये। उसने एक रिक्शा किराये पर ली और उस आदमी को रिक्शा में डालकर घर भेज दिया। सवेरे द्युमान् ने देखा कि भूसे का एक थैला भोजनालय से गायब था, उसने दीवार पर आदमी के पैरों के निशान देखे। स्पष्ट था कि आदमी ने भोजनालय की दीवार पर चढ़ने की कोशिश की, गिर गया और पिये हुए पड़ा रहा तो इन लोगों ने पहले तो चोर को छोड़ दिया फिर अपनी ओर से रिक्शा के पैसे देकर उसे घर पहुंचाया और साथ ही भूसे का थैला भी! (श्रीअरविन्द हंसने लगे)

बाद में स्पंज के समय श्रीअरविन्द ने पुराणी से कहा, जो पहले वहां न थे।

श्रीअरविन्द—क्या तुमने भोजनालय की बौद्ध दया की कहानी सुनी ?

पु—जी नहीं, क्या यह भोजनालय में हुई चोरी के बारे में है ? मैंने अमृत को इसके बारे में हल्ला मचाते हुए देखा था।

श्रीअरविन्द—(पुराणी को कहानी सुनाकर) अमृत ने करुणावश रिक्शावाले का किराया भी दे दिया।

स—उस समय मैं भी वहीं था।

श्रीअरविन्द—ओह, तो तुम भी उन बौद्धों में से एक थे ?

स—जी नहीं भगवन्, मैं केवल श्रोता था। यह सारी बात चारुदत्त की कहानी जैसी लगती है।

श्रीअरविन्द—हां, बस इसमें इतनी ही कमी है कि यह सच्ची है। सुना है बेनाबेलिस के घर में और पुलिस अफसर के यहां भी चोरी हुई है। यह पुलिस की अक्षमता का एक प्रमाण है !

स—चारुदत्त की कहानियां पुरानी घटनाओं पर प्रकाश डालती हैं।

श्रीअरविन्द—हां, ऐसा प्रकाश जो कभी समुद्र या जमीन पर नहीं दिखायी देता !

पु—क्या मैं आज 'ब' की एक कहानी सुनाऊं ? सुधीर ने मुझसे कहा है कि एक बार 'ब' उसके घर मेहमान बनकर आया। सुधीर ने उससे एक सीधा प्रश्न किया जिसका वह सीधा उत्तर चाहता था कि वह पांडिचेरी क्यों छोड़ आया, "जब कि और लोग तो पांडिचेरी की ओर दौड़ रहे हैं", तो फिर तुम क्यों वहां से चले आये ? तुम्हें बहुत-सी अनुभूतियां हो रही थीं और तुम काफी समय तक वहां रह चुके थे, फिर भी तुम क्यों चले आये ? सच सच बता दो।

श्रीअरविन्द—(मजा लेते हुए) हां तो ? उसने क्या जवाब दिया ?

पु—पहले दिन वह सुधीर से कतराता रहा। अगली बार सुधीर ने फिर वही प्रश्न किया तो वह बोला, "कुछ व्यक्तिगत कठिनाइयों के कारण।" माताजी ने बार-बार उससे कहा था, 'मत जाओ, मत जाओ,' फिर भी वहां से जाते समय विल्लुपुरम तक उसे अनुभूतियां होती रहीं, मानों माताजी उसे सुनहरे अंडे में लिये जा रही थीं और कह रही थीं "मत जाओ, मत जाओ।" परंतु उसने नहीं सुना। वह पथ-भ्रष्ट हो गया था और अब उसका फल भोग रहा है।

शाम को

पु—मैंने कृष्णलाल से पूछा, 'भैंसे के चित्र के बारे में तुम्हारा कोई विचार था ?'

श्रीअरविन्द—(मुस्कुराते हुए) हां, तो उसने क्या कहा ?

पु—उसने कहा, पहले वह एक बकरी का चित्र आंकना चाहता था। क्योंकि उसने सुना था कि कोई आश्रम को एक बकरी देना चाहता था। वह बकरी के आने की राह देख रहा था। इस बीच उसने एक ही दिन में यह भैंस बना डाली।

श्रीअरविन्द—कुछ भी हो चित्र अच्छा बना है।

पु—जैसा कि आपने कहा, वह उसमें चैत्य परिवर्तन दिखाना चाहता था।

श्रीअरविन्द—(अपने मजाक का अनुमोदन सुनकर हंस पड़ते हैं) यह भली-चंगी गाय-सी लगती है और कुछ-कुछ कुत्ते जैसी भी। लेकिन उसमें चैत्य हर्ष से ज्यादा चैत्य दुःख लगता है। वह संसार के पापों से दुःखी है। (हंसी)

क्या तुमने सुना है कि जरा-से भूसे के लिये चोर को काफी सहना पड़ा। उसे पुलिस को सौंप दिया गया, नौकरी भी गयी और दो रुपये भी गये। शायद रिक्शावाले ने उसे दो रुपयों से वंचित कर दिया।

स—भगवन्, मुझे उस नौकर पर ज्यादा शंका है जो उसे पहुंचाने गया था। लेकिन जब दरवाजा खुला था तो वह दीवार पर क्यों चढ़ा ?

श्रीअरविन्द—वह इतना पिये हुए था कि समझ न पाया।

पु—कहते हैं कि उस थैले में कुछ और चीजें भी मिलीं।

श्रीअरविन्द—अमृत की पुरानी कमीज, जो उस आदमी के कहे अनुसार अमृत ने उसे दी थी। उसने पुलिस के सामने उस थैले के बारे में सारी बातें स्वीकार कर लीं लेकिन कहा कि वह इतना पिये हुए था कि उसे पता ही नहीं कि वह क्या कर रहा था। उसके बारे में कर्म का क्या विधान होगा ? उसने अपने कर्म के लिये इस जीवन में बहुत चुका दिया और क्या अगले जन्म में उसे फिर चुकाना पड़ेगा ?

स—नहीं, भगवन्, वह रद्द हो गया। (हंसी)

हमारे भोजनालय के पास एक आदमी शराब की दुकान के आगे घूमता रहता है और शराब का खूब उपयोग करता है। डॉ० बेचरलाल को उसकी बहुत चिंता है और कहते हैं कि वह आदमी यकृत बिगड़ जाने के कारण मर न जाये।

पु—और शराब के बिना भी तो वह मर सकता है।

श्रीअरविन्द—या यकृत के साथ भी ! (हंसी)

—नीरदवरण

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार

(२३)

जब मैं पहले-पहल यहां आया तो सत्येन ने मुझसे कहा कि श्रीअरविन्द ने कहा है, "इस्लाम अरब आदि देशों के लिये ठीक है, परंतु वह भारत में क्यों आया ?" क्या इस्लाम के पास भारत के लिये कोई संदेश न था ? क्या यह आश्रम की शिक्षा है ?

नहीं, हर्गिज नहीं। यह मेरे दृष्टिकोण का एकदम गलत मतलब निकालना है। मैंने स्पष्ट तौर पर लिखा है कि भारत में इतने सारे धर्मों का आगमन भारत की आध्यात्मिक नियति का एक भाग था और यहां पर जो काम होना है उसके लिये बहुत लाभदायी था।

मैं नहीं कहता कि यहां के सभी लोगों में इस्लाम-विरोधी यह भावना है, लेकिन मैं यह नहीं सोच सकता कि ऐसा कोई है जिसके अंदर ऐसे विचार नहीं आ सकते। कुछ पुराने साधक अपने-आपको इससे अलग रख सकते और किसी और चीज पर एकाग्र हो सकते हैं, लेकिन औरों के बारे में मुझे पता नहीं। इस्लाम के दृष्टिकोण से चौंकानेवाला यही कारण पर्याप्त है कि धोती पहनने के कारण मुझे जो प्रशंसा मिली वह इस भाव का स्पष्ट प्रमाण है कि लोग हिन्दू मुसलमान की इस बाधा को लांघ नहीं पाये हैं।

धोती का हिन्दू धर्म या इस्लाम के साथ क्या संबंध है ? हजारों हिन्दू कभी धोती नहीं पहनते, वे पाजामा पहनते हैं। रीअ, आर्जव, शुचि (तीन पाश्चात्य आश्रमवासी) हमेशा धोती पहनते हैं क्योंकि उन्हें यहां के मौसम के लिये वह सुविधाजनक और सुखद लगती है। उन्हें हिन्दू धर्म की जरा भी परवाह नहीं है।

राजनीति में हिन्दू मानसिकता इतनी है कि वे मुस्लिम प्रभाव की अपेक्षा अंग्रेजी राज को कहीं ज्यादा पसंद करेंगे।

राष्ट्रवादियों का यह दृष्टिकोण कभी न था, कट्टर हिन्दू भी अंग्रेजों की अपेक्षा मुस्लिम प्रभाव को ज्यादा पसंद करते।

चाहे स्वराज लंबे समय के लिये स्थगित हो जाये फिर भी आश्रमवाले इसकी चिन्ता न करेंगे, लेकिन अगर मुसलमानों को कुछ अधिकार मिल जायें तो यह उन्हें पसंद न होगा।

आश्रम का राजनीति से कोई सरोकार नहीं है—लेकिन प्रमाण के बिना मैं यह नहीं मान सकता कि हमारे लोगों की ऐसी मानसिकता है।

भारत में इस्लाम का आगमन भगवान् के बिना चाहे नहीं हो सकता था। उनके युद्ध भी पूरी तरह श्रद्धा पर आधारित होते थे। और फिर इस्लाम का यह सरल सूत्र "ला इलाहऽ इल्लल्लाह" (अल्लाह के सिवा और कोई भगवान् नहीं हैं) पूरी तरह सच नहीं है क्या ? क्या यह सर्वोत्तम सूत्र, उपलब्धि का एकमात्र रास्ता नहीं है ? क्या यह वह महानतम घोषणा नहीं है जो प्रत्येक जिज्ञासु को कभी-न-कभी करनी होती है ? मेरा मतलब है यह विश्वास कि "एक ही अल्लाह है, केवल वही है।"

हर एक जिज्ञासु स्वीकार करता है कि भगवान् एक हैं, परंतु किसी भी सूत्र को मात्र दोहराने से वह उपलब्ध नहीं हो जाता।

अगर यहां के साधक हिन्दू ही रहें और अगर यही उनके जीवन का उद्देश्य हो तो मैं भी कितना मूर्ख होऊंगा कि अपने-आपको इस तरह परिवर्तित होने दूं और यह मान लूं कि मेरे अंदर इस तरह काम किया जा रहा है।

और फिर जब श्रीअरविन्द लिखते हैं कि वे यहां क्या अभिव्यक्त करनेवाले हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि ऐसी बड़ी चीजों में यह पक्षपात क्यों है। ऐसी सृष्टि क्यों बनी जिसमें से मुसलमानों को अलग कर दिया गया और उनके ऊपर ऐसा भार क्यों लाद दिया गया जो और किसी को नहीं ढोना पड़ता। अपने भूतकाल को त्याग देना, भुला देना और कोशिश करना कि उसके बारे में सोचा भी न जाये, एक बात है लेकिन दूसरों की राह खुद को चलाना बहुत अधिक कठिन और लगभग लज्जाजनक है। उस पर से मेरा विश्वास उठ गया है।

यह मेरे लिये नयी बात है कि मैंने मुसलमानों को योग से अलग कर रखा है। मैंने मुसलमानों को उसी तरह अलग नहीं किया है जैसे यूरोपियन या ईसाइयों को नहीं किया। रही बात अपने भूतकाल को छोड़ देने की, यदि इसका मतलब है धर्म में प्राचीन रूपों को त्यागना तो यह यहां हिन्दुओं द्वारा भी उतना ही छोड़ा जाता है जितना मुसलमानों द्वारा। यहां हर एक हिन्दू, ऐसे भी जो किसी समय कट्टर ब्राह्मण थे, और उसी रूप में बड़े हुए हैं, वे जात-पांत के सभी बंधन तोड़ देते हैं और 'परिया' (निम्न जाति) लोगों का परोसा हुआ भोजन समान भाव से स्वीकार करते हैं; मुसलमानों, ईसाइयों और विदेशियों के साथ मिलते-जुलते हैं, मन्दिरों में पूजा करना, सान्ध्य-वन्दन आदि छोड़ देते हैं। यूरोप के किसी अहिन्दू को अपना आध्यात्मिक नेता मान लेते हैं। ये ऐसी चीजें हैं जो अपने-आपको हिन्दू कहानेवाले या हिन्दुत्व को अपना लक्ष्य माननेवाले कभी नहीं करेंगे। वे ऐसा इसलिये करते हैं क्योंकि यहां एक उच्चतर आदर्श की ओर देखने की आशा की जाती है जिनमें इन चीजों का कोई मूल्य नहीं है। हिन्दू धर्म का जो कुछ रखा गया है वह वेदान्त और योग है जिसमें हिन्दू मत इस्लाम के सूफियों और ईसाइयों के साथ एकमत है, लेकिन यहां भी वेदान्त और योग भूतकाल की परंपरा के अनुसार नहीं हैं बल्कि अधिक विस्तृत अर्थ में तथा कट्टर हिन्दुओं के जो मत हैं उनसे भिन्न अर्थ में हैं। मैंने संस्कृत परिभाषा और रूपक इसलिये रखे हैं कि मैं उनसे परिचित हूं, मैं फारसी और अरबी नहीं जानता। मुझे इसमें जरा भी आपत्ति न होगी कि कोई इस्लाम स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त करे यदि वे सूफी सम्प्रदाय के तथ्यों की भांति सत्य से मेल खाते हों। दूसरी ओर अगर भगवान् की यह इच्छा हो कि हिन्दू-धर्म टूट-फूट कर नष्ट हो जाये और धरती से उठ जाये तब भी मुझे कोई आपत्ति न होगी। पुराने रूपों और आकारों के साथ मुझे कोई आसक्ति नहीं है, जो सत्य है वह हमेशा बना रहेगा; केवल सत्य का ही मूल्य है।

१७ नवम्बर १९३२

आज सवेरे मेरे अंदर बड़ा परिवर्तन आया, मानों कोई शक्ति काम कर रही थी। कहीं पर मेरे अंदर सत्य के लिये निष्कपटता है और उस पर श्रद्धा। मुझे चुप रहने और उसके साथ संपर्क बनाये रखने की जरूरत मालूम होती है।

अशान्त विचारों और आवेगों से पिण्ड छुड़ाने के लिये तुम्हें इसी की जरूरत है।

१८ नवम्बर १९३२

आज मेरे अंदर यह विचार आया कि अगर मैं चुपचाप रहूं तो हो सकता है कि मैं कुछ ग्रहण कर सकूं, इसलिये ध्यान के समय मैंने कोई प्रयास न किया और हर चीज को यूं ही छोड़ दिया। संभवतः चूंकि मैंने कोई प्रयास न किया इसलिये मैं शांत रहा और एक तरह के आनंद से खुश रहा।

हां, यही बात है। प्रयास संघर्ष और प्रतिक्रिया लाता है। प्रसन्नचित्त और शांत उद्घाटन बढ़ती हुई चेतना को लेकर आता है।

२४ नवम्बर १९३२

मैं जेब-खर्च लेना बंद कर देना चाहता हूं, जैसा और कई लोग कर चुके हैं। मैं कुछ महीनों तक केवल मजे के लिये लेता रहा, यद्यपि उसका कोई उपयोग न था। शायद अब इसको बंद कर देना अच्छा है, शायद साधना के साथ इसका कोई संबंध न हो।

बहुत अच्छा—अगर तुम्हारी यही इच्छा है—प्रायः इससे साधना में सहायता मिलती है।
३० नवम्बर १९३२

—श्रीअरविन्द

प्राण

प्राणिक चेतना में कोई ऐसी चीज होती है जिसे असुविधा का अनुभव होगा यदि जीवन में कष्ट न हो। वह भौतिक शरीर है जिसे कष्ट से डर लगता है और वह उससे घृणा करता है, लेकिन प्राण उसे जीवन-लीला के एक भाग के रूप में लेता है।

*

तुम्हारे अंदर जो चीज कष्ट में रस लेती है और उसे चाहती है वह मानव-प्राण का एक भाग है—हम इन चीजों को कपट और प्राण का विकृत मोड़ कहते हैं। वह दुःख और कष्ट के विरुद्ध नीरव-पुकार करती है, वह भगवान्, जीवन और हर चीज पर यह आरोप लगाती है कि वह उसे यातना दे रही है, लेकिन दुःख और कष्ट का अधिकतम भाग प्राण की किसी ऐसी विकृत चीज के कारण आता और बना रहता है जो उन्हें चाहता है! प्राण में से इस तत्त्व को पूरी तरह निकाल बाहर करना चाहिये।

*

जब चीजें आसानी से चल रही हों तो प्राण स्वस्थ हो सकता है, लेकिन जब कठिनाइयां प्रबल हो उठती हैं तो वह डूब जाता और निष्क्रिय पड़ जाता है। साथ ही यदि प्राणिक अहं के आगे चारा डाला जाये तो वह उत्साहपूर्ण और सक्रिय बन सकता है।

*

जब कोई प्राणिक तत्त्व निराश या असंतुष्ट होता है, जब उसे बदलने के लिये कहा जाता है, उस पर जोर डाला जाता है परंतु वह इच्छुक नहीं होता तो उसके अंदर प्राण को उत्तर न देने या असहयोग करने की वृत्ति होती है और शरीर प्राणिक प्रेरणा के बिना आलसी और संज्ञाहीन रह जाता है। चैत्य दबाव के साथ प्रतिरोध का यह अवशेष निकल जायेगा।

*

रेगिस्तान का-सा भाव प्राण के प्रतिरोध की वजह से आता है, प्राण चाहता है कि जीवन पर कामना का शासन रहे। अगर वह न होने दिया जाये तो वह जीवन को मरुभूमि जैसा मानता है और मन में यही संस्कार डाल देता है।

*

स्वभाव की साधारण ताजगी, ऊर्जा और उत्साह या तो प्रत्यक्ष प्राण से आते हैं जब वह अपनी सहज वृत्तियों या अंतःप्रेरणाओं को शांत करने में लगा हो या अप्रत्यक्ष रूप से तब जब वह मानसिक, भौतिक या आध्यात्मिक क्रिया-कलापों के साथ सहयोग करता या उन्हें स्वीकृति देता हो। अगर प्राण विरोध करे तो विद्रोह और संघर्ष होते हैं। अगर प्राण अपने ही आवेशों या सहज वृत्तियों पर आग्रह न करे परंतु सहयोग भी न करे तो शुष्कता या उदासीन स्थिति आती है। शुष्कता तब आती है जब प्राण निष्क्रिय निश्चेष्ट रूप से अनिच्छुक होता है, उसे कोई रुचि नहीं होती। उदासीन स्थिति तब होती है जब वह न तो स्वीकृति देता है और न अनिच्छुक होता है—केवल निष्क्रिय और निश्चेष्ट। फिर भी ऊपर से महानतर प्रवाह द्वारा—जो, प्राण को निष्क्रिय नहीं तो कम-से-कम निश्चेष्ट रूप से सहमत तो कर ही लेता है—यह उदासीन स्थिति गहरी होकर वास्तविक अचंचलता तथा शांति में स्थिर हो सकती है। प्राण की सक्रिय रुचि और स्वीकृति द्वारा शांति आह्लादकारी और हर्षपूर्ण शांति या एक ऐसी सबल शांति बन जाती है जो क्रिया या सक्रिय अनुभूति को सहारा देती और उसमें प्रवेश करती है।

*

कुछ लोग अपने प्राण में ठोस और दृढ़ होते हैं, वे ही स्थिर रह सकते हैं—अन्य अधिक अस्थिर होते हैं और आवेशों द्वारा बहुत आसानी से विचलित हो जाते हैं, ऐसे लोग ही कभी उत्साहशील होते हैं तो कभी थकान में डूब जाते हैं। यह स्वभाव की बात है। दूसरी ओर अस्थिर व्यक्ति बहुधा तीव्रतर उत्साह पाने में सक्षम होते हैं ताकि, अगर वे चाहें तो अपने ही तरीके से अधिक तेजी के साथ प्रगति कर सकें। बहरहाल, इन सब चीजों का उपचार है मन तथा प्राण के ऊपर अपनी सच्ची आत्मा को पाना। अतः हमें स्वभाव से बंधना नहीं चाहिये।

—श्रीअरविन्द

— — ❦ — —

चमत्कार दिखानेवालों के पास मत जाओ। वे सत्य के पथ से भटक गये हैं। उनका मन उन गुह्य शक्तियों में उलझ गया है जो ब्रह्म की ओर बढ़नेवाले यात्रियों के लिये मार्ग में प्रलोभन बनी खड़ी रहती हैं।

—श्रीरामकृष्ण

अहं की गांठ को काट दो

मधुर मां, 'अहं की गांठ' का क्या मतलब है ?

गांठ ? ओह ! यह एक रूपक है। यह एक ऐसी चीज है जो तुमसे चिपट जाती है और एक अच्छी तरह बंधी हुई रस्सी की गांठ की तरह कसकर तुम्हें बांधे रखती है। इसलिये, हमेशा कहा जाता है कि सचमुच प्रगति करने के लिये पहली चीज है अहं की गांठ को काटना। यह बहुत अर्थपूर्ण है और एक अच्छा चित्र बनाता है, है न ?—व्यक्ति बंधा हुआ है, अपने अंदर बंद है। जैसे जेल में होता है उस तरह बंधा हुआ है, ऐसी गांठों से बंधा है जो सत्ता के सभी भागों को साथ बांधे रखती हैं; यही चीज उन्हें संबद्ध रखती है, साथ ही यह एक सीमा है जो सीमित करती है। तुम उन सब शक्तियों को ग्रहण नहीं कर सकते जिन्हें तुम पाना चाहते हो, क्योंकि तुम अपने-आपको बांधनेवाली रस्सी की गांठों के ढेर से बने खोल में बंद हो।

मधुर मां, हम अहंकार की गांठ कैसे काट सकते हैं ?

उसे कैसे काटा जाये ? तलवार उठाओ और लगाओ हाथ (हंसी), जब तुम उसके बारे में सचेतन हो जाओ। क्योंकि साधारणतः, ऐसा नहीं होता; हम इसे बिलकुल सामान्य समझते हैं, जो हमारे साथ होता है; और वास्तव में यह है भी सामान्य, साथ ही हम इसे काफी अच्छा भी समझते हैं। हां, तो शुरू में तुम्हारे अंदर बहुत स्पष्ट दृष्टि होनी चाहिये जो यह जान सके कि तुम इन सब गांठों में बंद हो जो तुम्हें जकड़े हुए हैं। और फिर, जब तुम्हें इस बात का भान हो जाये कि कोई चीज वहां पर बहुत सख्ती से बंद है—इतनी सख्ती से कि उसे हिलाने के प्रयास भी व्यर्थ गये—तब तुम कल्पना करते हो कि तुम्हारा संकल्प एक बहुत तेज धारवाली तलवार है, फिर, अपनी सारी शक्ति लगाकर तुम इस गांठ पर एक वार करते हो (निश्चय ही, कल्पना में, तुम सचमुच तलवार नहीं उठा लेते), और इससे परिणाम आता है। निश्चय ही तुम यह काम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से कर सकते हो, इस गांठ को बनानेवाले सभी तत्त्वों की खोज कर सकते हो, प्रतिरोधों, आदतों, पसंदों के उस पूरे समूह को खोज सकते हो जो तुम्हें अंदर सख्ती से बंद रखता है। जब तुम्हें इसका भान होता है तो तुम एकाग्र होकर भागवत शक्ति और कृपा का आवाहन करके इस रचना पर, इन चीजों पर जो आपस में इतनी जकड़ी हुई हैं कि कोई चीज उन्हें अलग नहीं कर सकती, एक अच्छा वार कर सकते हो। और उस समय तुम्हें यह निश्चय करना चाहिये कि अब से तुम इन चीजों की बात पर कभी कान न दोगे, कि तुम केवल भागवत चेतना की ही बात सुनोगे और भागवत कार्य को छोड़कर और कोई काम न करोगे। व्यक्तिगत परिणामों की परवाह किये बिना, समस्त आसक्ति से मुक्त, सब तरह की पसंद से मुक्त, सफलता की इच्छा, शक्ति, संतोष, दर्प आदि से मुक्त होकर भागवत कार्य करोगे। यह सब . . . यह सब लुप्त हो जाना चाहिये, और तुम्हें केवल भागवत इच्छा को अपनी इच्छा में अवतरित होते और तुमसे काम करवाते हुए देखना चाहिये। तब, इस भांति, तुम उससे मुक्त हो जाओगे।

—श्रीमां

सकारात्मक तथा नकारात्मक पहलू

माताजी 'योग प्रदीप' में से 'लक्ष्य' पढ़ती हैं।

मधुर मां, "सक्रिय सिद्धि" का क्या अर्थ है ?

यह कर्म में प्रकट होनेवाली सिद्धि है। अकर्म में एक सिद्धि होती है, ऐसे लोगों की सिद्धि जो लोग ध्यान में प्रवेश कर वहां से नहीं निकलते, और हिलते-डुलते भी नहीं हैं; और एक सक्रिय सिद्धि भी होती है जो तुम्हारे सारे कर्म, तुम्हारी सभी गतिविधियों, तुम्हारे रहन-सहन, तुम्हारे चरित्र, सबको परिवर्तित कर देती है। पहली अवस्था में तुम्हारी बाहरी सत्ता वह-की-वही रहती है, कुछ भी नहीं बदलता, और साधारणतः यह कर्म की सभी संभावना को नष्ट कर देती है, तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुम बैठे ही रहते हो . . .। दूसरी अवस्था में, वह सब कुछ बदल डालती है, तुम्हारा चरित्र, तुम्हारा रहन-सहन, तुम्हारा कर्म करने का तरीका, तुम्हारे सभी कर्म और यहांतक कि तुम्हारा परिवेश, और अंत में तुम्हारा संपूर्ण अस्तित्व, तुम्हारी संपूर्ण सत्ता तक परिवर्तित हो जाती है : यही सक्रिय सिद्धि होती है, जिसकी पराकाष्ठा है शरीर का रूपांतरण।

कई ऐसे लोग हैं जो अपनी प्रज्ञा को रूपांतरित करने से पहले ही अपने शरीर को रूपांतरित करने की कोशिश करते हैं, और इससे एक पूर्ण अव्यवस्था पैदा हो जाती है, वह उन्हें पूरी तरह असंतुलित बना देती है। पहले-पहल व्यक्ति को अपने विचार, अपने संपूर्ण मन, अपने सब मानसिक क्रिया-कलापों को बदलना होगा, इसे उच्चतर ज्ञान के साथ व्यवस्थित करना होगा; और इसके साथ-ही-साथ अपने चरित्र और प्राण की सभी क्रियाओं, सभी आवेगों, सभी प्रतिक्रियाओं को बदलना होगा। और अंत में, जब ये दोनों चीजें हो जायें, बहरहाल किसी हदतक हो जायें, तो व्यक्ति अपने शरीर के कोषाणुओं का रूपांतर करने के बारे में सोचना शुरू कर सकता है, लेकिन अंत से शुरू नहीं करना चाहिये; आरंभ से शुरू करना चाहिये।

तुम कर सकते हो . . . श्रीअरविन्द कहते हैं, है न, कि तुम सभी चीजें एक साथ कर सकते हो, लेकिन अपने शरीर का रूपांतर करने की बात सोच सकने से पहले, केंद्र, सबसे महत्त्वपूर्ण अंग, को पर्याप्त रूप से परिवर्तित करना होगा . . . जैसा कि, उदाहरण के लिये, कुछ लोग हैं जो तुरंत ही अपना आहार बदलना चाहते हैं या फिर खाना ही बंद कर देना चाहते हैं, क्योंकि उनका कहना है कि अंत में जब 'अतिमानस' का अवतरण होगा, तो फिर हमें खाने की जरूरत न रहेगी। तो 'अतिमानस' के आने से पहले वे उस चीज से शुरू करना चाहते हैं जो होनेवाली है; वे खाना बंद कर देते हैं, सोना बंद कर देते हैं, और परिणाम यही होता है कि वे बहुत बीमार पड़ जाते हैं।

ज्यादा अच्छा यह है कि पहले पर्याप्त ज्ञान के द्वारा अपने मन में 'अतिमानस' को ग्रहण करना शुरू किया जाये, और धीरे-धीरे बाकी सबके रूपांतर की ओर बढ़ा जाये।

मधुर मां, "सक्रिय पक्ष" क्या है ?

वह वही चीज है। वह योग का यह पक्ष है।

दो पहलू हैं : एक पहलू है जो अचल है और एक तैयारी है, और एक सक्रिय पहलू है जो रूपांतरण का कर्म का पहलू है। सक्रिय का अर्थ है स्फूर्तिवान; अर्थात्, परिचालन कर्म।

किसी "अनुभूति के नकारात्मक पक्ष'' और "सकारात्मक पक्ष' का क्या अर्थ है ?

आह, मेरे बच्चे, तुममें कुछ दोष होते हैं, है न, ऐसी चीजें जो प्रगति करने में बाधा देती हैं, तो, नकारात्मक पक्ष है कोशिश करके उन दोषों से पिंड छुड़ाना। कुछ ऐसी चीजें हैं, तुम्हें कुछ होना, कुछ बनना चाहिये, ऐसे गुण जिन्हें चरितार्थ करने के लिये तुम्हें अपने अंदर गढ़ना है; गढ़ने का यह पक्ष सकारात्मक पक्ष होता है।

तुम्हारे अंदर कोई दोष है, उदाहरण के लिये, सच न बोलने की वृत्ति है। अब, मिथ्यात्व की इस आदत से, सत्य को न देखने और सत्य न बोलने की आदत से, तुम अपनी चेतना से मिथ्यात्व के बहिष्कार द्वारा, लड़ते हो और सत्य न बोलने की उस आदत को निकाल बाहर करने की कोशिश करते हो। इस चीज को बनाये रखने के लिये, तुम्हें अपने अंदर केवल सच बोलने की आदत डालनी चाहिये। इस चीज को बनाये रखने के लिये, तुम्हें अपने अंदर सच को देखने और हमेशा सच बोलने की आदत डालनी चाहिये। एक नकारात्मक है : तुम दोष को दूर करते हो। दूसरी सकारात्मक है : तुम गुण की स्थापना करते हो। यह इस तरह है।

सभी चीजों के लिये यही बात है। उदाहरण के लिये, तुम्हारी सत्ता के किसी भाग में एक तरह के विद्रोह की आदत होती है, अज्ञान-दृप्त अंधकारमय विद्रोह की, ऊपर से जो कुछ आता है उसे अस्वीकार करने की आदत होती है। अतः, नकारात्मक पक्ष है उसके विरुद्ध लड़ना, उसे अभिव्यक्त होने से रोकना और अपने स्वभाव से उसे दूर फेंकना; और दूसरी तरफ तुम्हें निश्चित रूप से समर्पण, अवबोधन, उत्सर्ग, आत्मसमर्पण और भागवत शक्तियों के साथ पूर्ण सहयोग के भाव की स्थापना करनी चाहिये। यह सकारात्मक पक्ष है। तुम समझ रहे हो ?

वही बात फिर से : ऐसे व्यक्ति होते हैं जो क्रुद्ध हो जाते हैं... जिन्हें क्रोध के ताव आते हैं, जिन्हें गुस्से की आदत होती है... व्यक्ति उस आदत के विरुद्ध लड़ता है, वह क्रुद्ध होना अस्वीकार कर देता है, अपनी सत्ता से क्रोध के उन स्पंदनों को निकाल बाहर करता है, लेकिन इसके स्थान पर आनी चाहिये निर्विकार शांति, पूर्ण सहिष्णुता, दूसरों के दृष्टिकोण की समझ, स्पष्ट और शांत दृष्टि, शांत निर्णय—यह सकारात्मक पक्ष है।

"सूखे नारियल का रूपक'' क्या है ?

कहा जाता है कि जब व्यक्ति सिद्धि प्राप्त कर लेता है (इस बात को वे यहां कहते हैं), तो वह एक सूखे नारियल की तरह बन जाता है जो खोपड़ी में हिलता है, जो अंदर मुक्त रहता है, अपने आवरण से चिपका नहीं रहता और अंदर स्वतंत्रता से हिलता है। मैंने यही सुना है, यह किसी भी आसक्ति के न रहने का रूपक है। तुमने यह देखा होगा, जब नारियल बिलकुल सूख जाता है, तो अंदर की गरी खोपड़ी से जुड़ी नहीं रहती; और इसलिये जब तुम इसे हिलाते हो, तो वह अंदर हिलती है; वह पूरी तरह से स्वतंत्र रहती है, वह खोपड़ी से बिलकुल मुक्त रहती है। अतः सत्ता का रूपक दिया जाता है :

साधारण भौतिक चेतना नारियल की खोपड़ी है; और जबतक आत्मा पूरा रूप नहीं लेती तबतक वह चिपकी रहती है, वह लगी रहती है, वह खोपड़ी के साथ चिपकी रहती है, और उसे अलग नहीं किया जा सकता; लेकिन जब वह अपना पूरा-पूरा रूप ले लेती है तो वह अंदर पूरी तरह मुक्त होती है, वह खोपड़ी के साथ चिपकी न रहकर उसके अंदर आजादी से घूमती-फिरती है। यही रूपक होगा...

अंतिम वाक्य : "... 'सत्य-सृजन' में विधान यह है कि प्रलय के बिना सतत उन्मीलन होता रहे।" यह सतत उन्मीलन क्या है ?

'सत्य-सृजन'... यह अंतिम पंक्ति है ? (माताजी पुस्तक देखती हैं) मेरा ख्याल है कि हम इसके बारे में कई बार बातचीत कर चुके हैं! कहा गया है कि सृष्टि-सृजन की प्रक्रिया में सृजन की क्रिया के बाद रक्षण की गति होती है और अंत में विघटन या विनाश की गति होती है; और यह भी बहुत बार कहा गया है : "जो कुछ आरंभ होता है उसे समाप्त होना चाहिये," आदि, आदि।

वस्तुतः हमारे विश्व के इतिहास में एक के बाद एक छः काल आ चुके हैं जो सृष्टि से शुरू हुए, रक्षण की शक्ति द्वारा टिके, बढ़े और विघटन, विनाश द्वारा समाप्त होकर फिर से 'आदि स्रोत' की ओर चले गये, इसी को प्रलय कहते हैं; और इसी के कारण यह मान्यता है। लेकिन यह कहा गया है कि सातवीं सृष्टि उत्तरोत्तर प्रगति करनेवाली सृष्टि होगी, यानी, सर्जन के आरंभबिंदु के बाद केवल रक्षण ही नहीं आयेगा, बल्कि क्रमशः अभिव्यक्ति आयेगी जो भगवान् को अधिकाधिक पूर्ण रूप में प्रकट करेगी, ताकि विघटन और 'आदि स्रोत' की ओर लौटने की जरूरत ही न रह जाये। और इसकी घोषणा की गयी है कि जिस काल में हम हैं वह ठीक सातवां है, अर्थात्, जिसका अंत प्रलय, 'आदि स्रोत' की ओर लौटने, विनाश और विलोप से न होगा, बल्कि उसकी जगह ले लेगी सतत प्रगति, क्योंकि यह अपनी सृष्टि में भागवत 'मूल स्रोत' का अधिकाधिक उन्मीलन होगा।

श्रीअरविन्द यही कहते हैं। वे सतत उन्मीलन की बात करते हैं, यानी, भगवान् अधिकाधिक पूर्ण रूप से उत्तरोत्तर संपूर्ण भाव से प्रगतिशील सृष्टि में अभिव्यक्त होते हैं। इस उत्तरोत्तर प्रगति का स्वभाव ही 'आदि स्रोत' तक लौटने को, विनाश को अनावश्यक बना देता है। जो कुछ प्रगति नहीं करता गायब हो जाता है, और यही कारण है कि भौतिक शरीर मरते हैं, इसका कारण यह है कि वे प्रगतिशील नहीं हैं; वे अमुक समय तक प्रगति करते हैं, फिर वहां जाकर रुक जाते हैं और बहुधा कुछ समय के लिये वहां पर स्थिर रहते हैं, और फिर उनका ह्रास शुरू हो जाता है, और वे गायब हो जाते हैं। यह इस कारण है कि भौतिक शरीर, भौतिक पदार्थ अपनी वर्तमान अवस्था में इतना लचीला नहीं है कि सतत प्रगति कर सके। लेकिन यह असंभव नहीं है कि उसे इतना पर्याप्त लचीला बनाया जा सके कि वह शरीर को इतना पूर्ण बना दे कि फिर उसे विघटन, अर्थात्, मृत्यु की आवश्यकता न रहे।

केवल, यह उपलब्धि 'अतिमानस' के अवतरण के बिना नहीं हो सकती। अभीतक जितनी भी शक्तियां अभिव्यक्त हुई हैं, उनसे यह उच्चतर है। यह शरीर को ऐसा लचीलापन प्रदान करेगी कि वह सतत प्रगति कर पायेगा, अर्थात् उन्मीलन में दिव्य गति का अनुसरण कर सकेगा।

१५ जून १९५५ 'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ० १९७-२०२

शुभ और अशुभ के परे

भगवान् शुभ और अशुभ के परे हैं; भगवान् की ओर बढ़ते हुए मनुष्य को उनके साथ एक प्रकृति होना पड़ेगा। उसे शुभ और अशुभ के परे जाना होगा।

भगवान् शुभ और अशुभ के परे हैं, उनके नीचे नहीं, न उनका अस्तित्व इनके कारण है और न वे इनसे सीमित हैं, यहांतक कि उनके ऊपर भी नहीं हैं, बल्कि अधिक निरपेक्ष अर्थ में वे शुभ और अशुभ के विचारों से परे और परात्पर हैं। वे अपनी सार्वभौमिकता में उनका अतिक्रमण करते हैं; वे उनके अंदर स्थित हैं, लेकिन हम चीजों को शुभ और अशुभ का जो मूल्य देते हैं वह उनका भागवत या वैश्व मूल्य नहीं होता, ये ऐसे व्यावहारिक मूल्य हैं जो हम अपने जीवन के मनोवैज्ञानिक और गतिशील व्यापार में गढ़ देते हैं। भगवान् उन्हें जानते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे हमसे जीवन के इस मूल्य के आधार पर व्यवहार करते हैं, लेकिन उसी हदतक जिस हदतक प्रकृति में उनके उद्देश्य के लिये उपयोगी हो। अपने सार्वभौम कार्य में वे उनसे सीमित नहीं हैं। लेकिन उनकी परात्पर सत्ता में, उनकी उच्चतम वैश्व सत्ता जिसका एक बिम्ब ही है, वे बिलकुल प्रवेश नहीं कर पाते; उस उच्चतम वैश्व में जो हमारे लिये परात्पर है, उसमें केवल निरपेक्ष शुभ है, हमारे शुभ और अशुभ में उन्हीं के भिन्न तत्त्व हैं। न तो हमारा शुभ और न हमारा अशुभ निरपेक्ष शुभ हैं और न ही अपने-आपमें निरपेक्ष शुभ दे सकते हैं। उसमें प्रवेश पाने से पहले दोनों को रूपांतरित होना होगा, अशुभ को शुभ में, शुभ को पवित्र और स्वयंभू शुभ में।

इससे विश्व की प्रकृति स्पष्ट हो जाती है, जो अन्यथा अबोधगम्य और भगवान् की सत्ता के साथ असंगत, सशक्त रूप से निश्चेतन, उग्र रूप से सक्रिय पहेली बनी रहती। भगवान् हमारे शुभ के विचारों से परे होने चाहियें, अन्यथा जैसा कि विश्व है, वह न तो भागवत परम अस्तित्व की आंशिक सत्ता के रूप में अस्तित्व रखता और न ही भागवत परम संकल्प से बनी हुई या उसकी अनुमति से बनी हुई वस्तु होता। न ही वह अशुभ हो सकते हैं अन्यथा मनुष्य जो उनका उच्चतम पार्थिव सृजन या उच्चतम पार्थिव अभिव्यक्ति है—उसके अंदर शुभ का यह प्रमुख विचार और न्यायनिष्ठता के प्रति झुकाव का यह प्रवाह न होता। वह शुभ और अशुभ का मेल नहीं हो सकता। वह अपने-आपसे परेशान, संघर्षरत या किसी रहस्यमय ढंग से बना दोहरा तत्त्व, एक साथ अहुरमज्द और अहरमन नहीं हो सकता। या कम-से-कम वह इस द्वंद्व से सीमित नहीं हो सकता, क्योंकि विश्व में बहुत कुछ ऐसा है जो न शुभ है और न अशुभ। संभवतः समग्रता का बड़े-से-बड़ा भाग या तो अतिनैतिक या अवनैतिक या बस निर्नैतिक है। शुभ और अशुभ मानसिक चेतना के विकास के साथ आते हैं। वे अपने प्राथमिक तत्त्वों में पशु और आदिम मानव के मन में रहते हैं और मानव विकास के साथ विकसित होते हैं। शुभ और अशुभ ऐसी चीजें हैं जो विकास की प्रक्रिया के साथ आती हैं अतः यह संभावना है कि वे इसी विकास प्रक्रिया में गायब भी हो जायें। अगर वे पराकाष्ठा के यथासंभव ऊंचे-से-ऊंचे शिखर के लिये जरूरी तत्त्व हैं तो वे बने रहेंगे और अगर एक आवश्यक और दूसरा अनावश्यक हो तो वह बना रहेगा और उसका विरोधी गायब हो जायेगा।

—श्रीअरविन्द

कृपा की आवश्यकता

कृपा को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करने का क्या तरीका है ?

आहा ! सबसे पहले तो तुम्हें उसकी आवश्यकता अनुभव करनी चाहिये।

यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है। तुम्हारे अंदर एक प्रकार की आंतरिक नम्रता होनी चाहिये, जो इस बात का भान कराती है कि तुम भागवत 'कृपा' के बिना कितने असहाय हो, कि सचमुच, उसके बिना तुम अपूर्ण और शक्तिहीन रहते हो। आरंभ में, यही सबसे पहली चीज है।

...और फिर, अगर तुम्हें इस बात का भान हो जाये कि केवल भागवत कृपा ही यह कर सकती है (जो तुम नहीं कर सकते), कि तुम अपने-आपको जिस परिस्थिति में पाते हो उसमें से केवल कृपा ही तुम्हें बचा सकती है, वही तुम्हें उसमें से निकलने के लिये उपाय बता सकती है और बल दे सकती है, तो स्वभावतः, तुम्हारे अंदर एक तीव्र अभीप्सा जगेगी—एक ऐसी चेतना जो अपने-आपको उद्घाटन में बदल लेगी। अगर तुम आवाहन करो, अभीप्सा करो और उत्तर पाने की आशा करो तो तुम बिलकुल स्वाभाविक रूप से अपने-आपको भागवत कृपा की ओर खोलोगे।

और बाद में—तुम्हें इसकी ओर बहुत ध्यान देना चाहिये (माताजी ओठों पर उंगली रखती हैं)—भागवत कृपा तुम्हें उत्तर देगी, भागवत कृपा तुम्हें कष्ट से उबार लेगी, भागवत कृपा तुम्हें समस्या का समाधान बतलायेगी या तुम्हें अपनी कठिनाई में से निकल आने में सहायता देगी। लेकिन जब तुम कष्ट से छुटकारा पा जाओ और कठिनाई में से निकल आओ, तो यह न भूलो कि भागवत कृपा ने ही तुम्हें उबारा है, यह न सोचो कि यह तुम्हारा अपना काम है। क्योंकि वास्तव में, यह महत्त्वपूर्ण बात है। कठिनाई खत्म होते ही अधिकतर लोग कहते हैं, "आखिर, मैंने अपने-आपको बड़ी अच्छी तरह कठिनाई में से निकाल लिया।"

तो यह बात है। इस तरह तुम दरवाजा बंद कर देते हो, उस पर ताला जड़कर चटखनी लगा देते हो, और फिर तुम और कुछ नहीं पा सकते। इस आंतरिक मूढ़ता को दूर करने, और तुम्हें यह अनुभव कराने के लिये कि तुम कुछ भी नहीं कर सकते, तुम्हें फिर से किसी तीव्र व्यथा की, किसी भयानक कठिनाई की जरूरत होती है। क्योंकि तभी तुम जरा-सा खुलते और लचीले बनते हो जब तुम्हें यह पता लग जाये कि तुम बलहीन हो। लेकिन जबतक तुम यह समझते हो कि जो कुछ तुम करते हो वह तुम्हारे अपने कौशल और अपनी क्षमता पर निर्भर है तो सचमुच, तुम केवल एक दरवाजा नहीं, एक के बाद एक बहुत-से दरवाजे बंद कर देते हो, समझे, और उनमें चटखनी लगा देते हो। तुम अपने-आपको एक किले में बंद कर लेते हो और वहां कोई चीज प्रवेश नहीं कर सकती। यह सबसे बड़ी त्रुटि है : आदमी बहुत जल्दी भूल जाता है। बिलकुल स्वाभाविक रूप में, वह अपनी क्षमता से संतुष्ट रहता है।

—श्रीमां

कृतज्ञता का पुरस्कार

अकाल ने जंगल को कंगाल बना डाला था। सभी वृक्ष और पौधे अपनी नंगी बांहें उठाये इन्द्रदेव को पुकार रहे थे। इतनी व्याकुल प्रार्थना को इन्द्र कैसे अनसुनी करते। जंगल के छोर पर क्षितिज में खड़े-खड़े उन्होंने अकाल की तांडव लीला देखी। इतना विशाल वन-प्रांतर सुनसान था, वहां न पक्षी थे, न पशु, केवल भांय भांय करती हुई हवा थी। पुरन्दर चौंके, "यह क्या, बरगद की शाखा पर हल्की-सी आवाज कैसी ?"

पास आकर देखा तो एक छोटा-सा शुक दिखायी दिया जो अपनी कमजोर सीटी से बादलों को बुला रहा था। उसका कंकाल-सा शरीर बड़ी मुश्किल से शाखा पर टिका हुआ था।

उत्सुकतावश वज्रपाणि बरगद के ऊपर मंडराये, मेघ-गंभीर, फिर भी मृदु स्वर से पूछा "हे शुक ! सब पशु-पक्षी इस वीरान जंगल को छोड़कर चले गये, तुम अभीतक यहां क्यों बने हो ?"

शुक ने निर्बलता से मुंदती आंखों पर जोर डाला, सम्मुख देवराज को देख उसने पंख जोड़ दिये और फुसफुसाकर बोला, "महाराज, बड़ी कृपा की आपने, बस झड़ी लगा दीजिये। मेरा यह प्रिय बरगद फिर से जी उठे।"

इन्द्र मुस्कराये, "हे पक्षी ! तुम्हारी यह कृतज्ञता की वाणी मेरे कानों में अमृत घोल रही है। इस वृक्ष पर न जाने कितने पक्षी आश्रय पाते होंगे किंतु उसके पर्णहीन ठूंठ बनते ही सब उसे छोड़ भाग खड़े हुए। कितनों ने उसके रसीले फल खाये होंगे, कितनों ने सूर्य के प्रखर कोप से इसकी शीतल छाया में अपनी रक्षा की होगी। तू अकेला ही सच्ची कृतज्ञता से भरा है जिसने आपदकाल में अपने संरक्षक का त्याग नहीं किया।"

छोटा तोता सोचता हुआ-सा बोला, "पता नहीं क्या बात थी, किंतु मेरा यह स्वामी मुझे कभी अपने फल न देता था। वह औरों को बुला-बुलाकर फल बांटता था, औरों को अपनी छाया देता था। मुझे उसने कभी नहीं बुलाया, मुझपर खुशी-खुशी छाया नहीं धरी। मेरा तो यह घोंसला भी बड़ी मुश्किल से बन पाया है। बस, महाराज, मुझे उससे कुछ नहीं चाहिये। मैं तो उसे हरा-भरा देखकर ही प्रसन्न रहूंगा। मैं इसीलिये आपको पुकार रहा था, आप आये, मैं कृतार्थ हो गया।"

पुरन्दर के पुंडरीक-नेत्रों से करुणा की धारा बही। नन्हें शुक के सिर पर वे पुनीत अश्रु अभिषेक करने लगे। देखते-देखते सारा जंगल मूसलाधार वर्षा के शोर से भर उठा। अपनी कमजोर शाखाओं से मृतप्रायः वृक्ष जीवनदायिनी वर्षा का स्वागत करने लगे। छोटा-सा तोता चोंच उठा-उठाकर जल का पान करते-करते चिहुक उठा मानों इन्द्रराज को साधुवाद दे रहा हो।

—अनुबेन



अगर पानी के मटके की तली में छोटा-सा छेद हो तो सारा पानी उस छोटे छेद से बह जाता है। उसी प्रकार अगर नवदीक्षित में लेशमात्र भी सांसारिकता हो तो उसका सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है।

—श्रीरामकृष्ण

राज्यपालः

एषा घटना तस्य कालस्य यदा 'उमर् खलीफा' भूपतिः आसीत्। प्रजानां सुखमेव तस्य सुखम्। जनाः अपि तं पितृवदमन्यन्त। तस्य राज्ये आदेशः आसीत् यत् राजद्वारात् कदापि कोऽपि निराशः न प्रतिगच्छेत्। तस्मात् प्रसन्नाः आसन् तस्य प्रजाः।

एकदा शुक्रवारे अर्धरात्रौ कश्चित् जनः उपस्थितः। किन्तु 'असमर्थोऽहमस्मिन् समये मेलितुम्' इति राज्यपालेन प्रत्युक्तः सः विषण्णः प्रतिगतः।

परेद्युः प्रभाते अञ्जसा स खलीफा-भूपतिमुपगम्य तस्मै सर्वं न्यवेदयत्। भृशं दुःखितः राजा मनसि अचिन्तयत्—अहो! वञ्चितोऽहम्। मम राज्येऽपि 'श्वः करिष्यामः' इति कथयित्वा राज्यपालाः कार्याणि व्याक्षिपन्ति। तत्क्षणमेवाहूतः सः राज्यपालः। लज्जितः उपस्थितः सः खलीफा राज्ञः सम्मुखे। पृष्टः सः करबद्धं प्रार्थयत्—'अल्लाह एव साक्षी यत् मया कदापि कस्यापि कार्यं नास्वीकृतं, किन्तु शुक्रवारस्य रात्रौ विवशः खल्वासम्।' 'कासीत् सा विवशता' इति पृष्टः सः पुनरप्यभणत्—राजन्! मम रहस्यमुद्घाटितं भविष्यति।

"प्रजानां कर्मचारिणः किमपि रहस्यं न स्यात्, कथयतु भवान्, नात्र किञ्चिदपि भयं कर्तव्यम्" राजाभणत्।

तदा राज्यपालः मन्दं मन्दमवदत्—राजन्! सप्ताहे सप्त दिनानि अहं भृशं व्यस्तः भवामि, शुक्रवारे कञ्चित् समयं प्राप्नोमि। मम सकाशे तानि एव वस्त्राणि यानि भवान् मम शरीरे पश्यति। सम्पूर्णसप्ताहे एतानि धारयित्वा शुक्रवारे प्रक्षालयामि। एषास्ति गोपनीयता। जनाः यदि ज्ञास्यन्ति तदा निःसन्देहं परिहासं करिष्यन्ति यत् अहो राज्यपालस्य सकाशे वस्त्राणि अपि न सन्ति। अपि च अन्येषु दिनेषु भगवन्तमपि न भजामि। एषा एव एका रात्रिः यदा ईश्वरं किञ्चित् स्मरामि।

तस्य वचनं श्रुत्वा नृपालस्य नेत्राभ्यामश्रुधारावहत्। भगवते च कोटिशः धन्यवादानार्पयत् यत् तस्य राजस्य कर्मचारिणः न जनान् अवहेलयन्ति न च ईश्वरं विस्मरन्ति। स्वकार्ये अपि निष्कपटाः। राजकोशात् अल्पमपि धनं न गृह्णन्ति।

बाहुभ्यां तं परिष्वज्याभणत् राजा, "धन्यस्त्वं, धन्यतरश्चाहं यस्य राज्ये त्वादृक् जनः।"

राज्यपाल

आइये, सुनते हैं इस महीने एक छोटी-सी घटना जो हमारे जीवन का दिग्दर्शन कर सकती है। उस समय खलीफा उमर राज करते थे। प्रजा के सुख में ही वे सुखी रहते थे, प्रजा-पालन को ही अपना धर्म मानते थे। प्रजा के लोग भी उन्हें पिता के समान आदर और प्रेम देते थे। उन्होंने राज्य में यह घोषणा करवा दी थी कि रात हो या दिन, कभी उनके द्वार से कोई निराश न लौटे—संक्षेप में उमर के राज्य में खुशिहाली ही खुशिहाली छायी हुई थी। प्रसन्न राजा और प्रसन्न प्रजा का जीता-जागता राज्य था वह।

उस शुक्रवार के दिन आधी रात को राज्यपाल से मिलने प्रजा का एक व्यक्ति आन खड़ा हुआ।

राज्यपाल ने द्वारपाल को खबर भिजवायी, "इस वक्त मैं किसी से नहीं मिल सकूंगा।" जब यह समाचार याचक ने सुना तो वह हताश और उदास अपने घर लौट आया। सवेरे होते-न-होते आग की तरह सारे राज्य में यह खबर फैल गयी। हर एक की जबान पर यही शब्द थे, "गजब हो गया, राजदरबार से कोई निराश लौट आया।"

खलीफा के कानों में यह बात पहुंची तो उन्हें जोर का धक्का लगा। यह सोचकर वे दुःख के समुद्र में डूब गये कि अब मेरे राज्य में भी राज्यपाल "कल आना" कहकर टाल देते हैं। जब मन से कुछ शांत और स्वस्थ हुए तो उन्होंने राज्यपाल को अपने कक्ष में बुलवा कर रात की घटना के बारे में पूछा।

"जी सरकार, कल रात मैं मिलने में सचमुच असमर्थ था" राज्यपाल ने हाथ जोड़, सिर झुका कर कहा।

"मेरे राज्य में प्रजा के किसी भी व्यक्ति की अवहेलना हो यह मेरे बर्दाश्त के बाहर की बात है। और यह अपमान चाहे किसी से भी हो मैं उसे माफ नहीं कर सकता, मुझसे भी हुआ होता तो मैं अपने-आपको जरूर सजा देता।" खलीफा तैश में आ गये थे। "बोलिये, आपकी क्या परेशानी थी कल रात ?" उमर ने गुस्से में आकर राज्यपाल से पूछा।

हाथ जोड़कर, सिर नीचा किये राज्यपाल ने वही दोहराया "जहांपनाह, अल्लाह गवाह है कि मैंने कभी किसी को दरवाजे से नहीं लौटाया, लेकिन शुक्रवार की रात मैं बिलकुल विवश था।"

"क्या थी आपकी ऐसी विवशता" व्यंग्य और गुस्से से भरे लहजे में खलीफा पूछ बैठे।

"मालिक, मैं इसे रहस्य ही रखना चाहूंगा।" राज्यपाल ने बड़ी विनती-भरे स्वर में कहा।

खलीफा क्षण भर के लिये चुप हो गये। ऐसी कौन-सी विवशता होगी इनकी यह सोचकर खलीफा का गुस्सा अपने-आप कुछ कम हो गया। जरा नरम होकर बोले—"भाई, प्रजा का पालन करना ही हमारा धर्म और पहला कर्तव्य है अतः इस मामले में हमारा अपना कोई रहस्य नहीं होना चाहिये। बिना डर, निस्संकोच मुझे कृपया इसका कारण बताओ ताकि हम सब अपनी जिम्मेदारी को कभी आंखों से ओझल न होने दें।"

तब राज्यपाल ने धीरे-धीरे कहा, "सरकार, हफ्ते में बाकी रोज मैं रात-दिन बहुत व्यस्त रहता हूं, शुक्रवार की रात को थोड़ा वक्त मिलता है मुझे। मेरे पास राजदरबार की यही पोशाक है जो आप मेरे शरीर पर देख रहे हैं। सारे सप्ताह यह पहनकर शुक्रवार को धो देता हूं। जहांपनाह, यह मत समझियेगा कि मेरे पास धन नहीं है, आपके राज्य में कोई धनहीन हो यह तो कभी हो ही नहीं सकता, लेकिन मैं राज्य की एक-एक पाई जनता की धरोहर मानता हूं क्योंकि यही सीख आपने हमें दी है और आप खुद भी इसी राह पर चलते हैं। यह बताइये परवरदिगार कि आपने कभी अपने शौक या जिसे दूसरे जरूरत समझते हैं, ऐसी किसी भी चीज पर एक भी पैसा खर्च किया है क्या ? मैं नहीं चाहता था कि मेरा यह राज किसी को भी मालूम हो क्योंकि लोग इसका गलत मतलब निकाल कर कि 'राज्यपाल के पास कपड़े तक नहीं हैं' खिल्ली उड़ायें।

राज्यपाल के सामने खलीफा घुटने टेक कर बैठ गये, आंखों से आंसुओं की धारा बह रही थी। राज्यपाल भी अपने मालिक के सामने हाथ जोड़े बैठे रहे, कुछ स्थिर होने के बाद बोले—"मालिक, शुक्रवार की ही एक रात है जब मैं कुछ देर चुपचाप बैठकर ईश्वर का स्मरण भी कर लेता हूं।"

खलीफा के दोनों हाथ अल्लाह की तरफ उठ गये, सिर सिजदे में झुक गया, वे बुदबुदा उठे—लाख

शुक्रिया मेरे परवरदिगार जो तूने मेरे पास फरिश्ते जैसे इन्सान भेजे . . .।

राज्यपाल को सीने में भींचते हुए खलीफा की बुदबुदाहट स्पष्ट हो उठी—"धन्य है तू और तुझसे ज्यादा भाग्यशाली हूं मैं जिसने तेरे जैसे हीरे को आज पहचान लिया।"

—वन्दना

पुस्तक-परिचय

नोबेल पुरस्कार सम्मानित भारतीय : लेखक—विश्वामित्र शर्मा; प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़; मूल्य—१०० रु०।

लेखक ने 'नोबेल पुरस्कार सम्मानित भारतीय' पुस्तक लिखकर उठती हुई पीढ़ी को कई क्षेत्रों में चमकने की प्रेरणा दी है। उन्होंने यह भी दिखा दिया है कि विज्ञान जैसे क्षेत्र में खोज करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि यूरोप जाकर पढ़ना चाहिये। सर सी० बी० रमण ने जो खोज की थी, उसका आविष्कार उन्होंने भारत में ही पढ़-लिख कर किया था।

आशा करते हैं, यह पुस्तक हर विज्ञान-प्रेमी व्यक्ति को प्रेरणा देगी और उसे उनका अनुकरण करने के लिये उत्साहित करेगी।

पुस्तक की भाषा सरल और सुवाच्य है।

तुम किसी को कोई अच्छी सलाह तबतक नहीं दे सकते जबतक स्वयं अपने-आपको न दे लो और उसके अनुसार आचरण न करो।

—श्रीमां

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनूं
श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमां के मनुष्य जाति के लिये दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह केंद्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केंद्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारंभ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केंद्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिये समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिये सरकारी प्रमाण पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उसकी सत्ता के केंद्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिये निम्नलिखित पते पर संपर्क करें। प्रवेश पूरे वर्ष किसी भी समय दिया जा सकता है।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केंद्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिये संपर्क करें :

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर
मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला
पो० झुंझुनूं—333001, राजस्थान
टेलीफोन—(01592) 35615
email:admit@sadlec.org
srimaa@vsnl.com
URL:www.sadlec.org

अपने-आपको नयी शक्ति के प्रति खोलो। उसे अपने अंदर रूपांतर का काम करने दो।

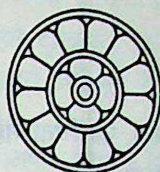
—श्रीमां

यदि तुमने भगवान् को चुना है तो इसका कारण है कि भगवान् ने तुम्हें चुन लिया है।

—श्रीमां

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये।

—श्रीमां



प्रार्थना और ध्यान

४ जून १९१४

हे सर्वविघ्नविजेता, तू हमारे अंदर उन सब चीजों पर विजय-श्री होगा जो तेरे दिव्य विधान की उपलब्धि में बाधक हो सकती हैं। तू अज्ञान के अंधकार और अहंकारमय दुर्भावना के काले धुंए को दूर कर देगा; तू सभी गलत सुझावों को लुप्त कर देगा और हमारे अंदर शुद्ध और स्पष्ट दृष्टि और कुशाग्रता को सुदृढ़ बनायेगा जो विनाशकारी विचारों और अराजकता के लिये संघर्षरत इच्छाओं के धोखे में नहीं आयेंगी।

हे मेरे मधुर स्वामी, मेरा असीम प्रेम हमारी सत्ता की वास्तविकता है; उसकी सर्वशक्तिमान् क्रिया के विरुद्ध कौन संघर्ष कर सकता है ? वह हर चीज में प्रवेश करती है, वह हर बाधा का अतिक्रमण करती है, चाहे वह भारी अज्ञान की जड़ता हो या नासमझ दुर्भावना का प्रतिरोध। हे मेरे मधुर स्वामी, इस प्रेम में से और इसके द्वारा तू सभी चीजों में प्रदीप्त होकर चमकता है और तेरी यह भव्यता जो अपनी शक्ति में सदा बढ़ती रहती है, अपनी क्रिया में समस्त पृथ्वी पर चमकेगी और प्रत्येक चेतना के लिये बोधगम्य होगी।

तेरी दिव्य शक्ति का प्रतिरोध कौन कर सकता है ?

तू ही एकमात्र और परम सद्वस्तु है।

मेरी सत्ता मूक पूजा-भाव में समाहित है और ऐसी सभी चीजें गायब हो जाती हैं जो तू नहीं है।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

मई

१. ऐसे बालक की तरह जो तर्क नहीं करता, जो चिंता नहीं करता, हम अपने-आपको भगवान् को सौंपते हैं ताकि भगवान् की इच्छा पूरी हो सके।

२. अगर भगवान् तुम्हारे लिये कोई कठिनाई चाहते हैं तो विरोध मत करो। उसे आशीर्वाद के रूप में लो और वह सचमुच आशीर्वाद बन जायेगी।

३. वर दे कि भागवत प्रेम हमारे हृदय में परम स्वामी बन कर निवास करे और भागवत ज्ञान हमारे विचारों को कभी न छोड़े।

४. तुम्हें कठिनाइयों के बीच भी स्थिर और अचंचल रहना सीखना चाहिये। सभी बाधाओं पर विजय पाने का यही तरीका है।

५. सचमुच शांति की बड़ी सख्त जरूरत है—शांति के बिना सरल-से-सरल बात भी बड़ी गड़बड़ पैदा करती है।

६. सच्ची अग्नि हमेशा गभीर शांति में जलती है; यह सर्व-विजेता संकल्प की अग्नि है। पूर्ण समचित्तता में इसे अपने अंदर बढ़ने दो।

७. तुम्हें अपनी अभीप्सा को स्थायी रखना और अपने प्रयास में धीरज धरना चाहिये, तब सफलता निश्चित है।

८. हम अपने प्रयास में स्थिर और अपने निश्चय में शांत और दृढ़ रहें तो निश्चय ही लक्ष्य तक जा पहुंचेंगे।

९. ठीक दिशा में किये गये प्रयास सभी विघ्न-बाधाओं को तोड़ देते हैं।

१०. अध्यवसाय द्वारा ही आदमी कठिनाइयों को जीत सकता है, उनसे भाग कर नहीं। जो डटा रहे उसका जीतना निश्चित है।

११. चलो, प्रसन्न हो जाओ, अगर हम डटे रहना और सहन करना जानें तो सब कुछ ठीक हो जायेगा।

१२. सुखी है वह जो भगवान् से प्रेम करता है क्योंकि भगवान् हमेशा उसके साथ रहते हैं।

१३. हमेशा याद रखो कि तुम जो सुख पाओगे वह उस सुख पर निर्भर होगा जो तुम देते हो।

१४. अभ्यास की एक बूंद सिद्धांतों, सलाहों और अच्छे संकल्पों के समुद्र से कहीं अच्छी है।

१५. हर एक अपने-आप अपने दुःखों का शिल्पी होता है।

१६. परिस्थितियां हमेशा छिपी हुई दुर्बलताओं को प्रकट करने के लिये आती हैं ताकि उन्हें जीता जा सके।

१७. हर एक के जीवन में जो कुछ आता है, भगवान् के यहां से पाठ सिखाने के लिये आता है और अगर हम उसे उचित भाव से लें तो हम तेजी से प्रगति करते हैं।

१८. कठिनाइयां इसलिये आती हैं कि तुम्हारे अंदर संभावनाएं हैं। अगर जीवन में सब कुछ आसान होता तो यह कुछ नहीं का जीवन होता।

चूंकि तुम्हारे रास्ते में कठिनाइयां आती हैं, इससे पता चलता है कि तुम्हारे अंदर संभावनाएं हैं। डरो मत।

१९. कठिनाइयां हमेशा हमसे प्रगति करवाने के लिये आती हैं।
कठिनाइयां जितनी बड़ी होंगी, प्रगति उतनी ही बड़ी हो सकती है।

२०. तुम जितना अधिक बुड़बुड़ाओगे, तुम्हारे दुःख-दर्द उतने ही अधिक बढ़ेंगे।

२१. कठिनाइयों का पूर्व दर्शन न करो। इससे उन्हें पार करने में मदद नहीं मिलती। इससे उन्हें आने में मदद मिलती है।

२२. अपनी कठिनाइयों को भूल जाओ। अपने-आपको भूल जाओ और भगवान् तुम्हारी प्रगति की जिम्मेदारी ले लेंगे।

२३. ये हमारी कमजोरियां ही हैं जो हमें सदा दुःखी बनाती हैं और हम मार्ग पर एक कदम आगे बढ़कर आसानी से इनसे छूट सकते हैं।

२४. उनका संग कभी न करो जो कीचड़ के मार्ग पर हैं क्योंकि तुम्हारे अपने साथी ही तुम्हें कलंक लगायेंगे।

२५. क्या कोई मंदिर में गंदे पैरों से प्रवेश करता है ? उसी तरह व्यक्ति आत्मा के मंदिर में दूषित मन के साथ प्रवेश नहीं करता।

२६. हम जितना अधिक जानते हैं उतना ही अधिक देख सकते हैं कि हम नहीं जानते।

२७. हमारे हृदय की गहराई में हमेशा महान् आनंद रहता है और हम उसे हमेशा वहां पा सकते हैं।

२८. तुम्हारे हृदय की नीरवता में ही भगवान् तुमसे बोलेंगे, तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेंगे और तुम्हें अपने लक्ष्य तक पहुंचायेंगे।

२९. पथ-प्रदर्शन तुम्हारे हृदय में है। अपनी प्रेरणा के अनुसार आगे बढ़ो।

३०. हमेशा सभी परिस्थितियों में मुस्कुराना सीखो, अपने दुःखों और सुखों पर, अपनी पीड़ाओं और अपनी आशाओं पर मुस्कुराना सीखो क्योंकि मुस्कान में आत्म-संयम की परम शक्ति है।

३१. अगर एक बार तुम चैत्य सत्ता को खोल सको और खुला रख सको तो तुम्हारे ऊपर से सदा एक सत्य दृष्टि तुम्हें यह दिखाती रहेगी कि वास्तविक सत्य क्या है और तुम्हें सब प्रकार की धोखाधड़ी से सावधान रखेगी।

अतिमानसिक चतुष्क में एकमेव हमेशा चार होता है सत्, चेतना, शक्ति और आनंद, ब्रह्मा, विष्णु, शिव और कृष्ण ये शाश्वत चार, अनंत चतुष्क हैं।

ब्रह्मा शाश्वत के सत् का व्यक्तित्व हैं, उन्हींसे सब कुछ निर्मित होता है, उन्हीं की उपस्थिति से, उन्हींकी शक्ति से, उन्हींकी प्रेरणा से।

विष्णु शाश्वत की चेतना के व्यक्तित्व हैं, उनमें सभी को अवलंब मिलता है, उनकी विशालता में, उनकी स्थिरता में, उनके द्रव्य में।

शिव शाश्वत की शक्ति के व्यक्तित्व हैं, उन्हींके द्वारा सबका सृजन होता है, उनके भावावेश द्वारा, उनकी लय द्वारा, उनकी एकाग्रता द्वारा।

कृष्ण शाश्वत के आनंद का व्यक्तित्व हैं, उन्हींके कारण समस्त सृष्टि संभव हुई है, उनकी लीला के कारण, उनके आनंद के कारण, उनकी मधुरता के कारण।

ब्रह्मा अमरता हैं, विष्णु शाश्वतता हैं, शिव अनंतता हैं और कृष्ण परम पुरुष के शाश्वत आत्म-वितरण, आत्माभिव्यक्ति और आत्मोपलब्धि।

—श्रीअरविन्द

कर्मयोग

हमने कहा है कि कर्मयोग वेदांत और योग का जीवन में विनियोग है। जिन लोगों में हिंदू धर्म का सुना-सुनाया ज्ञान है उन्हें इस परिभाषा पर संदेह होगा। सामान्यतः 'व्यावहारिक' मन ऐसा मानते हैं कि जीवन में मार्ग-दर्शक के रूप में वेदांत और आध्यात्मिक सायुज्य के रूप में योग भयानक चीजें हैं जो मनुष्यों को कर्म से अमूर्त की ओर ले जाती हैं। हम उन लोगों की बात नहीं करते जो इस प्रकार के विश्वासों को रहस्यवाद, आत्म-भ्रांति या छल-कपट मानते हैं। ऐसे लोग भी, जिन्हें हिंदू धर्म के लिये मान है, जो उसकी उच्चतर चीजों पर विश्वास करते हैं, उनका भी यह ख्याल है कि आध्यात्मिक जीवन जीने के लिये हमें अपने-आपको संपूर्ण मानव कार्य-कलाप से अलग कर लेना चाहिये। फिर भी आध्यात्मिक जीवन अपनी सबसे अधिक सशक्त अभिव्यक्ति उस मनुष्य में पाता है जो योग की शक्ति में, वेदांत के नियमों के आधीन मनुष्यों का सामान्य जीवन बिताता है। अंततः मानव जाति आंतरिक और बाह्य जीवन के इस मिलन के द्वारा ही ऊपर उठेगी और सशक्त तथा दिव्य बनेगी। यह मानना एक भ्रांति है कि वेदांत में जीवन के लिये कोई प्रेरणा नहीं है, व्यवहार के कोई नियम नहीं हैं, वह शुद्ध रूप से तत्त्वज्ञानात्मक और निवृत्तिवादी है। इसके विपरीत मानव जाति जिस उच्चतम नैतिकता के योग्य है वह उपनिषदों और गीता में ही अपना पूर्ण आधार और औचित्य पाती है। गीता के सिद्धांत यदि जीवन के विधान-धर्म नहीं हैं तो कुछ भी नहीं हैं। गीता की अधिक-से-अधिक परात्पर अभीप्साएं भी जीवन में तैयारी को पहला स्थान देती हैं क्योंकि जीवन द्वारा ही मनुष्य अमरता तक पहुंच सकता है। इसके विपरीत मत उन मनोवृत्तियों के कारण हैं जो हमारी जाति के इतिहास और स्वभाव में उभरी हैं। हमारे धर्म का परम लक्ष्य है भौतिक प्रकृति के बंधनों से मुक्ति और व्यक्तिगत पुनर्जन्म से छुटकारा। हम जिन्हें जानते हैं उनमें से कुछ महान् आत्माएं अंतिम निस्तब्धता और शुद्धि की ओर आकर्षित हुईं और उन्होंने लक्ष्य तक अधिक तेजी से और आसानी से पहुंचने के लिये अपने-आपको जीवन और शारीरिक कर्म से अलग कर लिया। वे साधारण स्तर से ऊपर पर्वत-शिखरों की तरह खड़े सभी आंखों को आकर्षित करते हैं और उन्होंने इस संन्यास को ही हिंदू धर्म के उच्चतम और प्रधान आदर्श के रूप में निश्चित कर दिया। इसी कारण श्रीकृष्ण ने पूर्ण योगी के जीवन और मानव क्रिया-कलाप के साथ तब भी लगे रहने पर इतना जोर दिया है जब उसे उनकी आवश्यकता न रहे ताकि ऐसा न हो कि साधारण आदमी, जैसा कि हमेशा होता है, अपने उत्तम लोगों का उदाहरण देख कर धर्म से विमुख हो जाये और वर्ण-संकरता का राज्य हो। पूर्ण योगी किसी अंतर्मुखी लेकिन परात्पर शक्ति का प्रतीक नहीं होता, वह हमेशा इस धरती पर सभी प्राणियों का भला करने में लगा रहता है, चाहे वह भागवत ऊर्जा की बाढ़ द्वारा हो, जिसे वह हमेशा जगत् पर उंडेलता रहता है या फिर अपने-आप मानव जाति के आगे उसके अभियान और युद्ध में नेता स्वरूप खड़े रह कर। लेकिन वह अपने कर्मों से बंधा नहीं होता और अपने व्यक्तित्व से श्रेष्ठतर होता है।

और फिर वेदांत शब्द सामान्यतः कट्टर अद्वैतवाद और शंकर के तपस्वी, महान् बुद्धि द्वारा प्रतिष्ठित मायावाद के साथ एक हो गया है लेकिन वेदांत के प्राप्त ग्रंथ उपनिषद् हैं, शंकर के भाष्य नहीं। शंकर के भाष्य चाहे जितने महान् और सामयिक रूप में संतोषजनक क्यों न हों, वे उपनिषदों का एक समन्वय और भाष्य ही तो हैं। भूतकाल में ऐसे और भी हुए हैं जिन्होंने सशक्त रूप से जाति के मन को प्रभावित किया है और इसका कोई कारण नहीं है कि भविष्य में और भी अधिक पूर्ण समन्वय न

हो। रामकृष्ण और विवेकानन्द की शिक्षा एक ऐसे ही समन्वय की तैयारी करती आयी जो समस्त जीवन और कर्म को अपनी भुजाओं में ले ले। जो चीज आज धुंधले रूप में होनी शुरू हो रही है वह ज्यादा विस्तृत मंच पर वही है जो एक बार पहले, अधिक तेजी के साथ परंतु छोटे-छोटे विषयों को लेकर हो चुकी जब बुद्ध अपने दर्शन और नीति-शास्त्र के अनुसार जिये और उन्होंने उसका आर्य जातियों में प्रचार किया। आज की तरह तब भी एक महान् आत्मा, तुम चाहे उसे अवतार कह लो या विभूति, मनुष्य के अंदर भगवान् की पूर्ण अभिव्यक्ति, या भागवत ऊर्जा का महान् उद्‌गार मनुष्यों में उतरा था और उनके दैनिक जीवन और अभ्यास में शुद्ध आध्यात्मिकता की शक्ति या आवेश लाया था। और इस बार पूर्ण ज्योति है, बौद्ध धर्म की तरह एक उदात्त भाग नहीं। बौद्ध धर्म ने वेदांती नैतिकता को व्यक्त करते हुए, वेदांत की एक आधारभूत यथार्थता की अवहेलना कर दी और इस कारण वह अपनी प्रथम पीठ से, अपने पालने से निकाल बाहर किया गया। तब भौतिक प्रभाव वही हुआ जो अब होगा, एक महान् राजनीतिक, नैतिक और सामाजिक क्रांति जिसने भारत को राष्ट्रों का गुरु बना दिया, वह उस प्रकाश का वाहक बना जो उसे सारे सभ्य संसार को देना था, वह विचारों को ढालता और रूप बनाता गया जो अभी तक बाकी हैं और एक जीवित-जाग्रत शक्ति हैं। अब वेदांत और योग अपनी एशियाई सीमा को लांघ कर अमरीका और यूरोप के जीवन और क्रिया-कलाप को प्रभावित करना शुरू कर रहे हैं। ये विचार सैंकड़ों अप्रत्यक्ष धाराओं द्वारा बहुत समय से पश्चिम में प्रवेश कर रहे हैं परंतु ये छोटी-छोटी नदियां और नदिकाएं हैं। जगत् दिव्य प्लावन की पूर्णता को पाने के लिये भारत के उत्थान की प्रतीक्षा कर रहा है।

योग ज्ञान, प्रेम या कर्म के लिये भगवान् के साथ सायुज्य है। योगी अपने-आपको उसके साथ सीधे संपर्क में रखता है जो उसके भीतर और बाहर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है। वह अनंत के साथ एकलय होता है। वह भगवान् की शक्ति के लिये ऐसी नहर बनता है जिसमें से वह शांत-शुभ चिंता या सक्रिय परोपकारिता के रूप में अपने-आपको प्रवाहित करता है। जब कोई आदमी अपने अंदर से स्वार्थ के दलदल को दूर करके औरों के लिये, औरों के सुख-दुःख में जीता है, जब वह पूर्णता के साथ, प्रेम और उत्साह से काम करता है परंतु परिणाम के लिये चिंता को दूर रखता है, न वह विजय के लिये आतुर होता है और न पराजय से डरता है—जब वह अपने समस्त कर्म भगवान् को अर्पित करता है और अपने हर विचार, हर वचन और हर कर्म को भगवान् की वेदी पर निवेदित कर देता है—जब वह भय और घृणा, विकर्षण और जुगुप्सा और आकर्षण से पिंड छुड़ा लेता है और प्रकृति की शक्तियों की तरह बिना उतावली, बिना विश्राम, अपरिहार्य रूप से पूर्णतया कर्म करता है—जब वह इस विचार से ऊपर उठता है कि वह शरीर, हृदय अथवा मन या फिर इन सबका योगफल है या जब वह अपने-आपको, अपनी निजी आत्मा को पाता है, जब उसे अपनी अमरता और मृत्यु की अवास्तविकता का भान हो जाता है, जब वह ज्ञान के आगमन का अनुभव करता है, जब वह यह अनुभव करता है कि वह स्वयं तो निष्क्रिय है और भागवत शक्ति बिना किसी प्रतिरोध के उसके मन, उसकी वाणी, उसकी इंद्रियों और उसके अंग-प्रत्यंग द्वारा काम कर रही है, जब वह जो कुछ है, जो कुछ करता है, उसके पास जो कुछ है उस सबको त्याग कर सब कुछ सर्वेश्वर, मानवजाति के प्रेमी और सहायक को दे देता है और स्थायी रूप से उन्हीं के अंदर निवास करता है, दुःख, अशांति और झूठी उत्तेजना के अयोग्य बन जाता है, तो यह होता है योग। प्राणायाम, आसन, एकाग्रता, पूजा, अनुष्ठान, धार्मिक कृत्य अपने-आपमें योग नहीं, योग के साधन हैं। योग कोई कठिन और संकटाकीर्ण पथ नहीं है। जो आंतरिक पथ-प्रदर्शक और गुरु

की शरण में आते हैं उन सबके लिये यह सुरक्षित और सरल है, सभी मनुष्य अंतर्निहित रूप से इसके योग्य हैं क्योंकि ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसकी प्रकृति में बल, श्रद्धा या प्रेम विकसित या प्रच्छन्न रूप में न हों और इनमें से कोई एक भी चीज योगी के लिये पर्याप्त सहारा हो सकती है। निश्चय ही सभी एक ही जीवन में इस पथ के उच्चतम शिखर तक नहीं पहुंच सकते किंतु सभी आगे तो बढ़ ही सकते हैं और मनुष्य जितना आगे बढ़ता है उसी अनुपात में शांति, बल और आनंद पाता है और—"*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*"—इस धर्म का जरा-सा टुकड़ा भी मनुष्य या जाति को महान् भय से मुक्त कर देता है।

हम फिर कहते हैं कि यह कहना गलत है कि आध्यात्मिकता ऐसी चीज है जिसका जीवन से कोई संबंध नहीं। ईशोपनिषद् कहता है, "सब कुछ त्याग दो ताकि तुम सबका उपभोग कर सको। किसी और की चीज पर नजर न डालो। इस जगत् में कर्म करते चलो और सौ वर्ष जीने की इच्छा करो। तुम्हें अपने कर्मों की दासता से बचने के लिये इसे छोड़ कर कोई और मार्ग नहीं दिया गया।" यह सोचना भूल है कि धर्म के शिखर इस जगत् के संघर्षों के ऊपर हैं। श्रीकृष्ण पुकार-पुकार कर अर्जुन को संघर्ष करने के लिये कहते हैं, "युद्ध करो और विरोधियों को उखाड़ फेंको।" "मुझे याद करो और लड़ो," "अपने सभी कर्म मुझे अर्पित करो, हृदय आध्यात्मिकता से भरा हो और समस्त लालसाओं से, स्वार्थपूर्ण दावों से मुक्त होकर लड़ो। तुम्हारी आत्मा का ज्वर तुमसे छूट जाये।" यह मानना भूल है कि यद्यपि धार्मिक मनुष्य अपने सामान्य क्रिया-कलाप का त्याग नहीं करता फिर भी वह इतना अधिक सात्त्विक, इतना अधिक सन्त-स्वभाव, इतना अधिक प्रेमी और इतना अधिक आवेग-रहित हो जाता है कि वह जगत् के स्थूल कार्य के योग्य नहीं रहता। इसके उल्टे भाव में गीता के उत्तर से अधिक उग्र और दृढ़ उत्तर नहीं हो सकता, "जिसने अपने स्वभाव को अहंकार से शुद्ध कर लिया है, जो अपनी आत्मा पर कर्मों के संस्कार नहीं पड़ने देता, वह चाहे सारे संसार को मार डाले फिर भी वह हत्या नहीं करता और कर्म के बंधन में नहीं आता।" विनाश के क्षेत्र में अर्जुन का रथ हांकते हुए कुरुक्षेत्र के सारथी कर्मयोग का चित्रण और उसकी प्रतिमा हैं क्योंकि शरीर रथ है, इंद्रियां घोड़े हैं, सांसारिक कर्म की रक्तरंजित दलदल में से श्रीकृष्ण मनुष्य की आत्मा को वैकुंठ की ओर लिये जाते हैं।

—श्रीअरविन्द

अमृत की यादें

(९)

मुझे ठीक दिन तो याद नहीं, शायद दस-पन्द्रह दिन बाद मैंने विजयकान्त से फिर पूछा कि मैं श्रीअरविन्द से कब मिल सकूंगा। उसने कहा, "मैं उनसे पूछ कर बतलाऊंगा।" चौथे या पांचवें दिन उसने मुझसे कहा, "चलो, आज शाम को हम श्रीअरविन्द के कमरे में जायेंगे।" उस दिन विद्यालय में मेरा मन नहीं लगा। शाम को विद्यालय से मैं तीर की तेजी से निकल कर पहुंच गया विजयकान्त के पास। वह अपनी फुटबॉल की पोशाक में तैयार खड़ा था। मेरे वहां पहुंचते ही वह मुझे उनके कमरे में ले गया और अपने-आप तुरंत वहां से फुटबॉल के लिये निकल गया।

मुझे श्रीअरविन्द के दर्शन इस तरह हुए—वे अपने कमरे में एक मेज के पास लकड़ी की कुरसी पर बैठे कुछ लिख रहे थे। उन्होंने अपनी किताब कुछ खिसकायी। उनकी आंखों में कृपा भरी थी। कमरे में उनके और मेरे सिवा कोई न था। हम एकदम से अकेले थे। कमरे में नीरवता छायी हुई थी, उसी तरह विराजमान वे मुझे एकटक देख रहे थे और मैं भी उस गभीर दृष्टि में डूब गया।

उन दिनों मैं अंग्रेजी भली-भांति न बोल सकता था। मैंने श्रीअरविन्द के साथ टूटी-फूटी अंग्रेजी में बोलने की कोशिश की, लेकिन मैं जो दो-चार शब्द जानता भी था वे भी ठीक तरह से न निकल रहे थे। अंत में मैंने कहा, "मैं रोज आपसे मिलना चाहता हूं!" उन्होंने मेरी प्रार्थना सुन ली। दूसरे दिन से मैंने विद्यालय से सीधे श्रीअरविन्द के यहां जाना शुरू किया। मैं वहां पहुंचूं उससे पहले ही श्रीअरविन्द अपने कमरे से बाहर आ जाया करते थे। मैं उनके सामने खड़े होकर खुलकर अपने मन की बात बिना रुके उंडेलना शुरू कर देता था। उस समय मैं यह भूल जाता था कि मैं अंग्रेजी नहीं के बराबर जानता हूं, लेकिन उनकी उपस्थिति में सभी बाधाएं बांध तोड़कर बह जाती थीं और मैं उस सागर में भाव-विभोर हो बहता रहता था जिसे लोग भक्ति कहते हैं। श्रीअरविन्द मुश्किल से दो-एक शब्द बोल देते थे और वे ही मेरे लिये अमृत समान होते थे।

इस तरह दिन, सप्ताह और महीने बीतने लगे। यह विचार कि श्रीअरविन्द के कारण मेरे अंदर कुछ परिवर्तन आ रहा था, मुझे बहुत खुश करता था। क्या अहंकार में कोई दृष्टि होती है? वह तो अंधा होता है। मैंने अनुभव किया कि उनकी कृपा समान, निष्पक्ष और सतत सत्य होती है।

दो-एक महीने में मुझे अंग्रेजी बोलने की आदत हो गयी। मैंने यूं ही श्रीअरविन्द से पूछ लिया कि क्या मैं उनके साथ रह सकता हूं। मैंने मैट्रिक की परीक्षा की तैयारी शुरू कर दी थी और परीक्षा का शुल्क भरने का समय आ रहा था। श्रीअरविन्द ने सीधा उत्तर देने की जगह कह दिया कि वे आगे की पढ़ाई की भी तैयारी की आशा करते हैं।

मैं तो घबरा-सा गया। मैंने इतिहास ध्यान से नहीं पढ़ा था। रसायन-शास्त्र मुझे कठिन लगता था, परंतु गणित में काफी मजा आता था। अंग्रेजी में मैं काफी अच्छा हो गया था इसलिये मुझे शंका रहती थी कि शायद मैं सब विषयों में उत्तीर्ण न हो सकूं। दूसरी तरफ से मैं श्रीअरविन्द के मकान में रहनेवालों को एकदम निश्चिंत पाता था और इधर मेरा मन चिन्ताओं से भरा था, गरीबी की चिन्ता, परीक्षा की चिन्ता, आदि आदि। कभी-कभी मैं बैठे-बैठे गुना करता था कि ये आश्रमवासी इतने निश्चिंत कैसे रहते हैं। और एक दिन मेरे अंदर एक विचार का उदय हुआ। उस विचार में अनंत शक्ति थी। वह था योगाभ्यास करने का विचार। विशाल वृक्ष की संभावना का बीज मेरे अंदर बोया जा चुका था। और मैं एक दिन श्रीअरविन्द से पूछ बैठा, "मैं योग करना चाहता हूं, आप मुझे कृपया अभ्यास की रीति बतलायेंगे?" उन्होंने मुझसे ही पूछ लिया, "तुम जानते हो कि योग किसे कहते हैं?" मुझे कहना पड़ा, "जी मैं नहीं जानता!" इस बारे में बहुत समय तक कोई बात न हुई।

मैं जब कभी विजयकान्त से मिलता था तो हमेशा योग की ही बात होती थी। वह कहता था कि योग द्वारा हम हवा में उड़ सकते हैं, पानी पर चल सकते हैं, जरा-मृत्यु से छुटकारा पा सकते हैं और अंत में वह कहता था कि हम फिरंगियों को देश-निकाला दे सकते हैं।

इन चमत्कारों की बातें मेरे अंदर कुछ और ही विचार जगाती थीं। जैसे—मेरा परिवार गरीबी से छुटकारा पा जायेगा, हमें भूख न सताएगी। मुझे परीक्षा में अच्छे अंक और फिर अच्छी नौकरी मिल जायेगी, इत्यादि।

१९१५ मेरे जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण वर्ष था। इसमें एक तरफ मन में शांति और किसी मौलिक वस्तु की सतत स्मृति जागी तो दूसरी ओर मैं अभी तक यह न समझ पाया था कि तपस्या से क्या प्राप्ति हो सकती है। मैट्रिक की परीक्षा मेरे मन को पूरी तरह घेरे हुए थी। उसका विचार और परिवार की गरीबी मुझे दबाये रहती थी। शायद मेरा जीवन अधमरा-सा हो गया था।

हमारे सारे गांव में दो-तीन वर्ष से वर्षा का अभाव था, खेत सूख गये थे। और फिर आयी पन्द्रह दिनों तक जोर की वर्षा। बहुत-से मकान गिर गये। इस समय लोग पहले जमा किये धान का उपयोग करते थे। ऐसी बारिश के समय तो हम मूंगफली भी नहीं उगा सकते थे। यह हम गांववालों के लिये सूखा का समय था और यह समय था जब मुझे परीक्षा का शुल्क भरना चाहिये था। मेरे पास नौ रुपये की कमी थी। जब मैंने श्रीअरविन्द से परीक्षा देने के बारे में सलाह मांगी तो उन्होंने इसके पक्ष में ही कहा। वैसे मेरा एक आंध्र मित्र था चन्द्रशेखर, जिसने बड़े मान के साथ बी० ए० पास किया था। श्रीअरविन्द उसके परीक्षा पास करने के बारे में ऐसे मजाक उड़ाया करते थे कि वह कभी-कभी रोना-सा हो जाता था। कैसी थी प्रभु की लीला !!

अब मेरे सामने समस्या थी कि परीक्षा के लिये पैसे कहां से लाऊं ? एक दिन मैंने श्रीअरविन्द के सामने यह बात छेड़ी। दूसरे दिन जब मैं उनके घर पहुंचा तो उन्होंने मुझे नौ रुपये पकड़ा दिये और शुल्क के पैसे दे देने की आज्ञा दी। मैं तो अचम्भे में पड़ गया और उनके सामने मूर्तिवत् खड़ा रह गया। १९१५ में मैं परीक्षा के लिये मद्रास जा पहुंचा। वहां से लौट कर मैं पहले श्रीअरविन्द के घर और फिर भारती के यहां जा पहुंचा। लेकिन वहां रहने के लिये जगह न थी तो मैं अपने घर वापिस चला गया।

कुछ समय के बाद मेरे पास कृष्णमाचारी का पत्र आया कि मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया—हां, बहुत अच्छे अंकों से पास नहीं हुआ था, लेकिन फिर भी मैं असंतुष्ट न था—मैं यह खबर देने सीधा पांडिचेरी श्रीअरविन्द के पास आया। यहां आकर भारती के घर ठहरा। जब मैंने श्रीअरविन्द को यह खबर सुनायी तो उन्होंने एक तरह से आगे पढ़ने का प्रोत्साहन दिया। लेकिन मेरी अवस्था त्रिशंकु के जैसी थी। अगर मैं इसी तरह पढ़ता गया तो श्रीअरविन्द के साथ कब रहूंगा ? यही द्वंद्व मेरे अंदर चलता रहा। लेकिन अंत में मैं अपने गांव वापिस आ गया और आगे की पढ़ाई के लिये किताबें, कपड़े, पैसे इत्यादि की व्यवस्था में जुट गया।

— — ❧ — —

हम किसी भावी आदर्शवाद के बिना काम नहीं चला सकते। यदि हम अपने मामूलीपन और अपने अर्द्ध-मानव और अर्द्ध-पशु की लड़खड़ाती दिनचर्या से ही संतुष्ट होकर नहीं रह सकते—और यह ऐसी सिंहासन-च्युति है जिसे हमारे अंदर का उच्चतम कभी स्वीकार न करेगा—तो हमें व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से अपने और अपने जीवन से कोई निर्माण करने के लिये श्रम करना चाहिये। और जीवन में हो या कला में, मनुष्य कोई महान् निर्माण नहीं कर सकता जबतक कि वह पूर्णता के भाव या रूप की कल्पना न कर सके और उन्हें देखकर वह अपने अंदर ऐसी क्षमता पर विश्वास करे जो उन्हें सिद्ध कर सके—उसकी प्रकृति के तत्त्व में चाहे जितनी अनम्यता या विद्रोही तत्त्व क्यों न हों। उसे पूर्णता के लिये अपनी इस शक्ति पर विश्वास से वंचित कर दो और तुम उसकी महत्तम सर्जक शक्ति या आत्म-सर्जक की क्षमता की हत्या कर दोगे या उसे पंगु बना दोगे।

—श्रीमां

'श्रीअरविन्द के साथ बातचीत' :

नियति इत्यादि के बारे में

३ मार्च, १९४०

नी—ऐसा लगता है कि दत्त आश्रम से बहुत प्रभावित हुआ था।

श्रीअरविन्द—कैसे ?

नी—पता नहीं, लोगों में यही बात चल रही है।

पु—नलिनी ने एक और कहानी सुनायी।

श्रीअरविन्द—वह क्या ?

पु—कहते हैं कि दत्त कहीं नजरबंद था।

श्रीअरविन्द—क्या वह नजरबंद था ?

नी—जी हां, कूच बिहार में।

पु—उसके पिता को उसे पुनः स्थापित करने की चिंता थी। उन्होंने सोचा कि इसका उपाय यही होगा कि उसे सर एंड्रयू फ्रेज़र के पास भेज दिया जाये जो पहचान लेंगे कि वह निर्दोष है। दत्त को उनके पास भेजने के लिये काफी मनाना पड़ा और अंत में वह इस शर्त पर जाने को राजी हो गया कि वह बंगाली पोशाक में ही उनसे मिलेगा और सरकारी सभाकक्ष में उनकी प्रतीक्षा न करेगा। दत्त ने एक मैली-सी धोती, मैला-सा कुरता और चप्पल पहने। इस हाल में वह सीधा फ्रेज़र के पास जा पहुंचा। फ्रेज़र के पैर डर के मारे कांप रहे थे, उसका अंगरक्षक दत्त की ओर निशाना किये हुए खड़ा था। दत्त रिवॉल्वर का सामने का धातु का हिस्सा भी देख पा रहा था।

श्रीअरविन्द—(हंस कर) क्या बेवकूफी की बात है ? शायद वह धातु का हिस्सा अपनी कल्पना में देख रहा था।

पु—मिलने के बाद दत्त बाहर आ रहा था कि उसने मुड़कर फ्रेज़र से कहा, "मेरे पिता ने आपको धन्यवाद कहा है" इस पर फ्रेज़र ठहाका मारकर हंस पड़ा।

श्रीअरविन्द—फ्रेज़र को दत्त के काम के साथ क्या लेना-देना ? वह तो बम्बई में था।

पु—शायद फ्रेज़र कोई प्रभाव डाल सकता।

श्रीअरविन्द—तुम दत्त की दूसरी कहानी नहीं जानते ? फ्रेज़र ने मेरे बारे में क्या कहा ?

पु—जी नहीं।

श्रीअरविन्द—फ्रेज़र ने जेल में मुझे देखने के बाद, दत्त से कहा, "मैंने उसे देखा है। उसकी आंखें पागल जैसी हैं।" दत्त ने कहा, "नहीं, उसकी आंखें कर्मयोगी की आंखें हैं।" (हंसी)

नी—दत्त माताजी को लिखना चाहता था लेकिन उसका गलत ख्याल है कि माताजी ने उसे लिखने से मना कर दिया।

श्रीअरविन्द—माताजी ने कहा था कि उसकी पत्नी के दर्शन के लिये आने के बारे में लिखने की जरूरत नहीं है।

नी—जी हां, उससे यही कहा गया था।

स—हां, अब वह पांडिचेरी के बारे में हर तरह की कहानियां सुनायेगा, (हंसी) और कोई उसका विरोध नहीं कर सकेगा।

नी—'त' अब कह सकता है कि "दत्त भावुक है"।

श्रीअरविन्द—और कह सकता है कि "सब लोग अरविन्द घोष के पास क्यों जा रहे हैं ?" कुछ हद तक 'त' बहुत बच्चों जैसा है।

पु—उसे एक और धक्का लगेगा।

श्रीअरविन्द—और कहेगा सारा जगत् भावुक हो रहा है !

शाम को

डॉ॰ बेचरलाल—एक अंधविश्वास है कि चांद की ओर देखने से आदमी पागल हो जाता है। क्या इसमें कुछ सत्य है ?

श्रीअरविन्द—रामचन्द्र ऐसा कहता है। उसके अनुसार प्रेमशंकर चन्द्र पर एकाग्रचित्त होते ही पागल हो गया था ! कहते हैं कि कवियों पर इसका असर होता है पर मैं सोचता हूं कवि तो वैसे ही पागल होते हैं।

डॉ॰ बेचरलाल—मैं तो चन्द्रमा की ओर देखने से बहुत शांति पाता हूं।

नी—परंतु क्या तुम्हें पागल हो जाने का डर है ? (हंसी)

श्रीअरविन्द—अगर तुम उस पर केंद्रित हुए बिना केवल देखते रहो तो कोई हर्ज नहीं ! (हंसी)

पु—एक पत्रिका में तुर्की में हुए भूकम्प का कारण समझाया गया है। उसका कहना है कि यह यूरोप में फैले हुए युद्ध-ज्वर के कारण है।

श्रीअरविन्द—कैसे ? तुर्की का युद्ध-ज्वर के साथ क्या संबंध है ?

पु—उसकी व्याख्या भी अजीब है। वह कहता है, "जब पेट खराब हो तो सिर दर्द होने लगता है, जब हाथ चोरी करे तो पीठ पर मार पड़ती है।"

श्रीअरविन्द—लेकिन यह नियम हर जगह लागू नहीं होता। पेट खराब हुए बिना भी सिर दर्द हो सकता है या हाथ चोरी कर सकता है और पीठ पर मार नहीं पड़ती।

पु—उसकी दृष्टि से प्रश्न यह है कि क्या नैतिक विधान अंशतः या पूरी तरह सक्रिय होता है ? क्या दुर्घटना और संयोग का कोई स्थान है ?

श्रीअरविन्द—यह क्यों मान लिया जाये कि यही एकमात्र विकल्प है ? और भी कारण हो सकते हैं।

पु—वह नियति की बात करता है।

श्रीअरविन्द—ऐसी और चीजें भी हो सकती हैं।

पु—बिहार के भूकम्प के बारे में गांधी भी कुछ ऐसा ही कहते हैं। उनका कहना है कि बिहार का भूकम्प लोगों के पाप के कारण हुआ।

श्रीअरविन्द—यह फिर भी 'क' के विचार से अधिक युक्तिसंगत है। पाप का विचार हिन्दुस्तानी है और भूकम्प भी हिन्दुस्तान में आया। परंतु यूरोप का युद्ध-ज्वर तुर्की में भूकम्प क्यों लायेगा ? बहरहाल मैं नहीं समझ पाता कि लोग ऐसी दुर्घटनाओं का नैतिकता के साथ क्यों नाता जोड़ते हैं जिनमें पाप और नैतिकवाद की बात होती है। यह प्रश्न मैंने "दिव्य जीवन" में उठाया है, यदि किसी के

सिर में चोट आ जाती है तो इसमें नैतिकता की बात क्यों उठायी जाये और कहें कि दुर्घटना में यह उसके पाप और कर्म की वजह से हुआ है। एनाटोलिया के किसान भूकम्प की वजह से मर गये, उनका यूरोप के युद्ध और पाप से क्या संबंध ? यह विनाश तो प्रकृति की प्रचंडता की गतिविधियों के कारण हुआ।

पु—'क' का कहना है कि यह सिर्फ श्रद्धा का प्रश्न है, बौद्धिक समाधान नहीं।

श्रीअरविन्द—तब फिर इस विषय में बात क्यों की जाये और युक्तियां क्यों दी जायें ? हम यह भी कह सकते हैं कि 'स' मानवजाति के पापों के कारण दुःखी हो रहा है। हिन्दू शास्त्र के अनुसार पिता के पापों का परिणाम चार पीढ़ियों को भुगतना पड़ता है।

स—यह तो आनुवंशिक उपदेश की-सी बात हो गयी। (हंसी)

श्रीअरविन्द—और, महाभारत के अनुसार, राजा अपनी प्रजा के पापों के लिये उत्तरदायी होता है। इस तरह तुर्की के भूकम्प के लिये मुस्तफा कमाल पाशा की जिम्मेदारी है क्योंकि उसने खलीफ़ा और मजहब को निकाल दिया। अगर सिरदर्द पेट की तकलीफ के कारण है तो गांधी के रक्तचाप के बारे में क्या कहोगे ? क्या यह भी पेट के कारण है ? शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वह जिन्ना के कारण है ! (हंसी)

स—नैतिक विधान सृष्टि का कर्ता-धर्ता नहीं है।

श्रीअरविन्द—नहीं, मनुष्य से पहले कोई नैतिक विधान नहीं था। भौतिक या प्राणिक जगत् में नैतिक विधान का कोई अस्तित्व नहीं है। वह मनुष्य से आता है और प्रगति की एक स्थिति में वह उपयोगी भी है। तब भी वह एक सामाजिक आवश्यकता है क्योंकि बिना किसी नैतिक विधान के समाज चल ही नहीं सकता। लेकिन यह कहना कि जगत् नैतिक विधान द्वारा निर्धारित होता है, अस्तित्व के तथ्यों को झुठलाना है। यह अनर्गल बात है। दो बातें हैं या तो जैसा हम करने की कोशिश कर रहे हैं कि नैतिक विधान के परे जा कर आध्यात्मिकता को अपना लें या नैतिक विधान को आदर्श मानकर उसके अनुसार चलने की कोशिश करें। यह बात समझ में आती है। यदि संसार का कोई नैतिक विधान है तो वह विभिन्न पापों के लिये विभिन्न दण्ड क्यों देता है ?

पु—'क' का कहना है कि मनुष्य को इन बातों से सीखना चाहिये। विनोबा भावे कहते हैं कि आदमी बिना खाये मर सकता है।

श्रीअरविन्द—बिना कारण ?

पु—अहिंसा के लिये।

श्रीअरविन्द—शायद यह कुछ नहीं है। (हंसी) फिर भी इससे समस्या का हल न होगा, क्योंकि तुम बिना खाये अपने शरीर के बहुत-से कीटाणुओं की हत्या करते हो।

पु—उनका कहना है कि आदमी को अपनी जान लेने का अधिकार है।

श्रीअरविन्द—यह एक प्रश्न है। तुम्हें जीवन किसी उद्देश्य से दिया गया है, उसे समाप्त करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है।

—नीरदवरण

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार

(२४)

मेरे मन में यह विचार आया कि मैं कोई योग तो कर नहीं रहा इसलिये मेरा यहां से जाना ही ठीक है, हालांकि मैं इसके बारे में निश्चित न था। फिर अचानक विचार आया कि अगर मैं पहली रेल पकड़ सकूं तो चला जाऊंगा। चूंकि मैं पकड़ न पाया इसलिये जाने से बच गया।

ज्यादा अच्छा यह है कि ऐसे विचारों को न आने दो। इस तरह के विचार को धर पकड़ना और क्रियान्वित करना ठीक नहीं।

९ दिसम्बर १९३२

क्या अभी तक कोई परम प्रभु के साथ नाता जोड़ सका है ? मेरा मतलब किसी अव्यक्त चेतना, शक्ति, किसी उद्भव या अंश से नहीं है जिसको बहुत-से लोग सिद्ध कर चुके हैं, बल्कि वास्तविक परम प्रभु से है।

कइयों ने मन तथा हृदय के द्वारा व्यक्तिगत भगवान् के साथ संबंध स्थापित किया है, लेकिन वह पूर्ण और चरम उपलब्धि नहीं है।

क्या यह कहना ठीक है कि अभी तक कोई अतिमानस की उच्चतम स्थिति तक नहीं पहुंच पाया है। क्या यह किसी के लिये संभव न था ?

नहीं, अभी तक कोई अतिमानस तक नहीं पहुंच पाया—यह संभव ही न था।

क्या अन्य उपलब्धियां, जैसे ब्रह्म की उपलब्धि व्यक्ति को किसी एकमेव भगवान् की ओर ले जाती है या जब वह अमुक अवस्था को पार कर लेता है तो उपलब्धि वहीं रुक जाती है ?

यह निर्भर करता है। अधिकतर लोग वहीं पर रुक जाते हैं, परंतु व्यक्ति वहां से उच्चतर उपलब्धि की ओर जा सकता है।

क्या यह सच है कि अंत में सभी उपलब्धियां एकमात्र उपलब्धि तक ले जाती हैं ? या इसी को अतिमानसिक उपलब्धि कहते हैं ?

अतिमानस मन से उच्चतर उस चेतना का स्तर है जिसमें मनुष्य परम प्रभु का सीधा सत्य तथा संपूर्ण सत्य पाता है। मनुष्य मन में एकमेव से मिल सकता है, परंतु यह अपूर्ण ज्ञान और अपूर्ण अनुभूति होती है।

१८ दिसम्बर १९३२

क्या साधना में ऐसा समय आ सकता है जब मनुष्य कह सके, "अब मैंने भगवान् को पा लिया है।" या फिर ऐसी बात मन की है और जब मन अचंचल होता है तो वह ऐसे प्रश्न नहीं पूछता और उपलब्धि की प्रक्रिया अनन्त रूप से चलती चली जाती है।

एक आधारभूत सिद्धि है जिसमें आदमी कह सकता है, "मैंने अब भगवान् को पा लिया है" और अब किसी अनुपलब्ध चीज के लिये चिन्ता या तनाव की जरूरत नहीं। लेकिन उसके बाद भी उपलब्धि की इस चेतना का विकास होता है और दिव्य सत्य मौलिक अनुभूति में अधिकाधिक प्रकट होता है।

क्या प्राण यह सिद्धि पाना और अनुभव करना चाहता है कि वह सफल हुआ है?

हां।

हृदय के लिये अभीप्सा ही उपलब्धि है?

हां।

क्या यह सच है कि मन के लिये उपलब्धि केवल स्थिर ही नहीं बल्कि उसके अस्तित्व का अंग भी होनी चाहिये।

आधारभूत रूप से हां, लेकिन विकास भी होता है। पूरी स्थिरता अतिमानस में होती है।
१९ दिसम्बर १९३२

पिछली रात जब मैंने सचेतन बनने की कोशिश की, मेरे अंदर हर चीज नाराज हो गयी। मुझे लगा कि पहले मुझे अपने ऊपर थोड़ा संयम करना चाहिये। बहुत-सी गतियां चल रही थीं और मैं उन्हें कभी-कभी टुकड़ों में देख रहा था। काफी गड़बड़झाला था फिर भी मुझे कुछ संपर्क प्राप्त हुआ और शांति मिली। यही चीज दिन में भी हुई।

तुम्हें अचंचल रहने की तरकीब आनी चाहिये और उस अचंचलता में 'उपस्थिति', 'शक्ति', 'प्रकाश' इत्यादि की लीला को लाना चाहिये जो साधना की क्रिया है। संघर्षमय प्रयास से तो कम-से-कम परिणाम प्राप्त होता है, और वह भी मिलता है बहुत अधिक गड़बड़ और अस्त-व्यस्तता की कीमत पर।
६ जनवरी १९३३

अब मैं देखता हूं कि अपने-आपको गड़बड़ में डालना ठीक नहीं है। एक बार गड़बड़ शुरू हो जाये तो उसे रोकना मुश्किल हो जाता है। उत्तेजना से शांति ज्यादा अच्छी है।

गड़बड़ नुकसान के सिवा और कुछ नहीं कर सकती—शांति ही निश्चित आधार है।
२४ जून १९३३

मैं सोच रहा हूं कि भविष्य में मुस्लिम प्रदेशों और इस्लाम की क्या नियति है। भारत में मुसलमानों का क्या भविष्य है ? शायद फिर से खिलाफत को उठाना सबसे अच्छा हो, और खलीफा यहां हिन्दुस्तान में हो। अन्य मुस्लिम देशों को यहीं से धार्मिक आदेश-निर्देश दिये जा सकते हैं। यह उचित चीज होगी और भारत के भविष्य के लिये अच्छा होगा, इससे मुसलमानों में भारत के लिये अपनापन होगा और अन्य देशों को भी भारत के आध्यात्मिक संदेश की ओर मोड़ा जा सकेगा।

तुम्हारे विचार में कठिनाई यह है कि मुस्लिम देश बहुत अधिक राष्ट्रवादी बन गये हैं और वे किसी और देश का खलीफा स्वीकार न करेंगे। तुर्कों ने तो खिलाफत को उठा फेंका क्योंकि खलीफा की उपस्थिति उनकी राष्ट्रीय प्रगति में बाधक थी।
२५ जून १९३३

मैं देखता हूं कि जब मैं साधना में बाहरी शक्तियों के स्पर्श का अनुभव करता हूं तो मेरे अंदर भावुकता-भरे आवेग पैदा हो जाते हैं जो कामना, क्रोध, घृणा जैसे विचारों, अनुभवों और आवेगों में अनूदित हो जाते हैं। कोई अच्छा निश्चय भी ऐसी अनुभूति में बदल सकता है। क्या यह अनुभूति की पूर्णता है या मन में उठनेवाली भावुक शक्ति है ?

यह प्राणमय भावनाओं की गलत घुसपैठ है। क्रोध और घृणा इत्यादि कभी अच्छी अनुभूति के भाग नहीं हो सकते, उनकी पूर्ति तो किसी हालत में अच्छी अनुभूति नहीं हो सकती।

आज मुझे लगा कि प्रचार द्वारा प्रसार करना कोई अच्छी चीज नहीं है और उसे रोकना चाहिये।

तुम्हारी बात ठीक है। प्रचार चीजों को ज्यादा बाहर फेंकता है और उस जगत् में फेंकता है जो तैयार नहीं है। पहले चीजों को अंदर से पकने देना चाहिये, उसके बाद वे बिना कठिनाई के फैलेंगी और सुस्थिर हो जायेंगी।
१२ सितम्बर १९३३

—श्रीअरविन्द

तुम्हें चिंता नहीं करनी चाहिये, जैसा चल रहे हो वैसा चलते रहो, केवल एक बात का ध्यान रखो : अपनी ऊपरी, हलकी और बाह्यवर्ती सत्ता को बीच में आने और तुम्हारे प्रयत्न को विफल करने की अनुमति मत दो, उदाहरणार्थ, जैसा तुम्हारे साथ मार्चिंग के समय होता है।

आवश्यकता है एक सतत, शांत सहनशीलता की जो तुम्हें क्षुब्ध व निराश करके तुम्हारी उन्नति में बाधक न हो। तुम्हारी अभीप्सा में जितनी अधिक सच्चाई होगी उतनी अधिक तुम्हारी विजय सुनिश्चित होगी।

—श्रीमां

वैश्व चेतना

सामान्यतः प्रत्येक मनुष्य में मन, प्राण तथा मन की चेतना अपने-आपमें बंद रहती है; वह संकीर्ण होती है विशाल नहीं, अपने-आपको सभी चीजों के केन्द्र के रूप में देखती है, अपने विचार के अनुसार सभी चीजों का मूल्यांकन करती है—वह चीज को सचमुच वह जैसी है उस रूप में नहीं जानती। लेकिन जब योग के द्वारा व्यक्ति सच्ची चेतना के प्रति उद्घाटित होना शुरू करता है तो यह बाधा छिन्न-भिन्न होने लगती है। तुम मन को विस्तृत होते अनुभव करते हो, यहां तक कि अंत में शारीरिक चेतना भी विस्तृत, अधिकाधिक विस्तृत होती जाती है, जब तक कि तुम यह अनुभव नहीं कर लेते कि सभी चीजें तुम्हारे अंदर हैं और तुम सभी चीजों के साथ एक हो। तब तुम माताजी की वैश्व चेतना के साथ एक हो जाते हो।

*

'फिलहाल मनुष्य अपनी सतही व्यक्तिगत चेतना में बंद है और संसार को (या यह कहें कि उसकी सतह को) केवल अपने बाहरी मन तथा इन्द्रियों द्वारा और संसार के साथ उनके संपर्कों की व्याख्या द्वारा ही जानता है। योग द्वारा उसके अंदर एक चेतना का उद्घाटन हो सकता है जो विश्व की चेतना के साथ एक हो जाती है; वह प्रत्यक्ष रूप से एक वैश्व सत्ता के बारे में, वैश्व अवस्थाओं, वैश्व शक्ति तथा बल, वैश्व मन, प्राण तथा जड़-भौतिक के बारे में अभिज्ञ हो जाता है और इन चीजों के साथ सचेतन संबंधों में रहता है। तब कहा जाता है कि उसके अंदर वैश्व चेतना है।

*

वैश्व चेतना वह है जिसमें अहं की, वैयक्तिक मन तथा शरीर की सीमाएं विलीन हो जाती हैं और व्यक्ति उस वैश्व विशालता के बारे में अभिज्ञ हो जाता है जो वैश्व आत्मा है या उससे भरपूर है और वह वैश्व शक्तियों, वैश्व मनः-शक्तियों, वैश्व प्राण-शक्तियों, जड़ भौतिक की वैश्व ऊर्जाओं, वैश्व अधिमानस शक्तियों की प्रत्यक्ष क्रीड़ा के बारे में अभिज्ञ हो जाता है। लेकिन व्यक्ति इन सब चीजों के बारे में एक साथ अभिज्ञ नहीं होता; वैश्व चेतना का उद्घाटन सामान्यतः उत्तरोत्तर होता है। ऐसा नहीं होता कि अहं, शरीर, व्यष्टिगत मन विलीन हो जाते हों बल्कि व्यक्ति उन्हें केवल अपने एक बहुत ही छोटे हिस्से के रूप में अनुभव करता है। व्यक्ति दूसरों को भी अपने अंश के रूप में या स्वयं अपनी ही विभिन्न पुनरावृत्तियों के रूप में, उसी समान आत्मा के रूप में अनुभव करना शुरू करता है जो प्रकृति द्वारा दूसरे शरीरों में परिवर्तित है। या फिर, कम-से-कम वह अनुभव करता है कि वह विशालतर वैश्व आत्मा में निवास कर रहा है जो उसकी अपनी महानतर वास्तविकता है। वस्तुतः सभी चीजें अपनी प्रकृति और रूप-रेखा में बदलना शुरू कर देती हैं, जगत् के बारे में व्यक्ति की समस्त अनुभूति उन लोगों से पूरी तरह भिन्न हो जाती है जो अपनी ही व्यक्तिगत आत्माओं में बंद रहते हैं। व्यक्ति चीजों को एक भिन्न प्रकार की अनुभूति द्वारा जानने लगता है जो अधिक ऋजु होती है, जो बाहरी मन और इंद्रियों पर निर्भर नहीं होती। ऐसा नहीं है कि भूल की संभावना विलीन हो जाती है क्योंकि वह तो तब तक नहीं

हो सकती जब तक कि ज्ञान को व्यक्त करने के लिये किसी भी प्रकार का मन मनुष्य का यंत्र हो, लेकिन चीजों को अनुभव करने, देखने, जानने तथा उनके साथ संपर्क साधने के लिये एक नया, विस्तृत तथा गभीर तरीका आ जाता है और ज्ञान की सीमाएं करीब-करीब अपरिमेय हद तक फिर से खुल सकती हैं।

*

जब व्यक्ति को वैश्व चेतना प्राप्त हो जाती है तो वह वैश्व परमात्मा का अपनी आत्मा के रूप में अनुभव कर सकता है, वह विश्व में अन्य सत्ताओं के साथ ऐक्य का अनुभव प्राप्त कर सकता है, वह प्रकृति की सभी शक्तियों को मानों अपने अंदर गतिशील होते तथा सभी आत्माओं को स्वयं अपनी आत्मा के रूप में अनुभव कर सकता है।

*

इसमें कोई क्यों नहीं है सिवाय इसके कि यह ऐसा ही है, क्योंकि सभी कुछ वही एकमेव है।

*

वैश्व चेतना में व्यक्तिगत "अहम्" सर्व की एकमेव आत्मा में विलीन हो जाता है। जिस "अहम्" का अस्तित्व बना रहता है वह व्यक्ति का, व्यक्तिगत भावापन्नता का "अहम्" नहीं बल्कि वह वैश्वभावापन्न "अहम्" होता है जो सबके साथ तथा वैश्व आत्मा के साथ अभिन्न है।

*

वैश्व चेतना विशेष रूप से अधिमन की चेतना नहीं है, यह सभी लोकों पर छा जाती है।

*

अधिमानस पूर्ण वैश्व चेतना का आधार है लेकिन स्वयं वैश्व चेतना का अनुभव न केवल मन के ऊपर बल्कि मन, प्राण तथा भौतिक में किसी भी लोक में किया जा सकता है।

*

वैश्व चेतना के बहुत-से स्तर हैं—वैश्व भौतिक, वैश्व प्रणिक, वैश्व मानसिक तथा वैश्व मानसिक के उच्चतर लोकों से ऊपर अंतःप्रेरणा है, उसके ऊपर है अधिमानस और उसके भी ऊपर है अतिमानस जहां से परात्पर का आरंभ होता है। अंतःप्रेरणा के लोक में रहने के लिये (केवल अंतःप्रेरणाएं प्राप्त करने के लिये नहीं) व्यक्ति को वैश्व चेतना में रहना होगा क्योंकि वहां मानों वैश्व तथा व्यष्टि एक दूसरे के अंदर समा जाते हैं जैसे कि वे थे, और उनके बीच का मानसिक विभेद टूट चुका होता है, अतः ऐसा कोई भी जो पृथकात्मक अहं में बना हो इस तक नहीं पहुंच सकता।

*

वैश्व चेतना में तुम्हें जिस चीज से सावधान रहना चाहिये वह है बढ़े-चढ़े अहंकार की लीला से, विरोधी शक्तियों के अधिक बड़े प्रहारों से तथा वैश्व अविद्या के प्रयास से—क्योंकि वे भी वैश्व चेतना के अंग हैं—जो वैश्व सत्य में अंतरात्मा के विकास को रोकते हैं। इन चीजों को तुम्हें अनुभव से सीखना होता है, मानसिक शिक्षा या व्याख्या एकदम से अपर्याप्त होती है। वैश्व चेतना में सुरक्षित रूप से प्रवेश करने और उसमें से सुरक्षित रूप से निकल जाने के लिये जरूरी है कि बलशाली, केंद्रीय निरहंकारी निष्कपटता हो और चैत्य पुरुष सत्य की अपनी भविष्यवाणी तथा भगवान् की ओर ले जानेवाली अविचलित स्थिति के साथ प्रकृति के अग्रभाग में पहले से उपस्थित हो।

—श्रीअरविन्द

गलीचा

(एक आर्मीनियन उपकथा)

बहुत पुरानी बात है।

इस्तम्बूल का एक सुलतान था। एक बार वह देशाटन को निकला। सुलतान निकला तो उसके साथ मंत्री, कोतवाल, सैन्य, सामंत, हाथी, घोड़े, दास, दासी सभी चल पड़े और साथ ही सुलतान का बेटा, देश का युवराज भी चल पड़ा। कितने ही नदी, नाले, वन और पर्वत पार करके अंत में सुलतान एक समतल भूमि पर आ उपस्थित हुआ। उसने देखा सुन्दर नगर, भोले-भाले नगरवासी। सामने ही एक गांव था। गांव के प्रांतर पर दूर-दूर तक फैला था हरा-भरा मैदान। सुलतान ने आज्ञा दी कि यहीं तम्बू लगाओ।

कहने भर की देर थी, सभी काम में जुट गये। पलक झपकते ही फैले हुए मैदान में खड़े हो गये छोटे-छोटे सफेद तम्बू और उन पर लहराने लगे झण्डे।

उस दिन गांव में भारी मेला था। कितने ही लोग आये थे। चीजें बेची व खरीदी जा रही थीं। सभी व्यस्त हो इधर-उधर आ जा रहे थे। मेले में हर प्रकार का सामान बेचा जा रहा था। गाय, बैल, भेड़, बकरी, बासन-बर्तन, तरह-तरह की सुन्दर पोशाकें व आभूषण और न जाने क्या क्या !!

किंतु एक वस्तु ऐसी थी जिसके प्रति मेले के हर व्यक्ति की दृष्टि अपने-आप ही आकृष्ट हो जाती, वह थे वहां के कालीन। जैसी सुन्दर कारीगरी उतने ही आकर्षक रंग। ऐसे आकर्षक गलीचे दुर्लभ ही थे। ऐसी चमकदार नक्काशी शायद ही देखने को मिले।

राजकुमार मेले में गया, उसने घूम घूम कर तरह-तरह की वस्तुओं को देखा। किंतु, गलीचों को देखकर उसकी आंखें खुली-की-खुली ही रह गईं। किंतु एक और वस्तु ने युवराज का ध्यान बरबस अपनी तरफ खींचा। युवराज ने देखा उन सुन्दर कालीनों के पीछे एक बहुत सुन्दर लड़की बैठी है, वह जैसी रूपवती थी वैसा ही गोरा उसका रंग था। इस तरह का सौन्दर्य मनुष्यों में कम ही दिखायी पड़ता है।

युवराज लौट आया और आते ही सुलतान से जा कर कहा, "मैंने मेले में एक बहुत रूपवती लड़की देखी है, मैं उसी से विवाह करूंगा।"

सुलतान एकदम हैरान रह गया फिर बोला—"यह कैसी बात है—कौन है यह लड़की ? न इसके कुल का पता है न शील का। यह आखिर होगी तो इसी गांव की गंवारिन। मैंने तो तेरे लिये एक बहुत ही रूपवती लड़की तय कर रखी है। वह है मेरे ही राज्य के सबसे धनी व्यापारी की इकलौती बेटी।"

किंतु युवराज का दिल तो किसी भी शर्त पर उस लड़की को छोड़ने के लिये तैयार न था। उसका मन नहीं माना। लाचार होकर सुलतान ने उस लड़की को बुलावा भेजा।

लड़की राजा के तम्बू में आयी।

सुलतान ने कहा, "तुम्हें मैं अपनी बहू बनाना चाहता हूं, बोलो तुम्हें मंजूर है ?"

लड़की ने निडर स्वर में पूछा, "शाहंशाह ! आपका बेटा क्या काम करना जानता है ?"

सुलतान तो अवाक् रह गया। राजा का बेटा काम क्या जानेगा ? काम के लिये तो हैं मजदूर, मिस्त्री, किसान, माली।

किंतु लड़की अपनी धुन की पक्की थी। "जिसे कोई कला नहीं आती उससे मैं शादी नहीं करूंगी।"

युवराज ने सभी कुछ सुना, सुनकर निश्चय किया, "मैं काम जरूर सीखूंगा, जैसे भी हो इससे विवाह करके रहूंगा।"

सुलतान रुक नहीं सकता था। वह अपने नगर इस्तम्बूल लौट आया, उसके साथ ही उसके सेवक, अनुचर, सैन्य, सामन्त सभी लौट आये। युवराज किंतु नहीं लौटा। वह अकेला गांव में रह गया।

युवराज न तो मूर्ख था न आलसी। एक ही वर्ष में वह गलीचे बुनने में उस्ताद कारीगर बन गया। उसकी उंगलियां तेजी से चलतीं, साथ ही गलीचों पर उभर आते सुन्दर रंग-बिरंगे बेलबूटे।

अब कोई बाधा न रही, सुन्दरी लड़की युवराज से विवाह करने को तैयार हो गयी। युवराज उसके साथ लौट आया इस्तम्बूल में। राजधानी में महोल्लास छा गया। बड़ी धूम-धाम से राजकुमार के साथ उसका विवाह हो गया।

दिन बीतने लगे। देश में आनंद व चैन की सीमा न रही।

*

एक बार राजपुत्र को समाचार मिला कि उसी शहर में एक सराय है। वहां का बना खाना अगर कोई एक बार भी खा लेता है तो जन्म भर नहीं भूल सकता। जैसी सुन्दर उसकी खुशबू वैसा ही है स्वाद।

जहां जो भी आश्चर्य की चीज होती, राजकुमार उसे परखना चाहता। एक दिन राजकुमार एक व्यापारी के वेश में उस सराय की ओर चल दिया। किसी को भी पता न चला कि वह व्यापारी राजकुमार है।

सराय में पहुंच कर उसने मालिक से कहा, "तुम्हारे पास जो भी अच्छी खाने की चीज हो मुझे दो।" सराय का मालिक खुशी-खुशी राजकुमार को सादर भीतर ले गया। जिस कमरे में उसे बैठाया गया वह धनी-मानी लोगों के लिये ही विशेष रूप से सजा हुआ था। कमरे में दूसरा कोई न था। राजकुमार के बैठते ही नौकर ने नाना प्रकार के भोजन, सुन्दर बर्तनों में उसके सामने सजा दिये। उस खुशबूदार उत्कृष्ट भोजन को देखकर राजकुमार का दिल खुश हो गया। अपनी जिन्दगी में उसने कभी ऐसा भोजन चखा तक न था।

किंतु यह क्या ? यह फर्श हिल क्यों रहा है ? सोचने की देर थी कि राजकुमार समेत कमरे का फर्श नीचे की ओर खिसकने लगा। कितना भयंकर अंधकार था। राजकुमार को लगा कि वह एक अतल अंधकूप में धंसता चला जा रहा है। चारों ओर ऊंची दीवारें, कहीं प्रकाश का नाम नहीं। सिर्फ बहुत ऊपर एक सूराख से प्रकाश दिखायी दे रहा था वह भी इतना भयंकर लगता था मानों किसी जंगली जानवर की आंखें हों। राजकुमार तो गूंगा ही बन गया। वह सोच में पड़ गया कि अब किया क्या जाये ?

ठीक उसी समय यमदूतों के समान ही डरावने चार-पांच डाकू हाथ में चमकती तलवार लिये उसके ऊपर झपट पड़े। राजकुमार को लगा अब जान बचाना कठिन है। अचानक एक तरकीब उसके दिमाग में कौंध गयी। उसने उन डाकुओं से कहा, "मुझे जान से मत मारो। मुझे मार कर तुम्हें मिलेगा ही क्या ? एक काम करो; मेरे पास धन-दौलत जो भी है ले लो और मुझे यहीं कैद कर रखो। मैं सिर्फ गलीचों का व्यापारी ही नहीं हूं, बढ़िया गलीचे बुन भी सकता हूं। तुम मुझे सामान ला देना, मैं तुम्हें बढ़िया-बढ़िया कालीन बना दूंगा। उन्हें बाजार में बेचकर तुम रुपये कमा सकते हो।"

डाकुओं ने सोचा इसमें बुरा क्या है। हमारा कुछ बिगड़ेगा नहीं, बल्कि बैठे-बिठाये कमाई होगी। यह सोचकर उन्होंने अपनी-अपनी तलवार म्यान में रख ली। लोहे का मजबूत दरवाजा और उससे भी मजबूत ताला लगाकर राजकुमार को वहीं अकेला छोड़कर चले गये।

तब से राजकुमार उस अंधेरी कोठरी में बैठा गलीचे बुनता और सोचता कि कब वह दिन आयेगा जब वह इस अंधकूप से बाहर निकल पायेगा।

उधर राजधानी में सभी बड़े परेशान। राजकुमार का कुछ पता नहीं। राज्य भर में उदासी छा गयी, सभी की नींद हराम हो गयी। खाने में भी रुचि नहीं। सुलतान ने देश-देशांतर में आदमी दौड़ाये किंतु कोई भी राजकुमार का संदेश न ला सका।

डाकुओं ने भी सुना कि कई दिनों से युवराज लापता है, सुनकर उन्हें भी कुछ बुरा लगा किंतु वे यह तो जान ही न सके कि युवराज उन्हीं के अंधकूप में बंदी हैं। वे तो समझते थे कि उन्होंने एक गलीचे के व्यापारी को बंदी बनाकर रखा है। व्यापारी को बंदी बनाकर उनको तो फायदा ही फायदा है। उसके बनाये गलीचों को बेचकर उनका घर सोने-चांदी से भर गया है।

राजकुमार गलीचे बुनता-बुनता आर्तनाद सुनकर चौंक उठता। कितने ही निरीह यात्रियों का रोज उस अंधकूप में वध होता था। वह सुनते-सुनते भय से सिहर उठता। वह उन नर-राक्षसों के नाश का उपाय सोचता, जिससे उसे इन कष्टों से छुटकारा मिले और यात्रियों के प्राण बच जायें। राजकुमार सोचता, किंतु आशा की एक क्षीण रेखा तक उसे दिखायी न देती।

अंत में राजकुमार ने अपनी मुक्ति के लिये आखिरी चेष्टा की। वह एक बहुत बड़ा गलीचा बनाने लगा। इतना बड़ा कि शायद ही किसी ने देखा हो। राजकुमार काम में डूब गया। उसकी सधी अंगुलियां इस प्रकार चलतीं जैसे मशीन। राजकुमार उसे बनाने में ऐसा लीन हो गया कि आराम करना तक भूल गया। दिन भर काम करते-करते उसका क्लांत शरीर वहीं पर गहरी नींद में लुढ़क पड़ता; नींद खुलते ही तुरंत काम शुरू कर देता।

कितने ही दिन व महीने व्यतीत हो गये। काम में रत राजकुमार अपनी निराशा को भूलने का प्रयत्न करता। उसे याद आती घर की, नव-विवाहिता पत्नी की, सगे-संबंधियों की, आत्मीय बन्धुजनों की। याद के साथ ही उसके आंसू बहने लगते, फिर वह नये उत्साह के साथ काम में जुट जाता।

कल्पना में खोया-खोया एक-एक कर धागा पिरोता और सोचता कि मुक्ति के मार्ग का एक कदम और कम हुआ। राजकुमार इसी धुन में था कि योजना सफल होने पर मुक्ति ही मुक्ति है। साथ ही वह और कितने ही यात्रियों की जान बचा सकेगा।

रह-रह कर आशा और निराशा के बीच उसका मन डोलता। इसी प्रकार छः महीने व्यतीत हो गये। इस बीच राजकुमार ने एक बहुत बड़ा गलीचा बना लिया। उस गलीचे को देखकर डाकू भी दंग रह गये। राजकुमार ने उस सुन्दर नक्काशी के बीच-बीच में बड़े कौशल के साथ अपना तथा सराय का नाम और पता लिख दिया था। डाकू उस गलीचे को उलट-पुलट कर देखते किंतु उसमें संदेह की कोई चीज न पाते।

राजकुमार ने उन डाकुओं से कहा—"देखो इसे बनाने में बहुत समय लगा है, मेहनत भी खूब की है। इसे ऊंचे दाम पर ही बेचना। साधारण लोग इसे खरीद नहीं सकेंगे। तुम लोग इसे नगर के किसी बड़े व्यापारी के पास बेचना, न हो तो सुलतान के पास ही चले जाओ। वे गलीचों के अच्छे पारखी हैं, वे तुम्हें उचित दाम देंगे। सौ सोने की मुद्रा से कम में इसे मत बेचना।"

दो डाकू फेरीवाले के वेश में इस्तम्बूल की सड़कों पर उस गलीचे को बेचने चले। जो भी उसे देखता दंग रह जाता। कीमत सुनकर किसी की खरीदने की हिम्मत नहीं होती। सौ स्वर्ण मुद्रा भला दे कौन ?

अंत में थके-मांदे फेरीवाले राजभवन में आ पहुंचे। सुलतान ने भी उस गलीचे को देखा और बिना कुछ कहे सौ स्वर्ण मुद्रा देकर उसे खरीद लिया।

राजप्रासाद के एक बड़े कमरे में उसे बिछाया गया। राजा के अंतःपुर के लोग उसे देखने आये। रानी आयी, राजकुमारी आयी, और उनके पीछे-पीछे आयी मलिन वेश में राजवधू, आंखों में आंसू लिये। राजा उस गलीचे को जितना देखता, देखता ही रह जाता, ऐसी कारीगरी उसने जीवन में नहीं देखी थी। राजवधू उसे जितना ही देखती, उसके दिल में टीस उठती—ऐसा काम तो उसके पीहर के गांव में ही होता है।

सभी उसके रंग, नक्काशी आदि की प्रशंसा करते। हाथ की सफाई देखकर सब मुग्ध हैं। राजवधू भी देख रही है—अचानक नक्काशी के बीच-बीच में उसे कुछ अक्षर कढ़े हुए दिखायी दिये। उसने और भी अक्षर खोजे, उन्हें पढ़ने की चेष्टा की, थोड़ी ही देर में सुन्दर नक्काशी के बीच उसे राजकुमार व सराय का नाम और पता दिखायी दिया। सभी ने जाना कि राजकुमार कहां है, पर यह किसी ने न जाना कि वह किस हालत में है।

क्षणमात्र देर न कर, सुलतान डाकुओं के डेरे में जा पहुंचा। सिपाही, सैनिकों ने मकान को घेर लिया। हो-हल्ला शुरू हुआ। किसी ने तलवार उठाई तो किसी ने भाला। सभी मकान के अंदर घुस गये। सभी डाकू पकड़े गये। किसी के हाथ में हथकड़े डाले गये तो किसी के पांव में बेड़ियां।

ढूंढ़ते-ढूंढ़ते अंत में वे एक विशाल लोहे के दरवाजे के पास आकर रुक गये। "कौन है यहां ? कितना पीला है इसका चेहरा।" देखते ही देखते विराट् दरवाजा तोड़कर गिरा दिया गया । सिपाही अंदर घुस गये। "अरे, यही तो हैं हमारे युवराज !" राजकुमार उस समय एक और गलीचा बुनने का इंतजाम कर रहा था।

तेज सूर्य की रोशनी में उसकी आंखें चौंधियां गयीं। वह फटी-फटी आंखों से देखने लगा, पर कुछ समझ नहीं पाया कि आखिर मामला क्या है ?

सुलतान के आने में देर न हुई। वे आये, साथ में पालकी में आयीं राजघराने की वधुएं। युवराज की नव-विवाहिता पत्नी भी उनमें थी। सुलतान ने बेटे को हृदय से लगा लिया। उसकी आंखों से आनंद-अश्रु बहने लगे। राजकुमार आगे बढ़ा, जहां राजवधू थी। पास पहुंचते ही बोला—तुमने ही मेरी जान बचाई है। तुम्हारे ही कारण आज मैं फिर से अपने सगे-संबंधियों को देख पा रहा हूं। माता-पिता से मिल रहा हूं, देख रहा हूं दिन का प्रकाश। तुम्हें पाने के लिये मैंने जो काम सीखा था, आज उसी से मेरी जान बची।

डाकुओं को विचार के लिये न्यायालय में ले जाया गया।

सुलतान ने राज्यभर में आनन्दोत्सव मनाने की घोषणा की। सात दिनों तक राज्यव्यापी उत्सव मनाया गया।

राजवधू—ग्रामीण बाला—की खुशी का कोई ठिकाना ही न रहा।

समय की लय पहचानो

मधुर मां, यहां लिखा है : "अंत में आता है काल—समय, क्योंकि सभी चीजों में उनका क्रिया-चक्र और दिव्य गति की अवधि होती है . . .।" यह दिव्य गति की अवधि क्या है ?

यह हर चीज के लिये अलग-अलग है।

हर क्रिया के लिये, हर सिद्धि के लिये, हर गति के लिये समय की एक निश्चित अवधि होती है, वह अलग-अलग होती है। समय की अनगिनत अवधियां हैं जो उलझी हुई हैं; लेकिन हर चीज एक प्रकार की लय से नियंत्रित रहती है जो उस चीज की अपनी लय होती है।

देखो, अपने बाहरी जीवन की सुविधा के लिये मनुष्यों ने समय को लगभग मनमाने रूप से वर्षों, महीनों, सप्ताहों, दिनों, घंटों, मिनटों, सेकंडों आदि में बांट दिया है . . . यह एक ऐसी लय है जो न्यूनाधिक रूप से मनमानी है, क्योंकि इसे मनुष्य ने बनाया है, लेकिन इसके अंदर अमुक वास्तविकता है क्योंकि वह वैश्व गतिविधि के साथ . . . जहांतक हो सके, मेल खाती है। और, प्रसंगवश, उदाहरण के लिये, हम जन्मदिन इसीलिये मनाते हैं : क्योंकि हर एक के जीवन में एक लय होती है जो उसकी परिस्थितियों के जन्म के नियमित चक्रों के साथ मेल खाती है।

और सभी गतिविधियों का अवलोकन करने पर पता चलता है कि उनकी एक खास लय होती है, उदाहरण के लिये, केवल समझने की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं की दृष्टि से, आंतरिक चेतना की गतिविधियों के, प्रगति में उतार-चढ़ाव के; आगे बढ़ने और पीछे हटने के, कठिनाइयों और सहायताओं के काफी नियमित अवधियों के चक्र होते हैं। लेकिन हर व्यक्ति ध्यान दे तो वह अनुभव करेगा कि उसकी लय बिलकुल उसकी अपनी है; उसके पड़ोसी की लय वही नहीं है। लेकिन जिस तरह ऋतुओं की एक खास लय होती है, जो सब मिलाकर काफी नियमित होती है, उसी तरह व्यक्तिगत जीवन की अपनी ऋतुएं होती हैं। और जब आदमी ध्यान से अपना अध्ययन करता है, तो उसे पता चलता है कि नियमित अन्तराल पर एक-सी परिस्थितियां भी दोहरायी जाती हैं। यहांतक कि बहुत संवेदनशील व्यक्ति यह भी जान पाते हैं कि सप्ताह के अमुक दिन या दिन के अमुक घंटों

में वे ज्यादा काम कर सकते हैं। कुछ लोगों को विशेष दिनों पर और विशेष घंटों में अधिक कठिनाई होती है; इसके विपरीत कुछ लोगों को विशेष क्षणों में ज्यादा अच्छी प्रेरणा प्राप्त होती है—लेकिन हर एक को अवलोकन द्वारा अपने अंदर इसका पता लगाना होता है। स्वभावतः यह निरपेक्ष होने से बहुत दूर है, यह कोई कठोर नियम नहीं है, और अगर यह कष्टप्रद हो तो सिर्फ दृढ़ इच्छा के जरा-से प्रयास से हटाया जा सकता है। लेकिन अगर वह सहायक हो, तो उसका उपयोग किया जा सकता है।

'और यह सब, कि हर चीज की अपनी-अपनी लय है, है न। यह बहुत ज्यादा पेचीदा लयों का ताना-बाना बनाती है जिसका परिणाम वह है जिसे हम देखते हैं: जिसमें कोई लय नहीं मालूम होती—क्योंकि वह बहुत ज्यादा पेचीदा, बहुत अधिक जटिल है।

मधुर मां, हम इसका उपयोग कैसे कर सकते हैं ?

हां, अगर . . . मान लो, तुम जानते हो . . . हम योग के बारे में बातचीत कर रहे हैं . . . अगर तुम अपने अंदर किन्हीं अवस्थाओं की एक तरह की पुनरावृत्ति देखो, उदाहरण के लिये, किसी विशेष मुहूर्त पर, दिन के किसी विशेष समय परिस्थितियों में तुम ज्यादा अच्छी तरह एकाग्र हो सकते हो या ध्यान कर सकते हो, तो, तुम उसी समय ध्यान या एकाग्रता करके उसका उपयोग कर सकते हो।

स्वभावतः, तुम्हें उसका दास नहीं बन जाना चाहिये; तुम उसका उपयोग कर सकते हो लेकिन उसे एक आवश्यकता न बन जाना चाहिये ताकि उस समय के बीत जाने पर तुम ध्यान कर ही न सको। लेकिन अगर वह काफी सहायता है, तो तुम सहायता का उपयोग कर सकते हो; यह सिर्फ अवलोकन की बात है।

अगर तुम अपना अध्ययन करो तो तुम्हें पता लग सकता है कि वर्ष में कुछ काल ऐसे आते हैं, केवल व्यक्तिगत अवस्थाओं के कारण ही नहीं, अधिक सामान्य अवस्थाओं के सामान्य प्रकृति की अवस्था के कारण। ऐसे काल आते हैं जब तुम्हें साधना में ज्यादा कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है; इसके विपरीत, ऐसे समय आते हैं जब तुम अपने अंदर ज्ञान और चेतना की वृद्धि के लिये अधिक उत्साह पाते हो। इससे तुम्हें इस अर्थ में सहायता मिलती है कि, अगर किसी समय तुम अपने-आपको विशेष कठिनाइयों के बीच पाओ या ऐसा लगे कि गति रुक गयी है, तो रोने-धोने की जगह तुम अपने-आपसे कहो : "क्यों, यह तो वही काल है; क्योंकि हम हर वर्ष के इस समय-विशेष में हैं।" और तुम धैर्य के साथ समय बीत जाने की प्रतीक्षा करो; या तुम जितना कर सकते हो करो, लेकिन हतोत्साह होकर यह न कहो : "हाय, देखो तो, मैं आगे नहीं बढ़ रहा, मैं कोई प्रगति नहीं कर रहा।" इससे तुम्हें समझदार होने में सहायता मिलती है।

और स्वभावतः तुम एक और कदम उठा सकते हो, और इस तरह सावधानी बरत सकते हो कि . . . इन बाहरी प्रभावों से मुक्त होने के लिये आंतरिक सावधानी बरत सकते हो। लेकिन यह बहुत बाद में आती है, जब तुम अपनी साधना के सचेतन स्वामी बनने लगते हो। यह बाद में आती है।

तो, बस ?

उधर, और कुछ नहीं . . .

१९ अक्तूबर, १९५५

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७
पृ० ३२३-३२५

संवेदनशीलता

तुम्हें अपनी संवेदनशीलता से बचना नहीं है बल्कि इस तरह के मोहभंगों को कूदने का एक तख्ता बनाकर उच्चतर चेतना में ऊपर उठने की शक्ति प्राप्त करनी है। एक तरीका यह है कि दूसरों से—वे दूसरे चाहे कोई भी क्यों न हों—एकदम से खरे व्यवहार की आशा न की जाये। और इसके अतिरिक्त, यह अच्छा है कि कुछ लोगों के सच्चे स्वभाव के बारे में ऐसे अनुभव हो जायें जिनके प्रति उदार प्रकृति का व्यक्ति प्रायः अंधा होता है; क्योंकि इससे उसे अपनी चेतना के विकास में सहायता मिलती है। जिस प्रहार से तुम इतना हिचकिचाते हो वह तुम्हें इतना कठोर इस कारण प्रतीत होता है कि वह एक ऐसा आघात है जो तुम्हारी मानसिक रचना के जगत् को पहुंचा है। इस तरह का जगत् बहुधा हमारी सत्ता का एक अंग बन जाता है। परिणाम यह होता है कि उस जगत् पर किया गया आघात लगभग शारीरिक पीड़ा प्रदान करता है। इसकी एक बड़ी क्षतिपूर्ति यह है कि वह तुम्हें अपने कल्पना-जगत् के विपरीत—कल्पना का वह जगत् ऐसा होता है जैसा कि तुम चाहते हो कि सच्चे जगत् को होना चाहिये—अधिकाधिक सच्चे जगत् में रहने के लिये प्रवृत्त करता है। लेकिन तुम जानते ही हो, सच्चा जगत् ही वह सब कुछ नहीं है जिसकी कामना की जाये, इसी कारण इस पर भागवत चेतना की क्रिया होनी चाहिये और इसे रूपांतरित होना चाहिये। लेकिन इसके लिये प्रायः सबसे पहली आवश्यक वस्तु है सद्वस्तु का ज्ञान पाना—यह चाहे जितना भी अरुचिकर क्यों न हो। बहुत बार यह ज्ञान हमारे पास उत्तम रूप में आता है प्रहारों और घावों के द्वारा। सच्चे, आदर्शवादी व्यक्ति, संवेदनशील व्यक्ति, सुसंस्कृत स्वभाववाले लोग ऐसे मोह-भंगों से मोटी चमड़ीवाले लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र वेदना पाते हैं, लेकिन यह कोई कारण नहीं कि सूक्ष्म भावनाओं की निंदा की जाये और सूक्ष्म संवेदनशीलता की तेज धार कुंठित कर दी जाये। मुख्य चीज यह है कि हम ऐसे किसी भी अनुभव से अपने-आपको पृथक् करना सीख लें और दूसरों की ऐसी विकृतियों को एक ऐसे उच्चतर स्तर से देखना सीख लें जहां से हम इन अभिव्यक्तियों को उनके उचित परिप्रेक्ष्य—निर्वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य—में देख सकें। तब हमारी कठिनाइयां वास्तव में और अक्षरशः सुअवसर बन जाती हैं। क्योंकि ज्ञान जब हमारी कठिनाइयों की जड़ तक पहुंच जाता है तब वह स्वयं मानों एक अद्भुत रोग-निवारक शक्ति बन जाता है। जैसे ही तुम कठिनाई के मर्मस्थल को छूते हो, जैसे ही तुम, अधिकाधिक गहराई में डुबकी लगाते हुए उस चीज तक पहुंच जाते हो जो सचमुच तुम्हें पीड़ा पहुंचाती है तो मानों चमत्कार की तरह पीड़ा गायब हो जाती है। अतः सच्चे ज्ञान तक पहुंचने का अटूट साहस योग का मुख्य सारतत्त्व है। सच्चे ज्ञान के ठोस आधार के बिना किसी भी स्थायी इमारत को खड़ा नहीं किया जा सकता। पैरों को पहले अपनी आधार भूमि के बारे में निश्चित होना चाहिये उसके बाद ही मस्तक आकाश को चूमने की आशा कर सकता है।

—श्रीअरविन्द

धार्मिक अनुष्ठान

अदृश्य लोक में प्राणिक सत्ताओं के सिवाय शायद ही किसी को पूजा करवाना प्रिय हो। जैसा कि मैंने कहा, इन्हें यह अच्छा लगता है। और फिर इससे इन्हें महत्व मिलता है। वे घमंड से फूल उठती हैं और बहुत खुश होती हैं। और अगर उन्हें ऐसे लोगों का एक दल मिल जाये जो उन्हें पूजता हो तब तो वे पूरी तरह संतुष्ट हो जाती हैं।

लेकिन अगर तुम सच्ची दिव्य सत्ताओं को लो तो वे ऐसी चीज को बिलकुल कोई मूल्य नहीं देतीं। उन्हें अपनी पूजा करवाना अच्छा नहीं लगता। नहीं, उन्हें इससे कोई विशेष खुशी नहीं होती! यह मत सोचो कि वे संतुष्ट हैं, क्योंकि उनमें घमंड नहीं होता। घमंड के कारण ही मनुष्य को पूजा करवाना अच्छा लगता है; अगर आदमी के अंदर घमंड न हो तो उसे पूजा करवाना अच्छा नहीं लगता; और उदाहरण के लिये, अगर वे एक अच्छा इरादा, एक अच्छी भावना, या एक निष्काम क्रिया, या उत्साह, या आनन्द, आध्यात्मिक आनन्द देखें तो ये चीजें उनके लिये प्रार्थना, आराधना या पूजाओं से अनंतगुना अधिक मूल्य रखती हैं...

मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि मैं तुमसे जो कह रही हूं वह बहुत ही गंभीर बात है : अगर तुम एक सच्चे देवता को कुर्सी पर बिठा दो और जबतक तुम्हारी पूजा चलती रहे तबतक वहीं बैठे रहने के लिये बाधित करो तो शायद तुम्हें पूजा करते हुए देख कर उनका मनोरंजन तो हो, लेकिन निश्चय ही उन्हें किसी प्रकार का संतोष नहीं होता। बिलकुल नहीं! तुम्हारी पूजा से न तो वे फूल उठते हैं, न प्रसन्न होते हैं और न उनकी महिमा ही बढ़ती है। तुम्हें इस विचार से पिंड छुड़ाना चाहिये...।

धार्मिक क्रियाएं! उदाहरण के लिये, ऐसी कितनी ही सत्ताएं हैं जिन्हें काली कहा जाता है—और जिन्हें, इसके अतिरिक्त कम या अधिक भयंकर रूप दिये जाते हैं—ऐसी कितनी ही हैं जिन्हें घरों में गृहदेवी के रूप में स्थापित किया गया है; ये सब भयंकर प्राण-शक्ति से भरपूर होती हैं! मैंने ऐसे लोग देखें हैं जो अपने घर में प्रतिष्ठित काली से इतना डरते थे कि छोटी-से-छोटी भूल करते ही कांप उठते थे, क्योंकि जब उन पर महाविपत्तियां टूट पड़तीं तो वे मानते थे कि उन्हें काली ने ही भेजा है। ऐसा विचार ही एक भयंकर चीज है। मैं इन सत्ताओं को जानती हूं। मैं उन्हें अच्छी तरह जानती हूं, लेकिन ये प्राण की सत्ताएं हैं, प्राण की रचनाएं जिन्हें रूप दिया है मनुष्य के मन ने, और रूप भी कैसे! और यह सोचना कि मनुष्य इतनी भयावह और विकराल चीजों की पूजा करते हैं! और तिस पर ये बेचारे देवता जिन्हें यह अभिनंदन दिया जाता है कि वे...।

इस दृष्टिकोण से यह बहुत अच्छा है कि कुछ समय के लिये मानवजाति इस धार्मिक वातावरण से बाहर निकल आये जो भय से और उस अंधे, अंधविश्वासी आत्म-समर्पण से भरपूर है जिसका विरोधी शक्तियों ने भयंकर रूप से अनुचित लाभ उठाया है। इस दृष्टिकोण से मनुष्यों को अंधविश्वास से मुक्त करने के लिये इंकार और प्रत्यक्षवाद का युग एकदम अनिवार्य है। इन सब चीजों से, भयंकर प्राण-शक्तियों के प्रति घृणित समर्पण से बाहर निकल कर ही हम सच्ची आध्यात्मिक ऊंचाइयों तक उठ सकते हैं और तब 'सत्य' की शक्तियों के, वास्तविक 'चेतना' के और सत्य 'शक्ति' के सहायक और सच्चे यंत्र बन सकते हैं।

ऊपर उठने से पहले आदमी को इन सब चीजों को दूर, बहुत दूर छोड़ देना होगा।

—श्रीमां

सत्य, ज्ञान, अनन्तता

सत्य, ज्ञान, अनन्तता, तीन अलग-अलग चीजों के रूप में नहीं बल्कि अपनी अभेद्य एकता में, शाश्वत की दैवी सचेतन सत्ता हैं। यह एक अनन्त सत्ता है, सत्ता का अनन्त सत्य है, आत्म-सत्ता का अनंत आत्म-ज्ञान है। इनमें से एक को अलग कर दो तो शाश्वत का भाव हम से छूट जाता है। हम अपने-आपको अर्ध-ज्योति में गिरा देते हैं या किसी अंधेरे या चमकते हुए परिणामहीन विरोधाभासों या एक व्यर्थ अतिरंजन और पृथक्-पृथक् बौद्धिक धारणाओं के गुणगान में जा गिरते हैं।

अनन्तता शाश्वत की कालातीत, देशातीत और कारणरहित अनन्तता है जिसमें देश और काल की समस्त अनन्तताएं और अनन्त अनुक्रम समाये हुए हैं जिन्हें मनुष्य कारण-कार्य संबंध कहते हैं। लेकिन वस्तुतः कारण-कार्य संबंध किसी ऐसी चीज का निम्नतर पक्ष या मन और प्राण की भाषा में उलथा है जो यांत्रिक कारण-कार्य संबंध नहीं है, जो शाश्वत की सत्ता की मुक्त आत्मनियति की समस्वरता है।

सत्य अनन्त और शाश्वत का सत्य है, सत्ता का सत्य और सत्ता की आत्माभिव्यक्ति के रूप में संभवन का सत्य है। मन को आत्माभिव्यक्ति की परिस्थितियां सांत मालूम होती हैं। वास्तव में कोई भी चीज सांत नहीं है सिवाय उस तरीके के जिससे मन अपनी दृष्टि में आनेवाली सब चीजों का अनुभव करता है। सभी चीजें ब्रह्म हैं, हर चीज ब्रह्म है।

ज्ञान शाश्वत की अनन्त आत्म-सत्ता का अविच्छेद्य ज्ञान है, उसके समस्त सत्य और वास्तविकता का ज्ञान है और उस सत्य में चीजें वैसी नहीं दीखतीं जैसा कि मन उन्हें देखता है बल्कि वैसी दिखलायी देती हैं जैसा आत्मा का आत्मदर्शन देखता है। यह ज्ञान मन के लिये संभव नहीं है। उसे वह केवल अपर्याप्त रूप में तब प्रतिबिम्बित कर सकता है जब उसे हमारी अतिचेतन सत्ता की गुप्त प्रकाशमय किरण छू ले। फिर भी हम इस किरण से आत्मदर्शी प्रज्ञा के मूल स्रोत तक चढ़ने के लिये एक चमकती हुई सीढ़ी बन सकते हैं।

शाश्वत सत्य, ज्ञान, अनन्तता को जानने का अर्थ है ब्रह्म को जानना।

—श्रीअरविन्द

'गैर्वाणी' :

चरित्रपरिवर्तनम्

बहुश्रुतः भोजराजः। गुणग्राहकः, न्यायप्रियः खल्वासीत् सः। निर्भयाः आसन् तस्य प्रजाः। न तत्र चौर्यं न च हिंसा—शान्तिः, सुखं चावर्तताम् राज्ये। तस्य राज्यव्यवस्था ईदृश्यासीत् यत् कोऽपि चौर्यं कर्तुं न उत्सहते। निशायां राजा स्वयं छद्मवेशेन यत्र तत्र अभ्रमत्।

एकदा दुर्मुखः नाम महाचौरः तं नगरमागतः। यदा सः कथमपि चौर्यं कर्तुं नापारयत् तदा दुःखितः खिन्नश्च नगरं त्यक्त्वा गतवान्। मार्गे एकं वनमासीत्। रात्रिः सञ्जाता। 'कुत्र गच्छेयमधुना' इति व्याकुलः सः इतस्ततः आश्रयमन्वैषयत्। अचिरमेव तेन एका कुटी दृष्टा। तत्र कश्चित् संन्यासी अवसत्।

सः न केवलं तस्मै आश्रयं दत्तवान् अपि तु तस्य सादरमातिथ्यसत्कारमपि अकरोत्। एतेन व्यवहारेण चकितचकितः तत्क्षणमेव दुर्मुखः तं स्व-गुरुममन्यत। साधुना भणितम्—बाढम्। अहं तुभ्यमुपदेशद्वयं ददामि। कदाप्यसत्यं मा ब्रूहि। द्वितीयं, यस्मिन् गृहे खादसि तत्र कदापि चौर्यं मा कुरु। यत्र कुत्राप्यसि, एते द्वे वचने स्मर पालय च।

कतिचिद् दिनानि व्यतीतानि। दुर्मुखः तत्रैवावसत्। अथ वनजीवनेन अरतः सः गुरोः अनुमत्या नगरं प्रतिगतः।

उज्जयिनीं प्राप्य अचिरमेव पुनः तस्य प्रच्छन्ना चौर्यवृत्तिः पर्यस्फुटत्। सामन्तवेशं धारयित्वागच्छत् राजप्रासादम्। द्वारपालेन पृष्टः सहजम् "अहं चौरः" इत्युदतरत्। "न तथा आत्मोद्घोषकाः चौराः भवन्ति, एषः सत्यं सामन्तः एव" इति मनसि अचिन्तयत् द्वारपालः। सः तस्मै निर्विघ्नं प्रवेशं दत्तवान्।

'एतत् दृष्ट्वा चकितः दुर्मुखः स्वगुरोः प्रतापं प्राशंसत्। अन्तरे सः कस्मिंश्चिद् गुप्तस्थाने प्रच्छन्नः अभूत्। निशीथे यदा राजा निर्गतः तदा अवसरं प्राप्य एषः मणिमुक्तादीनां पोट्टलिकां गृहीत्वा निर्गन्तुं प्रस्तुतः।

तत्क्षणमेव दृष्टिपथमागताः नानाविधभोजनैः परिपूर्णाः स्थाल्यः। कथमपि जिह्वालौल्यं नियन्तुमशक्तः सः उदरपूर्णमखादत्। भुक्त्वा स्वगुरोः द्वितीयवचनं स्मृत्वा सः पोट्टलिकां तत्रैव त्यक्त्वा गुप्तमार्गेण निर्गतः।

परेद्युः प्रभाते स्वकक्षे घटितं वृत्तान्तमवलोक्य विमूढः अभवत् राजा। "आगतः चौरः, महार्घाणि वस्तूनि त्यक्त्वा कथं गतः" एष एव विचारः तस्य मनसि मुहुर्मुहुः अस्फुरत्। परं सः चौर्यस्यान्वेषणाय जनान् प्रेषितवान्। अन्ते उपस्थापितः 'दुर्मुखः' राज्ञः समक्षम्।

दुर्मुखः राजानं सर्वं यथातथम् अश्रावयत्। तेन प्रसन्नः राजा तस्मै विपुलं धनमददात्। प्रयोजने सति पुनरपि आगच्छ इत्यपि अवदत्।

राज्ञः एतेन व्यवहारेण, स्वगुरोः प्रतापं बुद्ध्वा सः तत्क्षणमेव स्वव्यसनानि त्यक्तुं कृतनिश्चयः अभूत्। कृत्स्नं धनं च गुरुचरणयोः निवेद्य तत्रैव गुरुसेवायां निरतोऽभवत्।

शनैः शनैः तस्य सर्वेऽपि दुर्गुणाः दूरीभूताः।

एषः एव दुर्मुखः परं 'सुमुखः' नाम महात्माभवत्।

—वन्दना

चरित्रपरिवर्तन

राजा भोज की कहानियों ने उन्हें भारत में अमर बना दिया है। गुण में, न्यायप्रियता में वे बेजोड़ थे। कहते हैं कि उनके राज्य में हिंसा, उत्पात इत्यादि का कोई स्थान न था, प्रजा के लोग ताले-चाबी के नाम से परिचित तक न थे क्योंकि वहां चोरों तथा चोरी का अस्तित्व न था। घरों में, किवाड़ तक न थे। लोग-बाग चैन की नींद सोते थे और सुख की बंसी बजाते थे। प्रजा निश्चिंत थी क्योंकि राजा अपना धर्म निभाने में कोई कोर-कसर न छोड़ते थे। रोज रात को छद्मवेश धारण कर, राज्य में घूम-घूम कर जनता के सुख-दुःख के हिस्सेदार बनते, अतः दुःख-दर्द की काली छाया कभी उनके राज्य में ठहर न पाती।

एक दिन दूर देश से घूमता-घामता दुर्मुख नामक चोर राजा भोज के प्रदेश में पहुंच गया। उस राज्य की अपूर्व व्यवस्था देख चोर की बांछें खिल गयीं और वह मन-ही-मन सोचने लगा, "वाह, यहां तो मेरी दसों उंगलियां घी में हैं, इतनी संपत्ति है इस देश में और कितनी लापरवाही !!"

लेकिन चोर का मनोरथ पूरा हो ही न सका। न जाने उस प्रदेश में कैसा जादू था कि दिन में चोरी करने का वह साहस न जुटा पाया और रात को उसे ऐसा लगता मानों सारे समय दो आंखें उसे घूर रही हों। ऐसा अनुभव तो उसे अपनी जिंदगी में पहली बार हो रहा था। अन्ततः हताश और निराश उसने वहां से चले जाने का इरादा कर लिया। रास्ते में एक जंगल पड़ा। भूख और प्यास से सताये हुए चोर ने कुछ दूरी पर एक कुटिया देखी। वहां किसी साधु का वास था। साधु ने न केवल उसे भोजन दिया बल्कि कुछ समय तक वहां ठहरने का निमंत्रण भी दे दिया। दुर्मुख के लिये वह भी एक अनोखा अनुभव था। साधु के घर में चोर !! वह मान गया। साधु की सरल दिनचर्या से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि दो दिन के बाद जाने से पहले हाथ जोड़कर उसने साधु से प्रार्थना की—"महाराज, मैंने आपके जैसा सरल और सच्चा इंसान अपने जीवन में आज तक नहीं देखा। कृपया मुझे अपना शिष्य बनाकर गुरुमन्त्र दे दीजिये।"

साधु मुस्कुराकर बोले—"बेटे, मुझे भी तू पसंद आ गया। मेरी दो बातें गांठ बांधकर रख ले। पहली, कभी झूठ मत बोलना और दूसरी, जिस घर में खाना वहां कभी चोरी न करना। जहां कहीं तू जाये ये दो बातें मत भूलना।

चोर उन्हें प्रणाम करके चला गया और सारे रास्ते भर यही सोचता रहा कि ये साधु सचमुच पहुंचे हुए हैं तभी तो मेरे कहे बिना कि मैं जाति का चोर हूं, उन्होंने चोरी न करने का उपदेश कैसे दे दिया ! रास्ते में ही उसने यह निश्चय कर लिया कि अब वह चोरी-चकारी का घृणित काम छोड़कर सच्चा जीवन बितायेगा।

नयी जगह पहुंचकर उसने वहां सरल जीवन बिताने का प्रयास किया। बोझा ढोकर नया जीवन शुरू किया लेकिन इस काम में अनगढ़ हाथ और शरीर बहुत समय तक यह काम न कर पाये, नौबत यहां तक आ गयी कि दुर्मुख को खाने के लाले पड़ने लगे। एक रात भूख से व्याकुल उसने चोरी करने की ठान ली। वह तो वैसे ही बड़े हाथ मारता था, सीधा महल में चोरी के लिये पहुंच गया। द्वारपाल की नजर बचाकर उसने अन्दर घुसना चाहा, लेकिन पकड़ा गया। संतरी के पूछने पर गुरु की सीख कौंध उठी। उत्तर में उसने कहा—'मेरा नाम दुर्मुख है, चोरी करने अंदर जा रहा हूं।'

उस प्रदेश के राजा भी छद्मवेश में रात को नगर का दौरा करने निकलते थे। द्वारपाल ने सोचा, महाराज मेरी परीक्षा ले रहे हैं। हाथ जोड़, अभिवादन कर उसे सादर अन्दर जाने दिया।

दुर्मुख तो बड़ा प्रसन्न हुआ। "वाह मेरे गुरु का सचमुच माहात्म्य है। सच की कितनी पूछ होती है धरती पर !"

अंदर जाकर वह छुप गया। मौका पाते ही उसने बहुमूल्य वस्तुओं पर हाथ साफ किया, बड़ी-सी पोटली बांधकर कमरे से निकलने लगा कि उसकी नजर मेवों और फलों से भरे थाल पर पड़ी और वहीं अटक कर रह गयी। भूख से बेहाल तो वह था ही। भरपेट खाया और भारी गठरी उठाकर ज्यों ही निकलने लगा कि गुरु की दूसरी सीख ने उसके पैरों में बेड़ी डाल दी, "जिस घर में खाना वहां कभी चोरी न करना।"

"नहीं मैं यह सामान अपने साथ नहीं ले जा सकता, अपने गुरु का निरादर नहीं कर सकता मैं"

कहकर दुर्मुख गठरी वहीं छोड़कर राजमहल से खाली हाथ निकल गया।

अगले दिन सवेरे-सवेरे राजा ने अपने महल में हीरे-जवाहरात की पोटली देखी तो सकते में आ गये। किसी भांति उनकी समझ में यह बात न आयी कि चोर इस तरह गठरी छोड़कर चला कैसे गया। रात को ऐसी कोई घटना तो घटी नहीं कि उसे सब कुछ छोड़-छाड़ कर भागना पड़ा हो, न शोर हुआ, न हल्ला-गुल्ला—यह कैसा अद्भुत चोर निकला ?

चोर की ढूंढ़ मची और राजा के खुफिया दल ने जल्दी ही दुर्मुख को महाराज के सामने प्रस्तुत कर दिया। दुर्मुख ने शुरू से अंत तक सारी कहानी राजा को सुना दी। महाराज इतने प्रसन्न हुए कि उसे अपने वरिष्ठ मन्त्रियों में रखना चाहा।

दुर्मुख ने हाथ जोड़कर विनती की—"राजन्! जिन्होंने मुझे इतना योग्य बनाया कि मैं समाज में आदर का पात्र बन सका उन्हीं के चरणों में शेष जीवन बिताना चाहता हूं ताकि अबतक के किये सारे पापों को इसी जीवन में धो डालूं।"

राजा ने सगे भाई की भांति उसे गले लगाकर विदा किया। उन्हें भी तो एक भाई के साथ-साथ एक और योग्य गुरु भी मिल गये थे।

कहते हैं कि यही दुर्मुख बाद में सुमुख नाम के महात्मा से विख्यात हुए।

—वन्दना

तुम किसी को कोई अच्छी सलाह तबतक नहीं दे सकते जबतक स्वयं अपने-आपको न दे लो और उसके अनुसार आचरण न करो।

—श्रीमां

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर, झुंझुनूं
श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमां के मनुष्य जाति के लिये दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह केंद्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केंद्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारंभ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केंद्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिये समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिये सरकारी प्रमाण पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उसकी सत्ता के केंद्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिये निम्नलिखित पते पर संपर्क करें। प्रवेश पूरे वर्ष किसी भी समय दिया जा सकता है।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केंद्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिये संपर्क करें :

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर
मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला
पो० झुंझुनूं—333001, राजस्थान
टेलीफोन—(01592) 35615
email:admit@sadlec.org
srimaa@vsnl.com
URL:www.sadlec.org

A new world, based on Truth and refusing the old slavery to falsehood, wants to take birth.

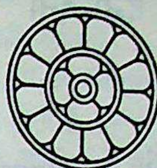
In all countries there are people who know it, at least feel it.

To them we call.

''Will you collaborate?''

1972

The Mother



प्रार्थना और ध्यान

९ जून १९१४

प्रभो, मैं तेरे सम्मुख हूं, दिव्य ऐक्य की धधकती अग्नि में प्रज्वलित हवि की तरह हूं . . .।

और इस तरह जो कुछ तेरे आगे है वह है इस मकान के सभी पत्थर और इसके अंदर की सभी चीजें, वे सब जो इसकी देहली पार करते हैं और वे सब जो इसे देखते हैं, वे सब जो किसी-न-किसी रूप में इसके साथ संबंध रखते हैं वे सभी तेरे सम्मुख हैं और एक से लेकर दूसरे तक, समस्त पृथ्वी तेरे सम्मुख है।

इस केंद्र से यह धधकता अग्निकुंड जो तेरे प्रकाश और तेरे प्रेम से व्याप्त है और अधिकाधिक व्याप्त होगा, यहां से समस्त पृथ्वी पर तेरी शक्तियां विकीरित होंगी, चाहे दिखायी दें या न दीखें सबके हृदयों में और सबके विचारों में विकीरित होंगी . . .

तेरे लिये मेरी अभीप्सा के उत्तर में तू मुझे ऐसा ही आश्वासन दे रहा है।

प्रेम की एक विशाल तरंग सभी चीजों पर उतरती है और सभी चीजों में प्रवेश करती है।

समस्त पृथ्वी पर शांति, शांति, विजय, बहुलता और विस्मयता . . .

हे दुःखी और अज्ञानी, प्रिय बालको, हे विद्रोही और उग्र प्रकृति, अपने हृदयों को खोलो, अपनी शक्तियों को शांत करो, यह लो, यह आ रही है प्रेम की सर्वशक्तिमत्ता, यह रही प्रकाश की शुद्ध दीप्ति जो तुम्हारे अंदर प्रवेश करती है। यह मानव मुहूर्त, यह पार्थिव मुहूर्त, अन्य सभी मुहूर्तों की अपेक्षा अधिक सुंदर है। हर एक व्यक्ति, सभी इसे जानें और दी गयी परिपूर्णता में आनंद लें।

हे दुःखी हृदयो और चिंताकुल भौंहो, मूर्खतापूर्ण धुंधलेपन और अज्ञानमय दुर्भावना, तुम्हारा परिताप शांत हो और मिट जाये।

लो, नवीन वाणी की भव्यता आ रही है :

"यह रही मैं।"



—श्रीमां

दैनन्दिनी

जून

१. एक अदम्य साहस, एक पूर्ण निष्ठा और एक आत्मदान जो इतना सच्चा हो कि मनुष्य न तो हिसाब लगाये न मोल-तोल करे, पाने की भावना से न दे, संरक्षण पाने की भावना से निर्भरशील न हो—ऐसी श्रद्धा न रखे जो प्रमाण मांगती हो—बस, यही चीज पथ पर चलने के लिये अनिवार्य है, और बस यही चीज है जो वास्तव में तुम्हें सभी खतरों में सुरक्षा प्रदान कर सकती है।

२. प्रत्येक व्यक्तिगत सत्ता का परात्पर प्रभु, दिव्य मूल-स्रोत के साथ, तत् के साथ, जो कि समस्त सृष्टि के परे है, एक प्रत्यक्ष और अनन्य संबंध होता है। बस, इसी अनन्य संबंध को हमें अपने जीवन में, भगवत्-संबंधी सत्ता की एक अनूठी विधि के द्वारा व्यक्त करना चाहिये।

३. हर एक प्रत्यक्ष रूप में तथा ऐकांतिक भाव से भगवान् से संबंधित है—मनुष्य का जो संबंध भगवान् के साथ है वह अनूठा और अनन्य है। उसी के कारण, जब तुम ग्रहणशील स्थिति में होते हो; तुम भगवान् से ग्रहण करते हो; इस संबंध की पूर्णावस्था को प्राप्त करना तुम्हारे लिये संभव है, . . .। यह एक एकांत भाव और अनन्य भाव से वह संबंध है जो हर एक भगवान् के साथ रख सकता है। अतएव मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, भगवान् के साथ यह प्रत्यक्ष संबंध बनाये रखने में मनुष्य एकदम अकेला होता है।

४. यदि कोई अपनी सत्ता के सत्य के अनुसार रहता है; यदि विकास के द्वारा कोई अपनी सत्ता के सत्य के साथ संपर्क स्थापित करने में सफल होता है तो वह तुरत भगवान् के साथ एक निराला और अनन्य संबंध प्राप्त कर लेता है, जिसका कोई जोड़ नहीं होता।

५. पूर्णतः सरल होने के लिये मनुष्य को संपूर्ण रूप में सच्चा होना चाहिये।
संपूर्ण रूप में सच्चा होने का तात्पर्य है हमारी सत्ता में कोई विभाजन, कोई विरोध न हो।

६. कठिनाइयां सर्वदा अहंभाव से आती हैं, अर्थात् परिस्थितियों, घटनाओं, अपने इर्द-गिर्द के लोगों के प्रति, तुम्हारे जीवन की अवस्थाओं के प्रति—जो तुम्हारी कम या अधिक अहंभावजन्य व्यक्तिगत प्रतिक्रिया होती हैं—उससे उठती हैं। वे एक प्रकार के घोंघे में बंद होने की भावना से भी आती हैं जो तुम्हें अपनी चेतना के उच्चतर तथा विशालतर सत्यों के साथ युक्त होने से रोकती हैं।

७. जिन चीजों को मनुष्य अस्वीकार्य समझता है उन्हें अपनी चेतना तथा प्रकृति से बाहर फेंक देना मुझे सदा ही बिलकुल साधारण, सरल, लगभग प्रारंभिक काम मालूम होता रहा है। . . . क्या देखना ही पर्याप्त नहीं है ? यह जानना कि अमुक बातों को नहीं होना चाहिये, पर्याप्त नहीं है ? उसे एक ऐसे प्रकार की आंतरिक उत्तेजना, सक्रिय शक्ति देनी चाहिये जिससे तुम उस भूल को ऐसे ढंग से त्याग दो कि वह फिर वापस न आ सके !

८. जीवन से दूर भागने के बदले वह जैसा है उसका सामना करो, और अपनी सहायता के लिये आंतरिक चैत्य शक्ति को पुकारो—बस, यही है जिसे श्रीअरविन्द "अंतरात्मा का आंतरिक बल", आंतरिक चैत्य शक्ति कहते हैं—और इस चैत्य चेतना की सहायता से अपने को परिस्थितियों से ऊपर उठाओ और उन पर प्रभुत्व स्थापित करो। कहने का तात्पर्य, जो कुछ आता है उसकी वश्यता स्वीकार करने तथा उसके समस्त परिणामों को भोगने के बदले मनुष्य परिस्थितियों से

ऊपर उठ जाता है और ऐसी चीजों की तरह उन्हें गुजर जाने देता है जो अब उसे स्पर्श नहीं करतीं तथा उसकी चेतना को नुकसान नहीं पहुंचातीं।

९. प्रेम कोई व्यक्तिगत वस्तु नहीं है; प्रेम एक विश्वव्यापी दिव्य भावना है जो तुम्हारे अंदर कम या अधिक उत्तम तरीके से अभिव्यक्त होती है, पर जो अपने सार-तत्त्व में एक दिव्य वस्तु है।

१०. यदि कोई हमारे पास आता है और अपनी सभी बुरी प्रवृत्तियों को ऊपरी सतह पर आने देता है, अपने-आपको दिखाने देता है, यदि वह उन्हें अर्पण करता है, यदि वह कहता है : "हां, तो मैं ऐसा ही हूं" और यदि उसके साथ-ही-साथ उसमें अन्य प्रकार का बनने की अभीप्सा है, तो सान्निध्य का यह क्षण पूरी तरह उपयोगी होता है...।

११. मनुष्य के पास जो कुछ सर्वोत्तम है उसे दे देना बहुत सुन्दर है और उसकी बहुत कद्र की जाती है; परंतु उसके पास जो कुछ निकृष्ट है उसे दे देना और भी अधिक लाभकारी है; और संभवतः इस शर्त पर कि व्यक्ति उससे मुक्ति पाने के लिये उसका अर्पण करता है, न कि बाद में फिर से ग्रहण कर लेने के लिये।

१२. कितना सुन्दर होगा यह कल्पना करना कि 'परात्पर चेतना', जो मुख्यतः स्वतंत्र है, वैश्व 'अभिव्यक्ति' के ऊपर अधिष्ठान करती है, अपने चुनाव में मन-मौजी हो सकती है और मानव-विचार के लिये सुलभ किसी न्याय के अनुसार नहीं बल्कि किसी दूसरे प्रकार के, अप्रत्याशित के न्याय के अनुसार वस्तुओं को एक-दूसरे के बाद करा सकती है!

१३. प्रगति करना या मनुष्य जो कुछ है उससे अधिक अच्छा बनना सर्वदा ही उत्तम है।

१४. प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुसार अपने पथ का अनुसरण करना होगा, और एक पथ के मुकाबले दूसरे पथ को पसंद करने का भाव सर्वदा बना रहता है।

१५. यदि कोई मार्ग पर सुरक्षित रहना चाहता है तो, मुझे ऐसा लगता है कि शांति की, पूर्ण स्थिरता की, पूर्ण समता की, चेतना को विस्तारित करने की, एक अधिक विशाल समझदारी की तथा समस्त कामना, समस्त अभिरुचि, समस्त आसक्ति से मुक्ति की खोज करना निश्चय ही एक अनिवार्य प्रारंभिक शर्त है।

१६. जब मैं किसी से कहती हूं कि "शांत-स्थिर रहो", तो मेरा अभिप्राय होता है : विक्षुब्ध, उत्तेजित, अशांत विचार न रखने की कोशिश करो; अपने मन को निश्चल बनाये रखने तथा अपनी समस्त कल्पनाओं, पर्यवेक्षणों तथा मानसिक रचनाओं को एक वृत्त में चक्कर काटने से रोकने का प्रयास करो।

१७. प्रश्न : कृपया बताइये कि प्राण को स्थिर और शांत करने और उसे आपको समर्पित करने के लिये मुझे क्या करना होगा?

उत्तर : उसे शांत रहने की शिक्षा दो। यह केवल आदत की बात है। उसकी सचेतन और अचंचल रहने की आदत डालो। (श्रीअरविन्द)

१८. अगर तुम सच्चे नहीं हो तो तुम्हारी अपनी चेतना पर परदा पड़ जाता है। उदाहरण के लिये, एक आदमी को लो जो झूठ बोलता है, उसकी चेतना पर परदा पड़ जाता है और कुछ समय बाद वह सत्य और मिथ्यात्व में फर्क नहीं कर सकता। वह बिंब देखता है और उन्हें सत्य कह लेता है। जो दुष्ट है वह अपनी अभीप्सा खो बैठता है, समझने, अनुभव करने और उपलब्ध करने की सारी संभावना खो बैठता है। यही दंड है।

अन्धी, बधिर और अप्रतिम

हेलन केलर[१]

बहुत पहले, १९१० में, मार्क ट्वेन ने कहा था कि १९वीं शताब्दी के दो सबसे दिलचस्प चरित्र थे—नेपोलियन और हेलन केलर। ट्वेन के कथन से असहमत होना कठिन है, किंतु यह कथन इस दृष्टि से अत्यंत आकर्षक है कि इसमें दो परस्पर-विरोधी चरित्रों का उल्लेख हुआ है—नेपोलियन का, जो युद्ध, विजय और विनाश का प्रतीक था और हेलन केलर का, जो धैर्य, सद्भावना और सृजन का प्रतीक हैं।

हेलन केलर को १९वीं शताब्दी के एक महान् चरित्र के रूप में तो ख्याति मिल ही चुकी थी; किंतु २० वीं शताब्दी में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी महान् ख्याति न केवल कायम रही, बल्कि बहुत अधिक बढ़ भी गयी है। १७ जून को उनके जन्मदिन की ८३वीं वर्षगांठ मनायी गयी थी।

कुमारी केलर के जीवन और उनकी उपलब्धियों को सही अर्थ में 'अद्भुत' कहा जा सकता है। उनका जीवन आश्चर्यजनक और अत्यंत प्रेरणादायक है और हम जैसे अधिकतर सामान्य लोगों के लिये, यह उन ऊंचाइयों का एक ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है जहांतक मानव भावना का उत्थान संभव है।

हेलन केलर का जन्म १८८० में अमेरिका के दक्षिणी राज्य में, अलाबामा के टुस्कुम्बिया नगर के निकट एक बाग में हुआ था। उनके पिता एक समाचार पत्र के संपादक और संघीय सेना के एक भूतपूर्व कैप्टेन थे। शैशव में वह बहुत स्वस्थ और चपल थीं किंतु दुर्भाग्यवश, जब वे केवल १ वर्ष ७ महीने की थीं, उन्हें भयंकर 'दिमागी बुखार' हो गया, जिसके कारण वे अंधी, बहरी और क्योंकि उन्हें अभी बोलना नहीं आता था, गूंगी हो गयीं।

हेलन की बचपन की कहानी १९५७ में ब्राडवे के एक नाटक, 'दि मिरेकल वर्कर' में दर्शायी गयी जिसका चलचित्रीय रूपांतरण इधर कुछ समय से संसारभर के सिनेमाघरों में दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर रहा है। जिन्होंने भारत में अभी-अभी इस चलचित्र को देखा है उनके मानसपटल पर इस बात की स्मृति बनी होगी कि एक ऐसी छोटी बच्ची का व्यवहार, जो इतनी पीड़ित और धृष्ट थी, दैवत्व से कितनी दूर हो सकता है। उसकी धृष्टता, उसका क्रोध, उसकी अनुशासनहीनता, उसका जंगली जैसा आक्रोश उसके मां-बाप को भी बड़ी मुसीबत में डाल रहा था और स्थिति दिनों-दिन बिगड़ती जा रही थी।

इस निराशाजनक वातावरण में, शीतल पवन के झोंके की भांति, एक गतिशील तरुणी कुमारी सुलीवान का प्रवेश हुआ जो बॉस्टन में अंधों के एक विख्यात स्कूल से आयी हुई एक शिक्षिका थीं। हेलन के मां-बाप ने अलेक्जैण्डर ग्राहम वेल से परामर्श किया, जो अपनी बधिर पत्नी को सुनने में समर्थ बनाने के लिये एक उपकरण तैयार करने के सिलसिले में किये गये अपने प्रयासों के फलस्वरूप टेलिफोन के आविष्कारक बन गये। डॉ० वेल की सलाह से ही श्री केलर ने अपनी बच्ची के लिये बॉस्टन से एक शिक्षिका को बुलाया।

[१] जनवरी १९६४ में पुरोधा में छपे इस लेख को हम ज्यों का त्यों दुबारा छाप रहे हैं। (सम्पादक)

हेलन केलर ने कहा है कि कुमारी सुलीवान जिस दिन आयीं, वह उनके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण दिन था। २० वर्ष की आयुवाली उस शिक्षिका ने, जो स्वयं भी अंशतः अंधी थीं, उसी दिन बच्ची हेलन की हथेली पर एक-एक अक्षर रख-रख कर शब्दों का वर्णविन्यास सिखाना प्रारंभ कर दिया। कुछ ही महीनों में हेलन ने ८०० शब्द सीख लिये और लिपि तथा ब्रेल प्रणाली की सहायता से लिखने में समर्थ हो गयीं। शीघ्र ही, अमेरिका भर में हेलन केलर की कहानी गूंज उठी। उनकी शैक्षिक प्रगति की ओर सारे देश की उत्सुक आखें लगी थीं। लोगों ने हेलन की प्रशंसा करते हुए, उसे 'विदुषी' तक कहा। कुमारी सुलीवान भी धुन की पक्की थीं। कहते हैं कि उन्होंने सोने के समय को छोड़कर अपना बाकी सारा समय अपनी शिष्या के साथ व्यतीत किया।

रात-दिन अथक परिश्रम के द्वारा और एक शब्द का एक साथ कई घण्टों तक अभ्यास करके, हेलन ने आगे वातचीत करना सीखा। फिर, बहुत समय बाद उन्होंने श्रोता-समूहों के समक्ष भाषण करने का भी अभ्यास कर लिया। यह काम कितना असंभव था, इसका केवल तभी पता लगाया जा सकता है जव यह याद रखा जाये कि हेलन ने कभी अपना या किसी दूसरे का स्वर नहीं सुना था और न सुन ही सकती थीं। बोलते समय उनके स्वर में अकस्मात् असामान्य रूप से तीव्रता आने की संभावना सदैव रही, किंतु जब हम यह कल्पना करते हैं कि वे प्रारंभ में एक सार्थक शब्द भी नहीं जानती थीं तो यह समझना आसान हो जाता है कि उन्होंने मानव के लिये संभव, पूर्ण सफलता कैसे प्राप्त कर ली थी।

किंतु हेलन को अंग्रेजी के ज्ञान से ही संतोष नहीं हुआ। उन्होंने लैटिन, फ्रेंच और जर्मन भाषाएं भी सीखनी प्रारंभ कर दीं। (आजकल वे तीन भाषाओं में पत्र-व्यवहार करती हैं।) उनके और उनकी शिक्षिका कुमारी सुलीवान के ८ वर्ष के अथक प्रयास का परिणाम यह हुआ कि वे हारवर्ड विश्वविद्यालय के महिला कॉलेज, रेडक्लिफ से स्नातक की उपाधि प्राप्त करने में सफल रहीं। रेडक्लिफ में अपनी शिक्षा के द्वितीय वर्ष के अंत में, उन्होंने अपनी पहली पुस्तक—"दि स्टोरी ऑफ माई लाइफ"—लिखी। इस पुस्तक ने उन्हें विश्वभर में एक अपूर्व ख्याति प्रदान की।

उसके बाद उनकी अन्य पुस्तकें सामने आयीं, जिनमें 'दि वर्ल्ड आई लिव इन', 'आउट ऑफ दि डार्क', 'माई रिलिजन', 'मिडस्ट्रीम', 'हेलन केलर्स जर्नल' और 'लेट अस हैव फेथ' नामक पुस्तकें सम्मिलित थीं। उन्होंने अमेरिका की प्रमुख पत्रिकाओं, जैसे 'अटलांटिक' के लिये भी लेख लिखे हैं। वे एक साधारण टाइपराइटर या 'ब्रेल राइटर' का प्रयोग करती हैं, किंतु उन्हें लिखने में स्वभावतः देर लगती है, क्योंकि वे अपने टाइप किये हुए लेख को पढ़ नहीं सकतीं।

हेलन केलर के संबंध में सबसे उल्लेखनीय वात यह है कि विकट असमर्थता के वावजूद उन्होंने अपने जीवन को अत्यंत पूर्ण और संपन्न बना रखा है। संगीत (जिसका आनंद वे स्पंदनों द्वारा लेती हैं), कविता, साहित्य और कलाओं में उनकी अतीव रुचि है। वे सिनेमा या नाटक देखने जाती हैं; उस समय उनके साथ एक व्यक्ति होता है जो उनके हाथ पर संकेत द्वारा उन्हें कथानक सुनाता है। उनकी गंध पहचानने की क्षमता भी अद्भुत है। वे वास्तुशिल्पिक कला-कृतियों का आनंद उन्हें हाथ से स्पर्श करके लेती हैं।

जब वे फ्लोरेंस गयी थीं तो उनके लिये ऐसी व्यवस्था की गयी थी कि वे वहां पर माइकेल ऐंजलो द्वारा निर्मित मूर्तियों को उन पर हाथ फेरकर देख सकें। मूर्तिकार जी० डेविड्सन ने, जो उस समय वहां उपस्थित था कहा कि उसने इन मूर्तियों को उतनी अच्छी तरह पहले कभी भी नहीं देखा जितनी अच्छी

तरह उन पर हेलन द्वारा हाथ फेरते समय देखा था।

हेलन केलर स्पर्श-जगत् में रहती हैं। वे न केवल जड़ पदार्थों को छू कर पहचान लेती हैं बल्कि सजीव वस्तुओं को भी छूकर पहचान लेती हैं। वे मित्रों और परिचितों के चेहरों को ढूंढ़ निकालती हैं। वे किसी व्यक्ति के गले पर दो-एक स्थानों को छूकर यह भी बता सकती हैं कि वह व्यक्ति जिससे बात कर रहा है वह अमेरिका के किस भाग का निवासी है।

उनका कहना है कि किसी व्यक्ति के चरित्र का पता चेहरे की अपेक्षा हाथों से अधिक अच्छी तरह और तत्काल चल जाता है। न्यूयॉर्क के एक होटल में एक साक्षात्कार के अवसर पर परिचय कराते समय हैरी टूमैन (जो उस समय अमेरिका के वाइस-प्रेसिडेण्ट थे) उनके व्यक्तित्व से इतने प्रभावित हुए कि बात करते समय उनकी आंखों में आंसू भर आये। बाद में केलर ने वहां पर उपस्थित अन्य व्यक्तियों से कहा था : "उनका (टूमैन का) हाथ खुला है। उनकी अंगुलियों में कोई मोड़ नहीं है।"

हेलन केलर प्रेसिडेण्ट ग्रोवर क्लीवलैण्ड के समय से लेकर अबतक के सभी अमेरिकी प्रेसिडेण्टों से परिचित हैं। १८९० में, हेलन के नाम पर एक जहाज का नामकरण हुआ था। बचपन से लेकर अबतक उन्हें संसार के अनेक महान् पुरुषों से परिचित होने का सौभाग्य मिला है जिनमें टैगोर, आइन्स्टाइन, बर्नार्ड शॉ और मार्क ट्वेन भी सम्मिलित हैं। उनके लिये एलेन टैरी ने अनेक प्रिय भूमिकाओं का अभिनय किया, जिनके रसास्वादन की अभिव्यक्ति हेलन ने अपने अधरों और चेहरे की भावभंगिमाओं द्वारा की। केरुसो और चैलियापिन ने विशेष रूप से हेलन के लिये गीत गाये। अनेक सरकारों ने (जिनमें भारत-सरकार भी है) और विश्वविद्यालयों ने (जिनमें दिल्ली-विश्वविद्यालय भी सम्मिलित है) उन्हें सम्मानित किया है।

कुछ वर्ष हुए, वे ५ महीने की ४० हजार मील लम्बी विश्व-यात्रा के दौरान भारत आयी थीं। अपने निकट अनुभवों से यह जानते हुए कि इसका कितना महत्त्व हो सकता है, वे विश्वभर में शारीरिक दृष्टि से असमर्थों के कल्याणार्थ अथक परिश्रम कर रही हैं। वे उत्साही क्रिश्चियन हैं और व्हिटमैन के शब्दों में यह विश्वास करती हैं कि "हमें भ्रातृत्व के एक सूत्र में सम्बद्ध होना चाहिये।"

संभवतः, हेलन केलर की आत्मा की अमिट प्यास उन्हींके शब्दों में इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ ढंग से व्यक्त हुई है : "मेरा जीवन सुखी रहा है, क्योंकि मुझे अद्भुत मित्र मिले और मेरे पास करने के लिये प्रचुर और रुचिकर कार्य हैं। मुझे शायद ही कभी अपनी असमर्थताओं पर सोचना पड़ता हो; उनके कारण कभी मैं उदास नहीं होती। संभवतः कभी-कभी एक उत्कण्ठा हो आती है, किंतु वह पुष्पों के बीच हवा के हल्के झोंके की भांति अस्पष्ट होती है। झोंका गुजर जाता है और पुष्प संतुष्ट हो जाते हैं।"

(U.S.I.S. के सौजन्य से)



प्रकाश एवं शांति के प्रति अपने-आपको सदैव खुला रखो और तब अंत में वह (प्राण) उन सब वस्तुओं से मुक्त हो जायेगा जो अंधकारमय और चंचल हैं।

—श्रीअरविन्द

अमृत की यादें

(१०)

१९१४ में मुझे माताजी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन दिनों मैं यह न समझ पाया कि माताजी कोई साधारण स्त्री न थीं। वे १९१४ में आध्यात्मिक समृद्धि का भंडार लिये हुए भारत देश में पधारी थीं।

माताजी २९ मार्च १९१४ में पांडिचेरी आयी थीं। उनके आने के कुछ दिनों के बाद विजयकान्त ने उनसे यह कह कर मेरा परिचय कराया कि मैं कालवे कॉलेज का विद्यार्थी और योगाभ्यास का इच्छुक था। उन दिनों भी उनके पास इतना काम था कि वे लोगों से विशेष नियुक्त समय पर ही मिलती थीं। उन्हीं दिनों अंग्रेजी और फ्रेंच में 'आर्य' पत्रिका की बात शुरू हो गयी थी।

मेरे विद्यालय के छात्र अवकाश पाकर छोटे-छोटे दलों में माताजी से मिलने आया करते थे, परंतु हम यह न जानते थे कि माताजी हैं कौन।

उन दिनों श्रीअरविन्द के मकान में आनेवाले लोगों के हाथ में "यौगिक साधन" नामक पुस्तक दिखायी देती थी। यह पुस्तक मुझे विजयकान्त ने पढ़ायी थी और उन दिनों गुरु, आचार्य, शिक्षक आदि शब्दों का हमारी भाषा में प्रवेश न हुआ था। हमने बस सामाजिक शिष्टाचार और आतिथ्य ही सीखा था। नम्रता, शालीनता या भक्ति का कहीं ख्याल भी न था।

इन सब ऊपरी गुणों के साथ और विजयकान्त की सहायता के साथ मैं माताजी के पास जा पहुंचा। मेरा मूक हृदय माताजी की जादुई शक्ति का अनुभव करने लगा। मेरे बेचारे हृदय पर धूल के ढेर पड़े थे। अगर एक ढेर लुढ़क भी जाता तो अन्य का भार आ जाता। माताजी के पास पहले-पहल जब मैं जाता था तो मैं उन्हें सामान्य ही समझता था। मेरा मस्तिष्क एक दिशा में चलता था लेकिन मेरे हृदय की मूक वाणी ने मां भगवती के दर्शन पा लिये थे और अगर मैं उस वाणी पर कान देता तो मन की ऊपरी और सतही इच्छाओं के पीछे-पीछे न भागता। मेरे भाग्य अच्छे थे, शायद पिछले जन्मों में जो तपस्या मैं न कर पाया था उसे अब इस जीवन में पूरा करना था।

अगर कोई मुझे माताजी के साथ बराबर की कुरसी पर बैठा "यौगिक साधन" हाथ में लिये देखता तो उसे यह शंका होती कि कौन किसको सिखा रहा है। पर वास्तविकता यह थी कि मैं उनके पास जिज्ञासु-भाव से जाता था।

उन दिनों हमारा विद्यालय सप्ताह में दो दिन रविवार और बृहस्पतिवार को बंद रहता था। मैं ये दो दिन माताजी के पास आधे घंटे के लिये जाता और उनसे "यौगिक साधन" पढ़ता था। वहां से श्रीअरविन्द के मकान पर जाता और उनके दर्शन करके घर लौट आता था।

मैं जब कभी माताजी के पास जाता तो मुझे लगता था कि वे अत्यधिक शक्ति की मूर्ति हैं। केवल मेरा ही नहीं मेरे कई साथियों का भी यह अनुभव था कि हमारे अंदर हमारे चाहने और न चाहने पर भी कोई परिवर्तन आ रहा था। चाहे हम उसके बारे में सचेतन न भी हों। उनके अंदर एक अपार शक्ति थी जिसे वे आसानी से प्रकट न होने देती थीं। कभी किसी विशेष अवसर पर शक्ति चमक उठती थी और हमारी आंतरिक क्षमता उसे अनुभव कर लेती थी। कभी-कभी यह अनुभूति बाहरी भाग में भी हो जाती थी। हम माताजी के पास परस्पर विरोधी विचारों और संदेहों के साथ जाया करते थे, लेकिन उनके

साथ थोड़ी-सी बातचीत के बाद हममें से हर एक असीम शुद्धि और आनंद तथा आत्म-विस्मृति लिये होता था। हम आपस में बातें करते हुए ऐसे निकलते थे मानों सभी सुखी जगत् के वासी हों।

१९१४ में रामस्वामी आयंगार पांडिचेरी छोड़कर अपने घर चले गये। इसी वर्ष पहला महायुद्ध शुरू हो गया। इसी वर्ष अंग्रेजी और फ्रेंच में 'आर्य' पत्रिका का पहला अंक प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष श्रीअरविन्द के साथ मेरे घनिष्ठ संबंध की नींव पड़ी और इसी वर्ष मैंने माताजी के प्रेम का अनुभव किया।

१५ अगस्त १९१४ को श्रीअरविन्द का जन्मदिन प्रकट रूप में मनाया गया । तीन बड़ी मेजें किराये पर लायी गयी थीं। उन पर चमकती हुई सफेद चादरें बिछी थीं, उन पर दूध जैसा सफेद भात था और उसपर गुलाब की पंखुड़ियां बिखेरी हुई थीं। श्रीअरविन्द आये, हम सबकी ओर देखा और उन्होंने अंग्रेजी में कुछ कहा। कार्यक्रम के बाद वहां जो लोग इकट्ठे हुए थे उनमें से दस-पंद्रह रह गये जिनमें से एक मैं भी था। अब मुझे याद नहीं कि उस समय माताजी कहां बैठी थीं।

अक्तूबर १९१४ में मद्रास प्रांत के गुप्तचर विभाग के एक अफसर अब्दुल करीम ने श्रीअरविन्द से मिलने के लिये अनुमति मांगी। उसे अमुक दिन दस बजे बुलाया गया। वह ठीक समय पर आया। वह एक बड़ी गुलाब की माला और फलों का थाल लेकर आया था। पता नहीं श्रीअरविन्द के साथ उसकी क्या बातचीत हुई पर पांडिचेरी में यह अफवाह फैल गयी कि वह सरकार की ओर से युद्ध के बारे में श्रीअरविन्द की राय जानने आया था।

युद्ध छिड़ने के दो-एक महीने के बाद ही नलिनीकान्त गुप्त और सौरीन्द्रनाथ बोस बंगाल से झटपट वापिस पांडिचेरी आ गये। अब विजयकान्त बंगाल जाने के लिये उत्सुक हो उठा। श्रीअरविन्द इस बात से सहमत तो न थे पर उसके मित्र उसकी इस इच्छा को जान गये। वह जैसे ही फ्रेंच इलाके से बाहर निकला कि क्रान्तिकारी होने के नाते गिरफ्तार हो गया और वहां से अपने गांव पहुंचा दिया गया जहां युद्ध की समाप्ति तक यानी लगभग पांच वर्ष तक वह नजरबन्द रहा और वहां से छूटते ही वह सीधा पांडिचेरी आ गया।

'आर्य' के प्रकाशन से पहले ही उसकी चर्चा काफी फैल गयी। इसके फैलाने में सबसे ज्यादा हाथ था तमिल के महाकवि श्रीअरविन्द के मित्र सुब्रमण्यम् भारती और उनके मित्रों का। उनका कहना था कि नये युग का उदय होनेवाला है और उसके नये ऋषि हैं श्रीअरविन्द।

मैंने 'आर्य' के प्रकाशन से पहले ही सुना था कि 'आर्य' वेदों के बहुत-से रहस्यों को प्रकट करेगा। मैंने यह भी सुना कि श्रीअरविन्द ने एक नयी योग-पद्धति का आविष्कार किया था और इसमें इस नवीन पद्धति का पता लगेगा।

युद्ध की घोषणा हुए मुश्किल से एक महीना भी न बीता होगा कि मैंने कुछ जानकार लोगों से सुना कि महायुद्ध मानव चेतना में एक घाव था जो अभी तक भरा नहीं था, 'आर्य' इस घाव को भरेगा।

एक बार सितम्बर के शुरू में मैंने श्रीअरविन्द के मकान के बरामदे में रखी मेज पर से 'आर्य' का एक अंक उठा लिया और वहां से पहला लेख 'दिव्य जीवन' अपने लिये ही गुनगुना कर पढ़ने लगा। बड़े-बड़े विचार और बड़े-बड़े शब्द, यूं तो बहुत मधुर थे पर मेरी समझ में कुछ न आ रहा था! मानों मेरे अंदर बैठा कोई उसे समझाता जा रहा था।

जब मैं पढ़ रहा था तो श्रीअरविन्द चुपके से आकर मेज के पास खड़े हो गये और सुनने लगे। जब मैंने पत्रिका बंद की और सिर उठाया तो देखा कि वे सुन रहे थे। मैंने उनसे कहा कि इसे पढ़ने में मुझे

बहुत मजा आ रहा है लेकिन मैं कुछ भी नहीं पकड़ पा रहा हूं। श्रीअरविन्द ने मुझसे कहा—पढ़ते जाओ, अगर तुम्हें पढ़ने में मजा आता है तो रुको मत।

माताजी १९१५ की फरवरी में फ्रांस लौट गयीं। मैं भी मद्रास चला गया लेकिन श्रीअरविन्द की याद हमेशा मेरे साथ रही और मैं यही सोचा करता था कि अब मैं फिर पांडिचेरी कब लौटूंगा।

(क्रमशः)

'श्रीअरविन्द के साथ बातचीत':

चेतना, अहंकार इत्यादि के बारे में

४ मार्च १९४०

नी—साधना में निवर्तन या अपने-आपको अलग कर लेना कहां तक सहायक हो सकता है ?

श्रीअरविन्द—केवल निवर्तन काफी नहीं है। आदमी अपने-आपको जगत् के सम्पर्क से खींच सकता है, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि इच्छाएं और लालसाएं भी खतम हो जाती हैं। अगर तुम आसक्ति के बीज को निकाले बिना अपने-आपको निवृत कर दो और सामान्य चेतना के स्थान पर आध्यात्मिक चेतना को न लाओ तो समस्या वैसी की वैसी ही बनी रहेगी। अगर तुम बीज को बने रहने की अनुमति दो तो वे कुछ समय शांत रहेंगी लेकिन जैसे ही परिस्थितियां उनके अनुरूप होंगी कामनाएं फिर ऊपर आ सकती हैं। निवर्तन तुम्हें समता की स्थिति की ओर ले जा सकता है पर वह हमारा योग नहीं है। हमें कर्म के स्रोत में आध्यात्मिक ऊर्जा पानी चाहिये।

नी—अगर कोई आध्यात्मिक वृत्ति से अतिभौतिकता या दर्शन के बारे में लिखे तो उसमें आध्यात्मिक चेतना तो होनी ही चाहिये।

श्रीअरविन्द (हंसते हुए)—क्या यह जरूरी है ? वृत्ति ही काफी नहीं है, आंतरिक परिवर्तन भी जरूरी है। हां, अगर कोई अपने व्यक्तिगत अनुभव और दृष्टि के आधार पर लिखे तो बात अलग होगी। परंतु निवृत्त रहने से ही आदमी उच्चतर चेतना में नहीं उठ जाता; वह भली-भांति मानसिक चेतना में रह सकता है। दार्शनिक लेख साधारणतः मानसिक स्तर के होते हैं।

नी—हो सकता है कि पीछे नीरवता और शान्ति हो।

श्रीअरविन्द—परंतु यह काफी नहीं है। आध्यात्मिक गतिशीलता भी होनी चाहिये जो हर क्रिया में फैली हुई हो।

स—बहुत-से लोगों ने शान्ति का या अपने अंदर शान्ति के अवतरण का अनुभव किया है—ऐसी गहन शान्ति का जो ब्रह्म की शान्ति है। (नी. से) तुम्हें भी तो ऐसी शान्ति का अनुभव हुआ है।

नी—नहीं, मुझे नहीं हुआ।

श्रीअरविन्द—यह कितनी जोर से इंकार कर रहा है।

स—कम-से-कम ज्योति और शक्ति का अनुभव तो हुआ होगा ?

नी—ज्योति का नहीं।

स—वह अपनी निजी समस्याओं की बात कर रहा है, भगवन्! (हंसी)

श्रीअरविन्द—अपनी समस्या की ? यानी ब्रह्म चेतना या चैत्य सत्ता को पाने की बात ?

स—उसका चैत्य तो उभर आया है।

श्रीअरविन्द—केवल उभरना काफी नहीं है, चैत्य को सामने आना चाहिये।

नी—मैं जरा चक्कर में पड़ा हूं। जब आपने कहा कि आश्रम में पांच-छह आदमी ब्रह्म-चेतना में रहते हैं तो मैंने सोचा कि 'क्ष' उनमें से एक होगा।

श्रीअरविन्द—ब्रह्म-चेतना में ? मैंने इसका उपयोग शायद जरा ढीले अर्थ में किया होगा। शान्ति और अचंचलता तो उस चेतना के एक भाग भर हैं, पूरी चेतना नहीं। आदमी उसके संपर्क में आ सकता है या अपनी इच्छा से उसके अंदर जाने में समर्थ हो सकता है या फिर मन और प्राण पर उसका प्रभाव पड़ सकता है। यह सब आंशिक है। व्यक्ति को सिर के ऊपर उच्चतर चेतना में आगे बढ़ना चाहिये और वहीं बने रहना चाहिये।

नी—मेरा ख्याल है कि तब व्यक्ति इन चीजों से परेशान न होगा।

श्रीअरविन्द—अगर वे आयेंगी तो उनका असर तुम पर नहीं पड़ेगा। ये ऊपरी सतह पर होंगी, आती-जाती रहेंगी या वह उन पर ऐसे नजर डाल सकता है मानों वे किसी और की हों। यह ब्रह्म-चेतना पहले मन में उतरती है फिर मन की सारी क्रियाओं में शान्ति और अचंचलता बनी रहती हैं। परीक्षा तो तब होती है जब वह प्राण में उतरे। जबतक प्राण की शुद्धि न हो जाये व्यक्ति असफल रहता है। इसे 'योग-भ्रष्ट' कहते हैं, शुरू-शुरू में यहां ऐसा हुआ करता था। जब ब्रह्म-चेतना प्राण में उतरी तो सब कुछ टूट-फूट गया।

नी—परंतु व्यक्ति उसे मन में ही बनाये रख सकता है। उसे प्राण में उतरने की जरूरत न होगी।

श्रीअरविन्द—नहीं, यह तो पुराना योग होगा जिसमें लोग संसार को छोड़ना चाहते हैं और अपनी उच्चतम मानसिक चेतना में रहते हैं। परंतु जब वे बाहरी जगत् के संपर्क में आते हैं तो वे संतुलन और शान्ति नहीं बनाये रख सकते। बीज फेंक नहीं दिये जाते, वे सिर्फ दबे रहते हैं। ऐसा भी होता है कि लोग प्राण को मनमानी करने देते हैं। तुम वेदान्ती और रामकृष्ण की कहानी जानते हो—वेदान्ती एक रखैल के साथ मठ में आया। रामकृष्ण ने उससे पूछा, "तुम इसके साथ क्यों घूम रहे हो ?" उसने कहा: "इसमें क्या हर्ज है ? सब कुछ माया है।" रामकृष्ण ने कहा, "तो मैं तुम्हारे वेदान्त पर थूकता हूं।"

स—वैसे ऐसे कई योगी हैं जो इस जगत् में रहते हुए भी 'उस' चेतना में रहते हैं।

श्रीअरविन्द—हां, और इसके लिये पहला कदम है अपने प्राण के ऊपर नियंत्रण पाना और उसके लिये तुम्हें पर्याप्त रूप से मानसिक अभ्यास करना चाहिये।

नी—फिर प्रश्न यह है: क्या वे अपने मन द्वारा प्राण पर अधिकार रखते हैं या सचमुच ब्रह्म-चेतना उनके प्राण में उतर आती है ताकि उनकी सभी क्रियाएं उच्चतर ऊर्जा से परिचालित हों।

स—निःसंदेह, उनकी क्रियाएं सीमित प्रकार की होती हैं। वे जीवन को उसी हद तक स्वीकार करते हैं जितना उनके उद्देश्य के लिये जरूरी हो... कुछ लोग कहते हैं कि ऐसी सिद्धि अपूर्ण होती है।

श्रीअरविन्द—अपूर्ण नहीं। उनका मतलब होता है अधूरी, और वह भी हमारे दृष्टिकोण से। दूसरों के दृष्टिकोण से यह पूरी और पक्की हो सकती है।

स—भगवन्! केवल आप ही जीवन को स्वीकार करने, अवतरण और रूपान्तर का यह विचार लाये हैं। और लोग बस मोक्ष चाहते थे।

श्रीअरविन्द—मोक्ष ठीक है। हर एक मोक्ष चाहता है और उसे मिलना भी चाहिये।

स—वैष्णव और तांत्रिक भी अपार्थिव गोलोक या शिव के अंदर चले जाने की बात करते हैं। दक्षिण में रामलिंगस्वामी का शारीरिक रूपान्तर और अमरता का विचार काफी प्रचलित रहा है।

श्रीअरविन्द—हां, दक्षिण में यह विचार ज्यादा प्रचलित रहा है।

स—मैं भी ऐसे योगियों के सम्पर्क में आया हूं जो लंबे काल तक जीते रहे। उनमें से एक तो एक सौ दो वर्ष के थे। मैं उनसे मिला, उसके कुछ ही वर्षों बाद वे चल बसे और दूसरे ८० के आस-पास चल बसे। वे भी मेरे सम्पर्क के एक या दो वर्ष के बाद।

श्रीअरविन्द—यह कैसी बात है कि जो लोग काफी समय तक जीते रहे, तुमसे मिलने के बाद ही चल बसे! वैसे ब्रह्मानन्द के बारे में भी कहा जाता था कि वे दो सौ वर्ष से अधिक रहे थे, मैं उनसे मिला उसके कुछ ही समय बाद वे चल बसे और साकरिया बाबा भी, जो लगभग ८० वर्ष के थे मेरे मिलने के कुछ ही समय बाद कुत्ते के काटने से चल बसे।

स—डॉ० बेचरलाल ने कहा था कि उन्हें चन्द्रमा को देखने से शांति मिलती है। इस सिलसिले में मैं कहना चाहता हूं कि कई लोग, जिन्हें मैं जानता हूं, उन्हें श्वास पर एकाग्र होने से शांति मिलती है; हर श्वास के साथ कोई नाम, उदाहरणतः राम नाम जपने से शांति मिलती है।

श्रीअरविन्द—हां, प्राणायाम के बारे में यह बहुत प्रचलित पद्धति है, किसी भी प्रकार की एकाग्रता, जो मन को नीरव बनाती है, तुम्हें शांति देती है।

स (नी को देखकर मुस्कुराते हुए)—अगर नीरद ब्रह्म-चेतना के मार्ग पर होता तो शायद वह अभी तक उसे पा लेता। शायद वह चैत्य मार्ग पर है।

नी—शायद मैं एक दिन बिना जाने ही उसे पा जाऊं।

श्रीअरविन्द—शायद बिना जाने तुम उसे पा भी चुके हो। (हंसी)

नी—मैं आपके उत्तर का पहला हिस्सा नहीं पकड़ पाया जिसमें सामान्य चेतना के स्थान पर आध्यात्मिक चेतना के रखने की बात थी।

श्रीअरविन्द—मैंने कहा था कि निवर्तन ही काफी नहीं है। सामान्य जीवन के बीज भी उठा फेंकने चाहियें ताकि आध्यात्मिक चेतना मिल सके। तुम्हें सच्ची आध्यात्मिक क्रियाशीलता की ओर जाना चाहिये जो सत्य क्रिया का उद्‌गम है।

शाम को

स—शांति के मनन और शांति के अवतरण में फर्क है, है न?

श्रीअरविन्द—हां, शांति का अवतरण ज्यादा तीव्र और शक्तिशाली होता है और फिर अवतरण रास्ता खोल देता है।

स—और चीजों के लिये भी?

श्रीअरविन्द—हां, आरोहण के लिये भी।

स—एक और प्रश्न : आदमी अहंकार से छुटकारा कैसे पा सकता है, अहंकार से पूरा छुटकारा?

श्रीअरविन्द—पूरे छुटकारे से तुम्हारा क्या मतलब है?

स—मेरा मतलब है कि व्यक्ति होने का भाव लुप्त हो जाये।

श्रीअरविन्द—जब तुम वैश्व या लोकातीत में चले जाओ तब अहंकार की भावना लुप्त हो जाती है। पूरी तरह से छुटकारा पाना तबतक मुश्किल है जबतक कि तुम्हारी प्रकृति का रूपांतर न हो जाये। जब अहं की भावना चली जाती है, फिर भी आदतें बनी रहती हैं, पुराने स्वभाव की आदतें। निस्संदेह, वहां 'अहं'-भावना नहीं होती। तुम अपनी क्रियाओं में अहंप्रेरित नहीं होते, परंतु आदत डटी रहती है। यहांतक कि तुम्हारे सभी भागों से वह भावना अस्वीकृत हो जाये, फिर भी वह उस अवचेतन मन में बनी रहती है जो सभी पुरानी वस्तुओं का संस्कार अपने अंदर लिये रहता है। परंतु तुम उन आदतों से प्रभावित नहीं होते। तुम उन्हें इस तरह देखते हो मानों वह कोई बाहर की चीज है और उसका विशेष रूप से तुम्हारी सत्ता के साथ संबंध नहीं है। लोग कभी-कभी सोचते और कहते हैं कि उनके अंदर अहंकार नहीं है, उनका अहंकार अदृश्य हो गया है। परंतु दूसरे उनकी अहंकारिक गतिविधियां और क्रियाएं स्पष्ट रूप से देख सकते हैं जो स्वयं उनके लिये स्पष्ट नहीं होतीं। 'य', जिसकी अब मृत्यु हो चुकी है, इस तरह की बातें किया करता था कि उसके अंदर अहंकार नहीं है। हम उसका जितना विरोध करते और जितना उसे सच्चाई दिखाने की कोशिश करते उतना ही ज्यादा वह अपनी बात पर आग्रह किया करता। वह कहा करता था कि कोई शक्ति उसे चलाती है। यह बात सच थी, लेकिन वह उससे इस कारण प्रभावित होता था क्योंकि वह शक्ति उसके अहंकार की चापलूसी किया करती थी, अगर वह ऐसा नहीं करती तो वह उस शक्ति से कभी प्रभावित न होता। वह अपनी आलोचना नहीं सह सकता था। तुम उसके इस एक वाक्य से अन्दाजा लगा सकते हो कि उसके अंदर अहंकार था या नहीं। वह कहता था, "मैं अकेला सच्चाई पर अधिकार रखता हूं।" (हंसी) उसका स्वभाव राजसिक था और ऐसे स्वभाववालों के लिये अहंकार से छुटकारा पाना बहुत मुश्किल होता है...।

—नीरदवरण

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार

(२५)

पिछली रात मैं मन की तूफानी स्थिति में फिसल गया। मेरे काम-केन्द्र में आक्रमण हुआ और प्रायः सारी रात नींद के बिना जगा पड़ा रहा। मैं बहुधा सोचा करता हूं कि जब ऐसे आक्रमण होते हैं तो क्या साधना पर उनका प्रभाव होता है और क्या उनका कोई महत्त्व है ?

तुम्हें हमेशा ऐसे उपद्रवों से बचना चाहिये—उन्हें कभी न आने देना चाहिये।

मेरे अन्दर ज्ञान के लिये बड़ी अभीप्सा है। उच्चतर ज्ञान से अधिक निम्नतर ज्ञान और क्रिया-कलाप ज्यादा महत्त्वपूर्ण मालूम होता है। निम्नतर भागों का स्पष्ट परिणाम न होने के कारण मुझे लगता है कि मुझे ठगा जा रहा है क्योंकि निम्न प्राण एक ऐसा जगत् है कि अगर मनुष्य अपने आधार के बारे में सुनिश्चित न हो तो जरूर ठगा जायेगा...। मुझे लगता है कि मैं अपने-आपको अत्यधिक लापरवाह जीवन की लहरों में फेंक देता हूं।

नहीं, उग्र प्राणिक शक्तियों के साथ संपर्क ज्ञान नहीं लाता—बल्कि ये सच्चे ज्ञान के विकास के रास्ते में बाधक होती हैं। सत्य ज्ञान ऊपर से आता है, नीचे से नहीं। ऊपर से आनेवाला ज्ञान दिव्य होता है, नीचे से आनेवाला ज्ञान दिव्य नहीं होता, वह तो अंधकार-भरा क्षोभ और अस्तव्यस्तता है। जब ऊपर से ज्ञान आता है तब उसमें प्रकाश होता है और तब तुम देख पाओगे कि सच्ची प्राणिक गतिविधि तथा मन, प्राण और शरीर का सच्चा सामंजस्य क्या है। इन तूफानी परिस्थितियों को अपने ऊपर हावी न होने दो।

(निम्नलिखित विषय में दारा का पत्र नहीं मिल रहा। श्रीअरविन्द उत्तर देते हैं)

तुमने कृष्ण के बारे में जो लिखा है वह निश्चय ही सत्य है और माताजी ने कृष्ण के बारे में जो कहा है उससे भिन्न नहीं है, यानी कृष्ण पार्थिव विकास में भगवान् के अवतार थे और गीता भी यही कहती है कि भगवान् सिर्फ एक हैं जो अवतार के रूप में धरती पर अभिव्यक्त होते हैं। मनुष्य जिन नामों और रूपों की पूजा करता है वे सब एकमेव के नाम और रूप हैं।
५ अक्तूबर १९३३

मैं जानना चाहता हूं कि छोटा आइसक्रीम फ्रीज़र क्या है जो इतनी आसानी से आइसक्रीम बना सकता है। क्या यह कोई नयी मशीन है या सामान्य फ्रीज़र है ?

यह बिजली से चलनेवाला सामान्य रेफ्रीजरेटर है। यह एक साथ बहुत ज्यादा नहीं कर सकता। यह विशेष रूप से आइसक्रीम के लिये नहीं है, केवल चीजों को ठंडा रखने के लिये है।
२२ अक्तूबर १९३३

इन दिनों मैं प्रायः अपने अंदर बहुत-से लोगों को बातचीत करते हुए सुनता हूं और जरा-जरा सी बात और गतिविधि पर लोगों को चिल्लाते हुए सुनता हूं। मुझे आश्चर्य होता है कि आखिर यह सब क्या है। एक दिन सवेरे ही सवेरे मैंने आश्रम के कई लोगों को अपने कमरे के अलग-अलग कोने से चिल्लाते हुए सुना। हर बार जब ऐसा होता है तो मैं सतर्क होकर ज्योति को देखने की या सत्य दर्शन पाने की कोशिश करता हूं।

यही करने लायक सबसे अच्छी चीज है। ये आवाजें और चीख-पुकार तभी सुनायी देती हैं जब चेतना अपने-आपको छितरा देती और ऊट-पटांग विचारों के प्रति बहुत खुल जाती है।
२५ नवम्बर १९३३

पिछली रात मुझे एक बड़ी अच्छी अनुभूति हुई। मुझे लगा कि मैं माताजी के साथ हूं, परंतु जब मैं उससे जगा तो मन में कुछ और ही क्रिया चल रही थी। शायद मैं चेतना को बनाये रखने के योग्य नहीं हूं।

शायद तुम अपने चैत्य में या आंतरिक प्राण चेतना में माताजी के साथ थे। जागने पर तुम अपनी भौतिक चेतना और बाहरी मन में लौट आये—यानी जिस चेतना में तुम्हें अनुभूति हुई थी उससे भिन्न चेतना में आ गये।
२० दिसम्बर १९३३

मैंने सुना है कि गांधी ने एक पत्र लिखा है कि वे श्रीअरविन्द से मिलना चाहते हैं।

मैं उनसे कैसे मिल सकता हूं। अभी वह समय नहीं आया है कि मैं अपने नियम को तोड़ सकूं।
२९ दिसम्बर १९३३

कल मुझे एक पुस्तक मिली जिसमें फारसी अक्षरों की संख्या दी गयी है। उसके अनुसार "लार्ड श्रीअरविन्द और मदर मीरा देवी" का योगफल निकलता है १९०५। क्या उस वर्ष में आपके या माताजी के जीवन में कोई विशेष घटना घटी थी?

शायद मैंने उसी वर्ष योगाभ्यास शुरू किया था। उससे पहले भी मुझे अनुभूतियां होती थीं पर मैं यह न जानता था कि यह योग था।
१७ जनवरी १९३४

पिछली रात मैं छत की दीवार पर सीढ़ी लगाकर सीधा तीसरी मंजिल तक आ पहुंचा। वह जगह बहुत ही बढ़िया और विशाल थी। वहां से श्रीअरविन्द के कमरे में झांका जा सकता है, इसलिये मैं वहां जाते हुए सकुचाता हूं। परंतु मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि क्या मैं वहां से शाम को माताजी के दर्शन कर सकता हूं?

मेरे ख्याल से नहीं। पास के मकान के लोगों को भी वहां चढ़ना मना है, हालांकि वहां सीढ़ियां और मुंडेर है। अगर तुम ऊपर चढ़ोगे तो औरों को भी प्रलोभन होगा।
२७ फरवरी १९३४

मैं गाना सीखना चाहता हूं और अगर संभव हो तो मैं 'ह' से सीखूंगा। सीख सकता हूं क्या?

एक नियम के तौर पर हम 'ह' को कुछ भी सिखाने के लिये प्रोत्साहित नहीं करते—खास तौर से गाना—इससे वह बहुत बहिर्मुख हो जाता है।
७ मार्च १९३४

कल मैं 'ह' के यहां गया और उसे अपनी साधना का दर्शन समझाया, जो संभवतः पूरी तरह से गलत था।

तुमने उससे जो कुछ कहा बिलकुल गलत था। विद्रोह साधना का तरीका नहीं है—यह एक ऐसा दरवाजा है जो विक्षोभ और गड़बड़ की ओर खुलता है। शान्ति, श्रद्धा, अचंचल और प्रदीप्त अभीप्सा साधना के मार्ग हैं।

आज सवेरा मैंने अच्छी अनुभूति के साथ गुजारा, जिसे मैंने अपने ऊपर आते हुए देखा और मैंने उसे बनाये रखा। मैं आशा करता हूं कि मैं अपनी साधना में प्रगति कर रहा हूं।

ऐसा लगता है कि पिछले कुछ दिन तुम क्षुब्ध थे। तुम्हारी सारी प्रकृति प्रसन्न और शांत रहनी चाहिये—साधना में प्रगति के लिये यह उचित स्थिति है। एक प्रफुल्ल और उज्ज्वल उन्मीलन होना चाहिये।
२३ अप्रैल १९३४

इन दिनों मुझे व्यक्तिगत कामुकता की आदत से पिंड छुड़ाना कुछ कठिन लगता है, लेकिन मेरा ख्याल है कि मेरी साधना तभी ठीक तरह चलेगी जब मैं इस आदत को छोड़ दूंगा, लेकिन दिन गुजरते जाते हैं। अब मैं जरूर इससे पिंड छुड़ा लूंगा।

तुम्हारा विचार बिलकुल ठीक है। यही आदत हर चीज में गड़बड़ करती है और किसी भी आधार को प्रतिष्ठित होने से रोकती है।

मैं यह भी जानना चाहता हूं कि क्या मैं 'ह' से कविता सुधरवा सकता हूं, क्या इससे मेरी तकनीक सुधर सकती है या यह सृजन की मौलिकता में बाधा देगा?

जबतक तुम तकनीक नहीं जानते, यह सहायता बहुत जरूरी है।
१५ मई १९३४

मैं बगीचे में काम करना चाहूंगा। मैं उसे सींचूंगा। बाग छोटा-सा है और नल पास ही है। मैं वहां आम के पेड़ के नजदीक "मार्निंग ग्लोरी" की बेल लगाऊंगा और पेड़ पर उसे चढ़ाऊंगा। पेड़ पर बड़ी ऊंचाई तक पत्ते नहीं हैं। मैं एक-दो चीजें बाद में, जैसे-जैसे विचार आते जायेंगे, करूंगा।

बगीचा 'म' के अधिकार में है। उसकी स्वीकृति के बिना कुछ भी करना संभव नहीं है—और 'म' अपने बगीचे का एकमात्र बागबान रहना चाहता है।

और अगर मुझे स्वीकृति मिल जाये तो मैं "रोजरी हाउस" की छत पर गमलों के साथ एक बगीचा लगा दूंगा।

नहीं, छत इतनी मजबूत नहीं है कि भार उठा सके। कुछ गमले वहां थे पर हमें उन्हें भी उठा देना पड़ा।
२१ अगस्त १९३४

'नयी कोपलें' :

सितारों की झालर

क्या आपने कभी चांदी की झालर देखी है ? नहीं ? यह नामुमकिन है। सबने रात के काले आकाश में सितारों से सजी झालर को देखा है और कइयों ने इसका आनन्दपूर्वक वर्णन किया है, आज उन्हीं अद्भुत तारों की कथा मैं आपको सुनाऊंगी।

कुछ दिन पहले मुझे एक अनोखा अनुभव हुआ। मैं रात को अपनी छत पर बैठी थी, जब मैंने ऊपर आंख उठाई, मुझे एक पुच्छल तारा दीख पड़ा। मैं चकित हो गयी और मुझे बहुत आनन्द मिला। कई दिनों की उस तारे की एक झलक पाने की मेरी आशा पूरी हो गयी। फिर मेरी नजर उन हजारों रजत-मुद्राओं पर पड़ी जो अम्बर को आभूषित कर रहे थे।

मैंने उनसे कहा, "तुम सब इतने सारे हो, एक दूसरे से वार्तालाप कर सकते हो। तुम्हारी सुन्दरता की तो चारों तरफ प्रशंसा होती है और तुम्हारे बिना आकाश का कोई सौन्दर्य ही नहीं। इतना सब होते हुए भी तुम सब इतने उदास और असहाय क्यों लगते हो ? ऐसा लगता है मानों तुम रौशनी नहीं बल्कि नन्हें अश्रुओं की बौछार हम पर प्रवाहित कर रहे हो। आखिर क्या बात है ? तुमको देखकर मेरा मन सोच में डूब जाता है।"

उन्होंने नन्हीं कोमल ध्वनि में उत्तर दिया, "तुम सब पृथ्वी से हमें निहारते हो। तुम्हें यह भ्रम है कि हम एक दूसरे के करीब स्थित हैं। मगर ऐसा नहीं है। हम तो एक दूसरे से मीलों दूर हैं और हमारी विशालता इस दूरी की तुलना में बहुत ही मामूली है। हम आपस में न वार्तालाप कर सकते हैं और न ही इशारों का कोई असर होता है। हमारे बीच जो फासला है वही हमारे गम का कारण है। हम बिलकुल एकाकी महसूस करते हैं और हमारी ध्वनि को सुननेवाला कोई नहीं।" तब मेरे अंदर से कुछ बोल पड़ा, "ठीक इसी तरह इस धरती पर भी सितारों की झालर है, जिसके बिना यह भूमि रिक्त लगती है। हम मनुष्यों के भीतर एक सितारा चमकता है परंतु इसकी वाणी को सुननेवाला कोई नहीं। हमारा बाहरी रूप तो अन्य मनुष्यों के करीब स्थित दीखता है परंतु हर एक के अंदर जो सितारा है वह अन्य सितारों से मीलों दूर है, अकेला है, उदास है।" "दोस्तो," मैंने कहा, "अब से मैं रोज तुम सबसे बातें किया करूंगी। इससे तुम्हारा गम भी कम हो जायेगा, और शायद इससे मैं दूसरों में छिपे सितारों को भी समझ पाऊंगी।"

ऐसा कहकर मैं चली गयी। मेरा हृदय उल्लास से भरा था और मेरी आंखें मुस्करा रही थीं। मुझे उन सितारों की झालर ने कुछ सिखाया था और मुझमें पृथ्वी की झालर को समझने का प्रोत्साहन जगाया था। वे मेरे नूतन और घनिष्ठ मित्र बन गये थे और उनकी रौशनी ने मेरी आंतरिक ज्योति को जागरित किया था।

—सुरुचि वर्मा

तब तक के लिये अलविदा

सुबह के छह बजने की सोच रहे थे। पौ अभी फटी ही थी। आसमान में लालिमा छायी हुई थी, मगर जैसे-जैसे भास्कर कदम बढ़ा रहे थे, वह लालिमा सुनहरे रंग में बदलती जा रही थी। रात शायद टिकने की असफल कोशिश कर रही थी क्योंकि दूर, बहुत दूर दो-चार तारे भगवान् भास्कर की यात्रा शुरू हो जाने पर भी टिमटिमाने की जुरअत कर रहे थे। चांद ने हार मान ली थी और लुप्त हो चुका था। पल भर बाद वे ढीठ तारे भी नौ दो ग्यारह हो गये। विशाल समुद्र पर लालिमा और सुनहरेपन का अद्भुत मिश्रण पानी के साथ-साथ लहरा रहा था। भगवान् इसी प्राकृतिक चमत्कार को रोज-रोज रचते हैं, और न जाने कितनी सदियों और अरसों से रचते चले आये हैं; मगर यह शुभ घड़ी हम मनुष्यों को हर बार अपने सौन्दर्य से हिल्लोलित करती आयी है। जब भी सूर्य की पहली किरण अन्धकार को भेदकर चमक उठती है, मुझे ऐसा लगता है मानों भगवान् मनुष्य से कह रहे हों कि दुःख और कठिनाई के अंधेरेपन के बावजूद तुम्हें आशा की चिनगारी को बनाये रखना है। मन तो कर रहा था कि आराम से बेंच पर बैठकर सूर्योदय का आनन्द लूं, मगर फिर तो जिस उद्देश्य से, जिस काम से निकली थी वह अधूरा रह जायेगा, यानी कसरत!

जी हां, रोज सुबह मैं समुद्र के किनारे तेज रफ्तार से चलने जाती हूं। शुरू-शुरू में तो बहुत मुश्किल हुई क्योंकि कसरत से मुंह मोड़कर काफी साल हो चुके थे। जब घड़ी की घण्टी पांच बजे बजती तो मन करता कि अंधेरे की आड़ में छिपकर, फिर से सपनों की दुनिया में खो जाऊं। मगर तुरंत मन कहता, "यह तो इस नये वर्ष का तुम्हारा संकल्प है कि रोज-रोज कसरत करोगी। अगर कसरत करना छोड़ दिया तो तुम न केवल अपने-आपको धोखा दोगी बल्कि और मोटी हो जाओगी।" मन कितना निष्ठुर और चतुर होता है। "धोखा" और "मोटी" शब्दों का इस्तेमाल चाबुक की तरह करता और मैं जल्दी से उठ, एक घोड़े की रफ्तार से घर से निकल पड़ती!

लेकिन इस संकल्प का जन्म कैसे हुआ? तब जब आश्रम में नयी सदी के स्वागत के लिये जोर-शोर से तैयारियां चल रही थीं। जैसा कि आपको मालूम है, उस वक्त नाना तरह के कार्यक्रम हो रहे थे। स्कूल के वर्तमान और पुराने विद्यार्थियों और अध्यापकों की तस्वीरों की प्रदर्शनी, सांस्कृतिक कार्यक्रम, भाषण, सभाएं, सामूहिक ध्यान, मंत्र-जाप इत्यादि, इत्यादि। जिस तरह छह साल पहले आश्रम स्कूल की पचासवीं सालगिरह पर जगत् के कोने-कोने से पुराने विद्यार्थी आये हुए थे, उसी तरह इस बार भी ५०० के करीब यहां इकट्ठे हुए थे। कोई सपरिवार तो कोई अकेला, कोई बहुत ही अमीर तो कोई साधारण स्थिति में रहनेवाला... जीवन की हर गतिविधि और हर स्तर के भूतपूर्व विद्यार्थी आये हुए थे।

हम सब मिलकर 'स्पोर्ट्स ग्राउण्ड' में एक 'ड्रिल' प्रस्तुत कर रहे थे। जिन कप्तान ने हमें १९९३ में "टार्च-ड्रिल" सिखायी थी वे ही इस बार भी हमें सिखा रही थीं। उनकी हिम्मत की दाद देनी पड़ेगी! उन्होंने यह बीड़ा फिर उठाया था। पूरी 'ड्रिल' की रचना उन्होंने अकेले ही की थी। ३०० लोग अगर भाग ले रहे हों तो रचना बहुत मुश्किल होती है। और जब वे ३०० ऐसे लोग हों जिन्होंने नियमित रूप से कसरत हीं न की हो, तब तो उनको सिखाना भीम का काम बन जाता है! मगर हमारी कप्तान ने हमको इस तरह सिखाया मानों वह उनके लिये बाएं हाथ का खेल हो! हमने एक बार भी उनको धीरज खोते नहीं पाया। उनकी आवाज ऊंची जरूर होती थी, लेकिन इसलिये कि वह ३०० लोगों तक

पहुंच सके, न कि इसलिये कि उन पर गुस्से का भूत सवार था! वे खुद विद्यार्थिनी रह चुकी थीं, और हमसे खूब घुल-मिलकर बातें करती थीं; हमारी कप्तान थीं तो हमारी सहेली भी। इस तरह हम पर कठोर अनुशासन का डण्डा नहीं पड़ता था, हम बड़े उत्साह के साथ सीखते थे। आखिर उन्होंने हमें 'ड्रिल' प्रस्तुत करने के लायक बना ही दिया!

कार्यक्रम था १ जनवरी २००० को शाम के पांच बजे। १९९३ में, स्कूल की पचासवीं सालगिरह के अवसर पर, हमने "टार्च-ड्रिल" की थी, और हमारी ड्रिल सबसे अंत में थी। मगर इस बार सबसे पहले थी। 'स्पोर्ट्स् ग्राउण्ड' में करीब तीन हजार लोग तो थे ही, इसलिये आप कल्पना कर सकते हैं कि कितनी चहल-पहल रही होगी! मगर कप्तान की सीटी बजते ही स्तब्धता छा गयी। उत्साह, आकांक्षा और अभीप्सा से भरपूर एक जीवित-जाग्रत् स्तब्धता। अपने सफेद और सुनहरे लिबास में हम ३०० भूतपूर्व विद्यार्थी तैनात खड़े थे। हमारे अलावा नियमित रूप से खेल-कूद करनेवाले अपने-अपने 'ग्रुप' की वर्दी में खड़े थे। 'मार्चपास्ट' के बाद बाकी सब कूच करते हुए निकल गये और पीछे रह गये हम अपने बल-बूते पर!! जिस घड़ी के लिये हमने महीने भर मेहनत की थी वह आखिर आ ही गयी . . . इतने सालों बाद 'स्पोर्ट्स ग्राउण्ड' की पुण्य भूमि में, जहां श्रीमां अक्सर आया करती थीं, हम फिर से विद्यार्थी बन गये थे, और पहले की तरह 'ड्रिल' कर रहे थे। पांच मिनट बाद जब हम 'ड्रिल' समाप्त कर निकल रहे थे तो सारा 'स्पोर्ट्स ग्राउण्ड' दर्शकों की तालियों से गूंज रहा था। एक-एक करके हर एक 'ग्रुप' ने अपनी 'ड्रिल' की और घण्टेभर बाद 'जन-गण-मन' की धुन जब हवा में गूंज उठी तो बड़ा अफसोस हुआ यह जानकर कि खेल खत्म हो चुका था।

बस उसी रात को या फिर अगले ही कुछ दिनों में पांडिचेरी से बाहर रहनेवाले अपने-अपने घरों के लिये रवाना होने लगे। उनको अपने दोस्तों से, अपने घरवालों से बिछुड़ने का दुःख तो था जरूर, मगर उस दुःख से बढ़कर एक सुख था, एक सुकून था और एक शान्ति थी, जो श्रीमां और श्रीअरविन्द के रचित इस आश्रम में ही मिल सकते हैं।

लेख की शुरूआत में मैं भगवान् की चमत्कारिक सृष्टियों की बात कर रही थी, तो यह लीजिये उसका एक जीता-जागता उदाहरण—श्रीअरविन्द आश्रम।

हम सब भूतपूर्व विद्यार्थी न जाने कब फिर से इस तरह इकट्ठे होंगे। अरे हां, तीन साल बाद, यानी २००३ में—आश्रम के विद्यालय की साठवीं वर्षगांठ होगी, तब शायद हम फिर मिलेंगे। तबतक मैं अपनी कसरत को जारी रखने की पूरी कोशिश करूंगी और अगर हमने फिर से 'ड्रिल' की तो आपको लेख लिखकर जरूर बताऊंगी। तबतक के लिये अलविदा!

—कनिष्ठा

— — ❦ — —

यदि तुम अपने प्राण में शांति को उतार सको तो वह मुक्त हो सकता है—क्योंकि उस अवस्था में गलत वृत्तियों के आने पर भी वह उन्हें अस्वीकार कर सकेगा।

—श्रीअरविन्द

एक किशोर शिष्य के साथ श्रीमां का पत्र-व्यवहार

कभी-कभी कुपुत्र तो होते हैं परंतु कुमाता कभी नहीं होती।

लेकिन माता और पुत्र दोनों ही अच्छे हों तो कितना आनन्द और प्रेम होता है। मेरे प्रिय (सु)पुत्र को मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

२७ जुलाई, १९३९

मैं जानता हूं कि आपका भाव अच्छा है परंतु अच्छा होना, सचमुच अच्छा होना केवल उन्हीं के लिये संभव हो सकता है जो समस्त अहंकार के परे चले गये हैं, लेकिन अगर मेरी मां अपने बालक में केवल अच्छा ही देखना चाहती हैं तो यह मां के हृदय की भलाई का सूचक है।

मेरे बालक का हृदय भगवान् से आनेवाले प्रेम और प्रकाश से भरा है। उन्हें अपनी समस्त सत्ता में चमकने दो। तब यदि कोई बादल होंगे तो वे तुरंत गायब हो जायेंगे।

मेरे प्रिय बालक को प्रेम और आशीर्वाद।

२८ जुलाई, १९३९

हे विश्व जननी, हे मां, मेरी प्रार्थना सुनो। मेरी श्रद्धा को दृढ़ बनाओ। मुझे सचाई का वर दो, मेरे अंदर समर्पण के भाव को तेज करो। मेरे अंदर अभीप्सा की ज्वाला को तीव्र बनाओ, मुझे अपने चरण कमलों के लिये अहैतुकी भक्ति का अमूल्य वरदान प्रदान करो। मैं बड़ी आशा के साथ आपके चरणों में आया हूं। हे मां, यह न कहा जाये कि मुझे खाली हाथों लौटना पड़ा।

मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है, वह तुम्हारे हाथों और हृदय को भर दे। वह तुम्हारी अभीप्सा को सिद्ध करे।

मेरे अत्यंत प्रिय बालक को आशीर्वाद।

३१ जुलाई, १९३९

आप अपने प्रेम से मुझे अभिभूत कर देती हैं प्यारी मां। मैं जानता हूं आप जितनी कृपा मुझ पर बरसाती हैं, मैं उसके लेशमात्र का भी अधिकारी नहीं हूं। मैं आपसे क्या कहूं, आपका तो स्वभाव ही अभिभूत करनेवाला दिव्य प्रेम है। आपका प्रेम अपने-आपमें एक अमूल्य उपहार है। तब फिर ये अन्य उपहार किसलिये ?

देने में बड़ा आनंद है, उससे भी बढ़कर आनन्द है उन लोगों को खुश करने में जिनसे हम प्रेम करते हैं... मेरा ख्याल है कि जब तुम यह अचार खाओगे तो मुझे याद करोगे और सोचोगे—माताजी मुझसे प्रेम करती हैं...

मेरे प्रिय बालक को प्रेम और आशीर्वाद।

६ अगस्त, १९३९

प्यारी, प्यारी, प्यारी मां, मैं तुम्हें ढेरों, ढेरों, प्रेम भेज रहा हूं। मेरे हृदय-कमल में प्रेम के सिंहासन पर आपके चरण-कमल निरंतर प्रतिष्ठित रहें।

मेरे प्यारे, प्यारे बालक,

तुम्हारे प्रेम के कारण तुम्हारा हृदय बड़ा मधुर स्थान है—मुझे वहां हमेशा बनाये रखो ताकि मैं तुम्हारी समस्त सत्ता को प्रकाश, प्रेम और आनंद से भर दूं।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

८ अगस्त, १९३१

हे देवी, हे मां, अपने हृदय की गुफाओं में मुझे हमेशा इस बात का सहज विश्वास रहा है कि आप दिव्य जननी का अवतार हैं जिनकी मैं आराधना करता हूं लेकिन जिन्हें मैं सिर्फ उनके चरण कमलों से जानता हूं इसीलिये मेरी आंखें आपके चरण कमलों में उन्हें खोजती हैं और मेरा हृदय उन्हें एकमात्र शरण जानकर अपने साथ चिपकाने के लिये लालायित रहता है।

मेरे प्यारे, प्यारे बालक, सचेतन निश्चिति का प्रकाश और शाश्वत उपस्थिति का आनंद सदा तुम्हारे साथ दिव्य प्रेम की मधुरता में ठोस रूप से रहे।

१० अगस्त, १९३१

प्यारी मां, क्या आप कृपया मुझे बतलायेंगी कि क्या आप मुझसे सचमुच मेरी तुच्छ मानवता के बावजूद यथार्थ में प्यार करती हैं या यह सब एक परीक्षण है ? मुझे आपसे ऐसा प्रश्न करते हुए लज्जा आती है लेकिन मैं परीक्षण शब्द इतनी बार और इतने प्रकार से सुनता हूं कि मुझे डर लगने लगता है और मैं स्वयं आपसे सुनना चाहूंगा कि आप कहीं हमारे साथ सिर्फ परीक्षण ही तो नहीं कर रहीं। क्षमा के लिये प्रार्थना करते हुए . . .

मेरे प्रिय बालक,

तो सबसे अच्छा काम जो तुम कर सकते हो वह यह है कि लोगों के कहने पर कान न दो। यह तुम्हें चेतना के बहुत-से पतनों से बचायेगा। आज तीसरे पहर जब मैंने तुम्हें नीरवता के साथ देखा तो मैंने तुमसे कहा, "अपने प्रभु के प्रति निष्ठावान् रहो।" मेरा ख्याल है कि यह पर्याप्त उत्तर है और तुम यह आशा नहीं करोगे कि मैं इस प्रकार की व्याख्याओं के मूर्खतापूर्ण अज्ञान के आगे अपने प्रेम का औचित्य सिद्ध करूं। तुम चाहे विश्वास करो या न करो मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

१२ अगस्त, १९३१

प्रिय माताजी,

मैं अपने कल के प्रश्न के लिये विनयपूर्वक क्षमा चाहता हूं और प्रार्थना करता हूं कि मेरी मूर्खता को माफ कर दिया जाये।

मैं आपके प्रेम के बारे में प्रश्न कर ही कैसे सका जब कि आप सत्य की, प्रेम और शुभ की

आत्मा हैं ! अगर आप, जो दिव्य जननी का अवतार हैं, वही सच्ची न हों तो इस मृत्यु, रोग, अज्ञान और अक्षमता के जग में सच्चा होगा कौन ? आपकी बात ठीक है, माताजी, मुझे अपने प्रेम के प्रति और आपके चरण कमलों के प्रति निष्ठावान् होना चाहिये।

मेरे प्यारे बालक,

मैं जानती थी कि यह एक गुजरती हुई स्थिति है और तुम शीघ्र ही उसमें से निकल आओगे। लेकिन यह प्रेम और यह सत्य तुम्हारी ढाल बने और तुम्हें मिथ्यात्व की किसी भी शक्ति की घुस-पैठ से बचाये।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद तुम्हें अपने लक्ष्य की ओर ले जायेगा।

१३ अगस्त, १९३९

मेरे बहुत प्यारे बालक,

अगर तुम अपनी आंतरिक प्रसन्नता को हमेशा बनाये रख सके तो इससे मुझे बहुत खुशी होगी, और तुम्हें भी अपने मार्ग पर बहुत अधिक सहायता मिलेगी।

मेरा प्रेम और आशीर्वाद, मेरे बालक।

१७ अगस्त, १९३९

मेरे लिये आपका प्रेम ही मेरी सच्ची शरण और मेरा एकमात्र बल है।

मैं आपको जो अर्पण करता हूं वह एक गंदला मिश्रण है जिसके लिये मैं लज्जित हूं। लेकिन आप ही उसे शुद्ध कर सकती हैं।

मेरे अति प्रिय बालक,

नैवेद्य चाहे जैसा क्यों न हो जब वह सचाई के साथ अर्पित किया जाता है तो उसमें सदा दिव्य प्रकाश की एक चिनगारी होती है जो विकसित होकर पूरा सूर्य बन सकती है और सारी सत्ता को प्रदीप्त कर सकती है। तुम मेरे प्रेम के बारे में विश्वस्त रह सकते हो, तुम मेरी सहायता के बारे में विश्वस्त रह सकते हो और हमारे आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

१९ अगस्त, १९३९

आप कितनी प्रेममयी हैं, प्यारी अम्मी ! क्या सारे संसार में आपके जैसा कोई और है ?

प्रेम, प्रेम मेरे अति प्रिय बालक को प्रेम, समस्त आनंद, समस्त प्रकाश, भागवत प्रेम की समस्त शांति और साथ ही मेरे प्रेममय आशीर्वाद।

२० अगस्त, १९३९

अतिप्रिय अम्मी,

मैंने अचार का बरतन वापिस कर दिया है लेकिन अचार मेरे पास है। उसे देखकर मैं आपको याद करता हूं और अपने-आपसे कहता हूं : "माताजी मुझसे प्रेम करती हैं।" प्रेम की एक बड़ी

लहर के शिखर पर उपहार मेरे पास आया और मैंने उस सागर की उपस्थिति का अनुभव किया जिसने उसे प्रक्षिप्त किया था। उस बरतन को हाथ में लिये जब आपने मुझे पुकारा तो जानती हैं मैं किसके बारे में सोच रहा था ? मैं अपने सामने खड़ी काली के बारे में सोच रहा था जो मुझे एक आशीर्वाद देने के लिये तैयार हैं ! वास्तव में मैं उनका आवाहन कर रहा था और वहां आप मौजूद थीं अचार का बरतन और प्रेम का सागर लिये। ऐसी आपकी लीला है, प्यारी कौतुकी अम्मी!

सचमुच उस दिन मैंने तुम्हें स्पष्ट रूप से मुझे पुकारते सुना था और मैं तुम्हारी पुकार का बहुत ठोस रूप में उत्तर देना चाहती थीं . . . मेरे प्रेम और आशीर्वाद मेरे बहुत प्यारे बालक को।

२४ अगस्त, १९३९

माताजी,

अपनी बहन से आज 'मनी आर्डर' द्वारा मुझे १५ रु० और दो दिन पहले एक मित्र से डाक द्वारा १० रु० मिले। ये दोनों व्यक्तिगत उपयोग के लिये हैं। आपकी आज्ञा के साथ मैं इन रुपयों को अपने पास रखना चाहूंगा क्योंकि किसी तात्कालिक आवश्यकता के लिये मैं हमेशा अपने पास कुछ पैसे रखना पसंद करता हूं।

निश्चय ही तुम इन्हें रख सकते हो।
मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२२ अगस्त, १९३९

'गैर्वाणी' :

माधुर्यम् . . .

बोधकथानां भाण्डारात् वर्तते एषा कथा—

पुराकालस्य आख्यानमिदम्। तदा भारते सुवीर-दयालुनरेशानां प्राचुर्यमवर्तत। बहवः राजानः यथार्थभावेन प्रजावत्सलाः आसन्। तादृशः कश्चित् प्रजावत्सलः प्रतापी राजा आसीत् चन्द्रभानुः। नासीत् सः धनस्य अतिसञ्चयी न चावर्तत तस्य राज्ये प्रचुराः सेनाः किन्तु प्रजादुःखहरणे आसीत् सः अद्वितीयः। दिवानक्तं निजजनानां हितचिन्तायां रतः सः राज्यसञ्चालनमकरोत्, तस्मात् प्रजाजनैरपि देवकोट्याम् प्रतिष्ठापितः सः।

विहारप्रियः नरेशः कदाचित् बन्धुबान्धवैः सह वनप्रान्तेषु व्यहरत्। प्रकृतेः सामञ्जस्यपूर्णवातावरणेन एकीभूय, नदीनिर्झराणां शीतलतटेषु विहृत्य सायं पर्यन्तं सः प्रफुल्लमनाः राज्यं प्रत्यागच्छति स्म।

सङ्क्षेपेण वक्तुं शक्यं यत् नरेशस्य चन्द्रभानोः राज्ये दुःखनिवेदिका घण्टा न कदापि केनापि वादिता। यथा राजा तथा प्रजा इत्युक्तिः अक्षरशः सत्योक्तिः आसीत् तत्र।

अथ एकस्मिन् दिने विहाराय निर्गतः चन्द्रभानुः। मध्ये मार्गे हठात् प्रलयङ्करः झञ्झावातः समुद्भूतः तथा धारासारैः वृष्टिरारब्धा यत् क्षणेनैव तस्य मित्राणि अत्र तत्र विकीर्णानि। नरेशः निजदलात् बहुदूरं

प्रक्षिप्तः। प्रकृतेः प्रकोपे ईषत् शान्ते सति सः आत्मानं सर्वथा अपरिचितकोणे प्राप्नोत्। पथिभ्रष्टः यत्र तत्र भ्रमन् सः अकस्मात् इक्षुदण्डानां क्षेत्रमपश्यत्। अनतिदूरे चादृश्यत स्वच्छपर्णकुटी। तस्यां प्रज्वलत्प्रदीप-प्रकाशः राजानं सबलम् आकर्षत्। तेन मुग्धः इव चन्द्रभानुः कुटीरस्य द्वारदेशं प्राप्तः। प्रकाशेन सह शान्तिः स्वच्छता च तत्र विराजेते स्म। अन्तरे अपश्यत् सः रामायणपाठे निरतां कामपि गरिममयीं वृद्धाम्। नरेशोऽपि कुटीरं प्रविश्य बद्धाञ्जलिः तस्मिन् पाठे आकंण्ठलीनः। पाठं समाप्य सम्मुखे सम्भ्रान्तमपरिचितं वीक्ष्य सपदि उत्थाय वृद्धा सानुनयम् अपृच्छत्—"देव! कोऽस्ति भवान्? भवतः आगमनेन कुटीरं मे धन्यम्।"

अपरिहित-राजवेशं नरेशं वृद्धा नैव अभ्यजानत्। राजापि बद्धकरः अवादीत्—"मातः! पथिकोऽस्मि। महाप्रभञ्जनेन मित्रैः वियुक्तः तव द्वारं प्राप्तः। तथा हृदयस्पर्शिनं रामायणपाठं निशम्य हृदयं मे अतिप्रसन्नम्..."

प्रतीयते दूरदेशादागतोऽसि। विश्रामं कुरु तावत् यावदहं शीतलजलमानयेयम् इति कथयन्ती वृद्धा ततः निर्गता।

अतिथिदेवस्य अभ्यर्थना केवलं जलेन न शोभते इति चिन्तयन्ती वृद्धा झटिति क्षेत्रात् इक्षुदण्डस्य लघुखण्डम् अपि त्रोटयित्वा आनयत्। हस्तेनैव सरलतया निश्च्योत्य यदा सा राज्ञः सम्मुखे रसं पर्यवेषयत् तदा आश्चर्यमूर्तिः चन्द्रभानुः आत्मजिज्ञासां धर्तुमशक्तः अपृच्छत्—"मातः! तादृशाः अद्भुताः इक्षुदण्डाः मया जीवने न कदापि दृष्टाः, तथा कोमलाः यद्धस्तेनैव निष्च्योत्यन्ते!! चमत्कारः प्रतीयते माम्। निजक्षेत्रे किं पोषणं ददासि यत् एतादृशाः कोमलाः इक्षवः रोहन्ति!!"

वृद्धा सविनयमगदत्—"पुत्र! सर्वप्रथमं जानीहि यदस्मिन् राज्ये न किमपि प्रजाजनाधीनम्। सर्वं खलु दयालुनरेशस्य चन्द्रभानोः सन्तति-समम्। सः एव अस्माकं भरणपोषणाभ्याम् आरभ्य सर्वविधाम् आवश्यकतापूर्तिं करोति। क्षेत्राणि, गावः—सर्वमेव नरेशस्य। वयं तु अस्य सर्वस्य केवलं पालकाः न स्वामिनः।"

"अहो! तदा तु अस्य क्षेत्रस्य करमपि गृह्णीयात् राजा।" अनभिज्ञः इव सः अग्रे अपृच्छत्।

"अहो करः? देवतुल्यः नः भूपतिः निमित्तरूपेण केवलं रूप्यकद्वयं गृह्णाति एतावद्बृहत्क्षेत्रस्य।"—वृद्धा अवदत्।

आः! कीदृशः अमङ्गलकरः मुहूर्तः आसीत् सः यदा देवतुल्यराजस्य पवित्रहृदये अपि हठात् लोभदानवः प्रविष्टः!! सर्वदैव प्रजानां हितपोषकः नरेशः लोलुपः सञ्जातः अचिन्तयच्च "सत्यमेव भणति एषा वृद्धा। अत्यल्पं करं गृह्णामि अहम्। ईषत् वर्धनेन मे राजकोषोऽपि शनैः शनैः समृद्धः भविष्यति प्रजाजनेषु अपि भारः न वर्धिष्यते यतो हि सम्प्रति करनाम्ना ते प्रायः नैव किमपि ददति।"

राजानं चिन्तयन्तं वीक्ष्य वृद्धया पुनरुक्तम्—"भोः पुत्र! अस्माकं राज्ञः दयालुताविषये विचारमग्नः जातः; नैवम्? वस्तुतः प्रातः स्मरणीयः नः नरेशः।"

लोभतरङ्गाकुलः राजा चन्द्रभानुः इदानीम् आत्मश्लाघामपि अरोचयत्। स्मयमानः अवदत्—"आम् मातः, वस्तुतः युष्माकं राजा जनता-जनार्दनः दृश्यते। सम्भवतः कदाचित् ममापि सौभाग्यं स्यात् तस्य महानुभावस्य दर्शनस्य, किन्तु सम्प्रति कथम् अन्वेषणीयाः बान्धवाः इत्येषा एव महती चिन्ता मे मनसि।"

वृद्धया उक्तम्—"अयि पुत्र! श्रान्तस्त्वम्। सायं जातमेव, रात्रौ अत्र स्थित्वा प्रभाते तानन्वेषय, तावत् झञ्झाप्रकोपोऽपि सर्वथा शान्तः भविष्यति।"

नृपेण स्वीकृतम्। इक्षुदण्डस्य अलौकिकरसमाधुर्यं तस्य जिह्वाग्रे अधुनापि अवर्तत। लालायितः

अधिकरसपानाय, किन्तु आसीत् सः नरेशः, याचनं न प्रशिक्षितं तेन। चिन्तनमात्रेणैव तस्य सम्मुखे वस्तूनां राशिः सञ्जायते स्म। अचिन्तयत् सः, "यं परितः बद्धकराः याचकाः अहर्निशं तिष्ठन्ति सः एव महाराजः चषकमिताय रसाय प्रार्थयेत...!"

सम्भवतः वृद्धा अन्तर्यामिनी आसीत्। तत्कालमपृच्छत्, "अयि पुत्रक! अधिकं रसं पास्यसि किम्? न विश्रान्तः दृश्यसे त्वमधुनापि। अस्य सुमधुररसस्य अन्यत् चषकमितं निस्सन्देहं तव सम्पूर्णां क्लान्तिम् अपहरेत्।"

चक्षुर्द्वयं विहाय किम् अन्यत् इच्छेत् अन्धः! तत्कालम् उदतरत् राजा—"आम्, मातः आम्। एतत् सत्यममृतमेव, किञ्चित् न हि, अत्यधिकं रसं पातुमिच्छाम्यहम्...।"

हसन्ती वृद्धा पुनरपि क्षेत्रं गत्वा लघुइक्षुदण्डं त्रोटयित्वा आनयत्। हा हन्त! किं घटितम्! प्रस्तरवदासीत् सः इक्षुः! साश्चर्या सा अन्यं त्रोटयित्वा आनयत् किन्तु समाना स्थितिः। "अकस्मात् एतेषु इक्षुदण्डेषु किं जातम्?" स्वगतमवदत् सा। नरेशोऽपि समानाश्चर्येण अपश्यत् सर्वम्। अचिरमेव दश-इक्षुदण्डानां राशिः जातः तत्र किन्तु अर्धचषकमितोऽपि रसः न प्राप्तः तस्मात् किङ्कर्तव्यविमूढा वृद्धा, आश्चर्यान्वितः राजा। अन्ते अपृच्छत् सः, "मातः! किं जातं तव इक्षुदण्डेषु?"

"एतदेव तु स्वयमपि न बोधामि। प्रचुररसमयाः प्रत्यग्राः इक्षवः पलेन कथं काष्ठवत् शुष्काः जाताः? वयोवृद्धेभ्यः श्रुतं यत् देशस्य राजनि लोलुपे सत्येव क्षेत्राणि शुष्यन्ति, किन्तु न कथमपि बोधामि यत् चषकयोः मध्ये तथा किं घटितं यत् धरित्री रसहीना जाता! पुत्र! राजा तु अस्माकं करुणानिधानम्, सम्पूर्णपृथिव्यां तादृशः नृपः न भूतो न वा भविता। तस्य राज्ये पृथिवी नीरसा स्यात् इति असम्भवमेतत्!! वत्स, ममैव क्षेत्रे किमपि अलौकिकं घटितम् अथ वा गतजन्मनि कृतस्य कस्यापि पापस्य फलमिदं यत् अतिथिदेवस्य सम्मुखे क्षेत्रं शुष्कम्।"

चन्द्रभानुः निस्तब्धः, काष्ठीभूतः। विस्मिता वृद्धा हठात् अपश्यत् यत् आकाशं प्रति बद्धाञ्जलिः अतिथिः मनसि किमपि प्रार्थयते। परम् अभ्यागतः तस्याः चरणधूलिं गृहीत्वा अवदत्—"अमृतसमरसस्य मूल्यम् आजीवनं दातुमसमर्थोऽहम्। निजपुत्राय एतान् एव आशीर्वादान् कुरु यदस्य रसस्य माधुर्यम् सः आमरणं हृदि धारयेत्। मातः! गमनाय आज्ञां देहि। झञ्झा पूर्णतया विरता, आकाशः सर्वथा निरभ्रः जातः...।"

सा वृद्धा चन्द्रभानोः आचरणं नैव बोद्धुम् अशक्नोत्। अतिथेः हठात् गमनस्य तादृशम् आग्रहम् आलक्ष्य सा अपि तं निजपुत्रवत् आलिङ्ग्य, तस्य मस्तकं च घ्रात्वा, तस्मिन् आशीर्वचनानि वर्षन्ती अवदत्—"पुत्र! मा कदापि कर्मच्युतः भव, प्रभुं च सततं स्मर।"

नरेशः पुनरपि तस्याः चरणयोः प्रणतः। आनन्दाश्रूणि नैव विरमन्ति स्म। निर्गच्छन् सः अवदत्—"मातः इतः परं न कदापि तव इक्षुक्षेत्रं शुषिष्यति...।"

तत्कालं वृद्धया न किमपि अवगतम् किन्तु परं पूर्ववत् रसमयानि प्रत्यग्राणि इक्षुदण्डानि वीक्ष्य सम्भवतः सा सर्वमेव अबोधत्...।

मिठास

बोधकथाओं के भण्डार से निकली एक छोटी-सी कहानी यह भी है—

पुरानी बात है जब भारत में प्रतापी राजाओं का बोलबाला हुआ करता था। कई नरेश तो सच्चे अर्थ में प्रजा के जनक होते थे। ऐसे ही थे वे प्रजावत्सल पराक्रमी नरेश चन्द्रभानु। रियासत और सेना की

दृष्टि से भले वे दूसरे राजाओं की तरह सम्पत्तिवान् और शक्तिमान् न हों लेकिन अपनी प्रजा के दु:ख को हरने में वे सबसे अगुआ थे। दिन-रात अपने लोगों की भलाई में लगे रहते। यही कारण था कि प्रजा ने अपने चहेते राजा को देवता की कोटि में ला रखा था।

विहार के शौकीन थे राजा चन्द्रभानु। अपने दल-बल के साथ दूर-दराज प्रकृति की शोभा देखने निकल पड़ते, वन-प्रान्त, नदी-झरनों के संग सारा दिन बिताकर स्वस्थ तन और मन के साथ वापिस अपने महल पहुंचकर राज-काज में नवीन स्फूर्ति के साथ लग जाते।

संक्षेप में कहें तो राजा चन्द्रभानु के राज्य में फरियादी घण्टा कभी बजता ही न था क्योंकि 'जस राजा तस प्रजा' की उक्ति वहां अक्षरशः चरितार्थ होती थी।

उस रोज भी नरेश वन-विहार के लिये निकल पड़े। अचानक ऐसी भयंकर बारिश टूट पड़ी, तूफान की वह भीषणता छा गयी कि राजा का दल तितर-बितर हो गया। राजा तो अपने काफिले से दूर, बहुत दूर जा छिटके क्योंकि जब प्रकृति का प्रकोप कुछ शान्त हुआ तो नरेश ने अपने-आपको जंगल के बिलकुल अपरिचित कोने में पाया। साथ था बस घोड़ा, बाकी साथियों का तो कोई चिह्न ही न दिखायी दे रहा था। कुछ दूर चलने पर नरेश को गन्नों से भरा एक खेत नजर आया और पास ही दिखलायी दी फूस की साफ-सुथरी झोंपड़ी जिसके अंदर जलती लालटेन की रोशनी ने उन्हें बरबस आमन्त्रित कर दिया। नरेश भी मानों किसी डोर से खिंचे उस कुटिया के द्वार-देश तक जा पहुंचे। प्रकाश के साथ-साथ वहां शान्ति और स्वच्छता भी मुखरित हो उठे थे और तभी राजा की दृष्टि कुटिया में बैठी एक वृद्धा पर टिक गयी जिसके सन के से बाल उसके वार्धक्य को और भी गरिमामय बना रहे थे। एकाग्रता की सजीव मूर्ति वह रामायण के पाठ में लौलीन थी। नरेश भी अन्दर आ, हाथ जोड़कर बैठ गये और उस पावन गंगा में आकण्ठ डूब गये। पाठ समाप्त होने पर ही नरेश की सुध लौटी, वृद्धा ने संभ्रांत अपरिचित को देख हाथ जोड़कर पूछा—"देव! कौन हैं आप? आपके आगमन से मेरी लघु कुटीर धन्य हो उठी।"

राजवेश में न होने के कारण वृद्धा उन्हें पहचान न पायी। चन्द्रभानु भी अञ्जलि बांधे बोल उठे—"माई, पथिक हूं, तूफान ने साथियों से बिछुड़वा कर तुम्हारे द्वारे ला खड़ा किया। इतना सुन्दर पाठ कर रही थी तुम कि जी जुड़ा गया..."

"लगता है दूर देश से आ रहे हो, भैय्या बहुत थक गये होगे, तुम जरा सुस्ता लो तबतक मैं तुम्हारे लिये ठण्डा जल लेकर आती हूं।" वृद्धा बोल उठी।

अतिथि हैं ये हमारे, खाली पानी से आवभगत करना शोभा नहीं देता—यह सोचकर वृद्धा झटपट खेत से एक गन्ना तोड़ लायी। और यह देखकर नरेश को अपनी आंखों पर विश्वास न हुआ कि माई ने उसके सामने गन्ने के एक टुकड़े को हाथ से निचोड़ कर एक गिलास भर ताजा रस उसके सामने परोस दिया। वे यह पूछने से अपने-आपको रोक न पाये कि माई, तुम्हारे खेत के ये कैसे विचित्र गन्ने हैं, इतने कोमल कि हाथ से निचुड़ जायें, ऐसा चमत्कार तो तुम्हारे ही घर देखा, कौन-सी खाद डालती हो अपने खेत में जो इतने कोमल गन्ने निकलते हैं!

वृद्धा हाथ जोड़कर बोली, "बेटा, पहली बात तो यह है कि यहां हमारा अपना कुछ नहीं है, हम सब तो अपने दयालु राजा की सन्तान हैं, इस सारी जमीन-जायदाद के हम मालिक नहीं मात्र रखवाले हैं।"

"ओहो", नरेश अनजान से बनते हुए बोले, "तब तो तुम इस खेत का कर भी देती होगी।"

"कर, अरे बेटा, ऐसे देवता समान इंसान हैं हमारे राजा कि शगुन के नाम पर मात्र २ रुपये इस बड़े खेत के हमसे लेते हैं।" माई ने कहा।

न जाने वह कौन-सी अशुभ घड़ी थी कि देवता जैसे इंसान के पवित्र हृदय में अचानक लोभरूपी दैत्य घुस आया। हमेशा अपनी प्रजा के हित को पालने-पोसनेवाले नरेश के मन में लालच जाग उठा, सोचने लगे, "सच कह रही है यह माई, मैं अपनी प्रजा से बहुत ही कम कर लेता हूं, कुछ बढ़ा दूं तो मेरा राजकोष भी अधिक समृद्ध हो उठेगा और प्रजा पर भी कुछ बोझ न पड़ेगा क्योंकि अभी तो कर के नाम पर वह प्रायः कुछ नहीं दे रही।"

राजा को सोच में पड़ा देख वृद्धा आश्चर्य से बोल उठी, "बेटा, किस सोच में डूब गये। हमारे राजा की भलमनसाहत की मन-ही-मन प्रशंसा में लग गये क्या ? वे तो सचमुच प्रातः स्मरणीय हैं।"

लोभ की तरंग उठने के साथ-साथ अब उन्हें अपनी प्रशंसा भी भा रही थी। मुस्कुरा कर बोल उठे—"हां माई, तुम्हारे राजा तो सचमुच जनता-जनार्दन दीखते हैं। संभवतः कभी मैं भी उनके दर्शन पाकर धन्य हो उठूं। लेकिन इस क्षण तो अपने बिछुड़े हुए साथियों को ढूंढ़ने की चिन्ता मुझ पर सवार है। कैसे ढूंढ़ूं उन्हें ?"

वृद्धा बोली, "अरे बेटा, थके-हारे हो, घण्टा-दो-घण्टा सुस्ता लो, सांझ घिर आयी है, न हो तो रात यहीं बिताकर सवेरे उनकी खोज करना, तब तक यह तूफान और बारिश भी पूरी तरह थम जायेंगे।"

नरेश ने हामी भर ली। गन्ने के रस की मिठास उनके तन-मन में समायी हुई थी और जिह्वा उस रस को फिर से पाने के लिये लालायित थी। किंतु राजा आखिर राजा ठहरे, उन्हें मांगना न आता था, सभी चीजें उनके लिये प्रस्तुत हो जाया करती थीं। पल, दो पल सुस्ताते रहे, सोचते रहे, 'जिसके सामने हाथ जोड़े लोग याचना के लिये चौबीसों घण्टे खड़े रहते हैं उसे क्या एक गिलास गन्ने के रस के लिये प्रार्थना करनी पड़ेगी। ?'

वृद्धा तो अन्तर्यामी निकली, पूछ बैठी—"बेटा, रस और निकालूं ? अभी तक तुम्हारे चेहरे से थकान टपक रही है, इस अमृत-रस का एक और गिलास पीकर तरोताजा हो जाओगे।"

अंधा क्या चाहे दो आंखें। राजा ने इससे अधिक प्रसन्नता शायद ही अपने जीवन में अनुभव की हो। तुरंत बोल उठे—"हां मैय्या, यह तो सचमुच अमृत है, थोड़ा नहीं बहुत अधिक पीना चाहूंगा मैं..."

वृद्धा हंसती हुई बाहर चली गयी, क्षण भर में हाथ में गन्ने का छोटा-सा टुकड़ा ले आयी, रस निकालने बैठी तो यह क्या ! वह तो पत्थर की तरह कठोर निकला, अचम्भित वह दूसरा गन्ना तोड़ लायी, "यह अचानक मेरे गन्नों को हो क्या गया" वह बुड़बुड़ायी। नरेश भी कम आश्चर्यचकित न हो रहे थे, देखते-न-देखते वहां दस गन्नों का ढेर लग गया और रस निकला मुश्किल से पौन गिलास। वृद्धा तो सकते में आ गयी। चन्द्रभानु आखिर बोल उठे—"माई, तुम्हारे खेत के गन्नों को आखिर हो क्या गया ??"

"बेटे, यही बात तो मेरी समझ में नहीं आ रही कि अभी तक ताजे, रसीले गन्नों को अचानक क्या हो गया कि पल भर में सूख कर काठ बन गये। हमने तो बड़े-बूढ़ों से यही सुना है कि खेत तभी सूखते हैं जब राजा के मन में लोभ जाग उठे, वह प्रजा की भलाई से कतराने लगे, यही तो समझ में नहीं आ रहा कि दो गिलासों के रस के बीच ऐसा क्या घट गया कि हमारी धरती का रस ही सूख गया ! बेटा, राजा तो हमारे इतने दयालु और हम सबका इतना ख्याल रखनेवाले हैं कि दीया लेकर ढूंढ़ने निकलो फिर भी सारी धरती पर ऐसा दयालु इंसान और नेक राजा तुम्हें कहीं न मिलेगा। उसके राज्य में धरती को लकवा कभी नहीं मार सकता। बेटे, यह तो मेरे खेत में अचानक कोई अनहोनी घट गयी। संभवतः किसी जन्म में मुझसे कोई पाप हुआ होगा, उसीका फल आज भोग रही हूं कि अतिथिदेव के सामने खेत सूख गया।"

नरेश चन्द्रभानु तो अवाक्, अचम्भित बैठे रह गये। उन्हें यह सब देखकर काठ मार गया था, हृदय डबडबा उठा था।

वृद्धा ने साश्चर्य देखा, अतिथि हाथ जोड़े ऊपर आकाश की ओर देखता हुआ कुछ बुदबुदा रहा था। उसकी समझ में तब भी कुछ न आया जब अतिथि ने उसके पैरों की चरण-रज अपने माथे से लगायी और हाथ जोड़ बोल उठा—"माई, इतने मीठे अमृत-समान रस की कीमत मैं कभी न चुका पाऊंगा, बस आशीर्वाद दे कि इसकी मिठास को मैं जीवन भर अपने अंदर लिये रहूं। अब मुझे जाने की आज्ञा दे, तूफान थम गया, आसमान बिलकुल साफ हो गया है..."

अतिथि का इतना हठ देख वृद्धा ने उसे और अधिक न रोका, सचमुच अपने बेटे की भांति उसका माथा चूम, हृदय से आसीस देती हुई बोली, "बेटा, अपने कर्म-पथ से कभी न डिगना और प्रभु का स्मरण कभी न छोड़ना।"

नरेश ने दुबारा झुक कर माई की चरण-धूलि अपने माथे से लगायी। खुशी के आंसू थम न रहे थे। जाते-जाते बोल उठा "माई, देखना, अब तेरे गन्नों का खेत कभी न सूखेगा..."

कुछ समय के लिये वृद्धा के पल्ले कुछ न पड़ा, लेकिन फिर पहले की तरह अपने रसीले गन्नों को देख वह संभवतः सब कुछ समझ गयी...।

—वन्दना

तुम किसी को कोई अच्छी सलाह तबतक नहीं दे सकते जबतक स्वयं अपने-आपको न दे लो और उसके अनुसार आचरण न करो।

—श्रीमां

A new world, based on Truth and refusing the old slavery to falsehood, wants to take birth.

In all countries there are people who know it, at least feel it.

To them we call.

"Will you collaborate?"

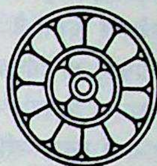
1972 The Mother

यदि तुमने भगवान् को चुना है तो इसका कारण है कि भगवान् ने तुम्हें चुन लिया है।

—श्रीमां

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये।

—श्रीमां



प्रार्थना और ध्यान

११ जून १९१४

हे प्रभो, हर सवेरे अनगिनत प्रणाम तेरी ओर उठते हैं, सत्ता की सभी अवस्थाओं की ओर से और उनके तत्त्वों के समूह की ओर से प्रणाम। और यह सभी वस्तुओं की ओर से सर्व को दैनिक उत्सर्ग है, अज्ञान और अहंकार की ओर से तेरे प्रकाश और प्रेम को आह्वान है। और तेरा उत्तर सतत रूप से आता है और पूर्णतः दिखलायी देता है। सब कुछ प्रकाश है, सब कुछ प्रेम है, अज्ञान और अहंकार केवल व्यर्थ छायाभास हैं और उन्हें लुप्त किया जा सकता है।

और सभी वस्तुओं के ऊपर तेरी परम शांति, उर्वर अचंचलता फैलती है।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

जुलाई

१. प्रत्येक दृष्टिकोण से उस बात पर एकाग्र होना बुरा है जिसे मनुष्य नहीं चाहता, जिसका उसे परित्याग करना है, जो बनना वह अस्वीकार करता है, कारण, विचार के वहां होने का तथ्य ही उन चीजों को बने रहने के लिये एक प्रकार का अधिकार दे देता है जिन्हें मनुष्य निकाल बाहर करना चाहता है। इससे इस बात की पर्याप्त महत्ता समझ में आ जाती है कि सर्वनाशी सुझावों, कुइच्छा, घृणा, विनाश के विचारों को क्यों प्रवेश नहीं करने देना चाहिये; क्योंकि मात्र उनका विचार करना पहले से ही उन्हें उनकी संसिद्धि की शक्ति देता है। श्रीअरविन्द कहते हैं कि विचार अस्तित्व का कारण नहीं है पर जीवन का, सृष्टि को आकार देने का एक माध्यम है, यंत्र है, और यदि कोई चाहता है कि इस सृष्टि में से विश्रृंखलता तथा सभी भगवद्विरोधी चीजें विलीन हो जावें तो इस यंत्र को संयमित करना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

२. सत्यनिष्ठ होने में एक अद्‌भुत आनंद है। सत्यनिष्ठता का प्रत्येक कार्य अपने-आप में अपना प्रतिदान ले आता है : पवित्रता की, ऊपर की ओर उड़ान भरने की, उस मुक्ति की भावना को ले आता है जिसे मनुष्य तब पाता है जब वह मिथ्यात्व के एक छोटे-से कण को भी त्याग देता है।

३. यदि तुम एक दूर स्थित अमूर्त वस्तु को पाने के लिये ठोस यथार्थ वस्तु से भागते हो तो तुम स्थूल साक्षात्कार के सारे क्षेत्र को उन विरोधी शक्तियों के पूरे अधिकार में छोड़ देते हो जिन्होंने इस क्षेत्र को हथिया रखा है और जिनका उसपर थोड़ा-बहुत प्रभुत्व भी है।

४. विजय की प्राप्ति न केवल बलिदान से, न त्याग से, न ही निर्बलता से होती है। वह केवल ऐसे दिव्य आनंद द्वारा मिलती है जो सामर्थ्य, सहनशीलता और परम साहस-स्वरूप है, यह आनंद अतिमानसिक शक्ति ही लाती है। यह हर एक चीज के त्याग करने और उससे पलायन करने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है, यह वृत्ति असीम रूप से महान् वीरता की मांग करती है—किंतु विजय प्राप्त करने का यही एकमात्र उपाय है।

५. 'अज्ञान' का भाव वह नहीं है जो साधारणतया समझा जाता है, उसे श्रीअरविन्द ने 'अचित्' नाम दिया है। यह अचित् अज्ञान का परिणाम है। यथार्थ अज्ञान है एकत्व के, मिलन के, तादात्म्य के संबंध में अज्ञान। और यही सारे कष्ट का कारण है।

६. कामना एवं कामनाओं की तृप्ति एक ऐसा हलका और अनिश्चित सुख प्रदान करते हैं जो मिश्रित, क्षणजीवी और एकदम असन्तोषजनक होता है।

७. कामना को तृप्त करने की अपेक्षा उसे जीतने और उसका परित्याग करने में अपार रूप से अधिक महान् आनन्द है। प्रत्येक सत्यनिष्ठ और दृढ़-निश्चयी साधक को कुछ समय बाद, देर या सवेर, कभी-कभी बहुत ही जल्दी यह साक्षात्कार होगा कि यह एक परम सत्य है, और कामना पर विजय प्राप्त करने से अनुभव होनेवाला आनन्द कामना की तृप्ति से प्राप्त हो सकनेवाले क्षणजीवी और मिश्रित सुख से इतना अधिक ऊंचा होता है कि उससे इसकी तुलना नहीं हो सकती।

८. भला यह शरीर, जैसे ही हम कुछ उन्नति कर लेते हैं, बैठ जाने की आवश्यकता क्यों अनुभव करता है ? यह थक जाता है। कहता है : "ओह ! ठहरो, मुझे थोड़ा विश्राम कर लेने दो।" यही चीज है जो इसे मृत्यु की ओर ले जाती है। यदि यह अपने में सदा ही और अधिक अच्छा करने, और अधिक

पवित्र होने, और अधिक सुन्दर होने, और अधिक प्रकाशपूर्ण होने और सदा-सर्वदा युवा बने रहने का प्रवेग अनुभव कर सकता तो व्यक्ति प्रकृति के इस भयंकर परिहास से बच सकता है।

९. यदि व्यक्ति कष्ट का साहस, सहिष्णुता और भागवत कृपा में अडिग विश्वास के साथ सामना कर सके और जब कभी कष्ट आये तो उससे बचते फिरने के स्थान पर इस संकल्प और इस अभीप्सा के साथ उसे अंगीकार करे कि इसमें से पार होना है और उस ज्योतिर्मय सत्य एवं अपरिवर्ती आनन्द को खोज निकालना है जो सभी वस्तुओं के अन्तस्तल में विद्यमान है तो पीड़ा-द्वार इच्छा-तुष्टि की अपेक्षा अधिक सीधा और अधिक जल्दी का द्वार होता है।

१०. ऐन्द्रिय सुख धोखा देनेवाला और विकृत छद्मरूप है जो हमें अपने लक्ष्य से भटकाकर दूर ले जाता है। यदि हम सत्य को पाने के उत्सुक हैं तो निश्चय ही हमें इसकी खोज नहीं करनी चाहिये। यह सुख हमें सारहीन बना देता है, हमें ठगता और भटकाता है।

११. यह स्थूल पार्थिव अस्तित्व एक अद्भुत सुयोग है, एक संभावना है जो तुम्हें जीवन के अस्तित्व-हेतु का पता लगाने, इस गभीरतर सत्य की ओर एक पग आगे बढ़ने के लिये दी गयी है। इसलिये दी गयी है कि तुम उस रहस्य को खोज सको जो तुम्हें दिव्य जीवन के शाश्वत आनन्दोल्लास के संपर्क में ला देता है।

१२. मैं तुमसे पहले भी बहुत बार कह चुकी हूं कि दुःख-कष्ट की चाह करना एक अस्वस्थ मनोवृत्ति है, इससे अवश्य बचना चाहिये, पर भुलक्कड़पन के द्वारा, उथली-हल्की क्रियाओं और मनोविनोद द्वारा उनसे भागना कायरता है। जब कोई दुःख आता है तो हमें कुछ सिखाने के लिये आता है। जितनी जल्दी हम उसे सीख लेंगे उतनी ही जल्दी उसकी आवश्यकता कम हो जायेगी। और जब हम रहस्य को जान जाते हैं तब फिर दुःखी होना संभव नहीं रहता क्योंकि वह रहस्य हमें दुःख का हेतु, प्रयोजन, मूल और इससे बाहर निकलने का रास्ता दिखा देता है।

१३. जिस भावना और चेतना से कोई कर्म किया जाता है वही उसे यौगिक कर्म बनाती है, न कि स्वयं कर्म।

१४. अहंभाव की क्रीड़ा के बिना संसार में संघर्ष नहीं हो सकते। यदि प्राण में नाटकीय प्रवृत्ति न हो तो जीवन में भी कोई नाटकीय घटना नहीं होगी।

१५. अधिक अकेले रहने के लिये व्यक्ति को आंतरिक जीवन की एक विशेष शक्ति की आवश्यकता होती है। एकांत के बाद उसकी विरोधी स्थिति में जाना लाभप्रद हो सकता है। किंतु प्रत्येक के अपने अलग लाभ और हानियां हैं। बहुत जागरूक रहकर और आंतरिक संतुलन को बनाये रखकर ही मनुष्य हानियों से बच सकता है।

१६. हे प्रभो, मेरी समस्त सत्ता को जगा ताकि मैं तेरे लिये आवश्यक यंत्र, तेरा पूर्ण सेवक बन सकूं।

१७. हे मेरे प्रभो, परम सत्य, मैं अभीप्सा करती हूं कि मैं जो भोजन लूं वह मेरे शरीर के सभी कोषाणुओं में तेरा सर्व-ज्ञान, तेरी सर्व-शक्ति, तेरी समस्त उत्तमता भर दे।

१८. प्रेम ही एकता की ओर ले जाता है और यह एकता ही स्वतंत्रता की सच्ची अभिव्यक्ति है।

१९. आंतरिक सत्ता की सभी क्रियाएं सहज-स्वाभाविक होनी चाहियें—ऐसी सहज-स्वाभाविकता जो आंतरिक सामंजस्य से, सहानुभूतिपूर्ण समझ से, स्वेच्छा से किये गये आत्मदान से, गभीरतर सत्य की ओर सत्ता के सच्चे स्वरूप, हमारे 'स्रोत' और 'उद्देश्य' की ओर वापस मुड़ने से आती है।

२०. जो चीज तुम्हें सीखनी चाहिये वह यह है कि विश्व की विभिन्न वस्तुओं में, प्रत्येक को उसके अपने स्थान पर रखकर संगति, समन्वय और मेल ला सको। संपूर्ण समस्वरता संपूर्णतया एकरूप हो

जाने में बिलकुल नहीं है, बल्कि संगति स्थापित करने में है जो प्रत्येक वस्तु को उसके अपने स्थान पर रखने से ही आ सकती है।

२१. हमें अपने सच्चे मित्र से जिस प्रतिक्रिया की आशा करने का अधिकार है उसके मूल में यही चीज होनी चाहिये कि वह यह इच्छा न करे कि उसका मित्र उसी के जैसा बने बल्कि वह चाहे कि मित्र वही बने जो कि वह सचमुच है।

२२. हम छूत के रोगी का संसर्ग पसंद नहीं करते, बल्कि सावधानी से उससे बचते हैं; सामान्यतया ऐसे व्यक्ति को पृथक् रखा जाता है जिससे वह रोग फैलने न पाये। परंतु बुरे कार्य की और बुरे व्यवहार की छूत, दुराचार, मिथ्यात्व और जो कुछ निकृष्ट है उस सबकी छूत किसी भी बीमारी की छूत से बहुत अधिक भयंकर होती है और इससे बड़ी सावधानी से बचने की जरूरत है।

२३. तुम्हें केवल उन्हीं व्यक्तियों को अपने मित्र के रूप में चुनना चाहिये जो तुमसे अधिक बुद्धिमान हों, जिनकी संगति तुम्हें ऊंचा उठाये; अपने पर विजय पाने, प्रगति करने, और भी अधिक अच्छा करने और स्पष्टतर रूप से देखने में सहायता करे।

२४. जब कोई व्यक्ति गलती करता है, चाहे वह गंभीर हो या मामूली, उसका परिणाम उसके जीवन में अवश्य होता है, यह एक ऐसा 'कर्म' है जिसका फल उसे भोगना ही पड़ता है, परंतु भागवत कृपा, यदि तुम 'उसे' पुकारो, उसको काट सकती है पर इसके लिये यह आवश्यक है कि त्रुटि को दोहराया न जाये। यह मत सोचो कि तुम वह-की-वही मूर्खताएं अनिश्चित काल तक करते रहोगे और 'कृपा' उनके परिणामों को अनिश्चित काल तक रद्द करती रहेगी। लेकिन बात ऐसी नहीं है।

२५. मनुष्यों की सहायता कर पर उन्हें अपनी शक्ति से वंचित करके मुहताज न बना; उनका पथ-प्रदर्शन कर और उन्हें सीख दे पर ध्यान रख कि उनकी उपक्रमशक्ति और मौलिकता अक्षत रहें; दूसरों को अपने अंदर ले ले, पर बदले में उन्हें उनकी प्रकृति का पूर्ण देवत्व प्राप्त करा। जो यह कर सकता है वही नेता और गुरु है।

२६. जिस क्षण मनुष्य आगे बढ़ना बंद कर देता है, वह पीछे जाता है। जिस क्षण वह तुष्ट होकर बैठ जाता है तथा और आगे अभीप्सा नहीं करता वह मरना शुरू कर देता है। जीवन है गति, जीवन है प्रयास, जीवन है आगे की ओर बढ़ना, एक पहाड़ी चढ़ाई चढ़ना, नये-नये ज्योति-शिखरों को पार करना और भविष्य की चरितार्थता की ओर अग्रसर होना।

२७. विश्राम करने की इच्छा से बढ़कर खतरनाक कोई वस्तु नहीं है। हमें विश्राम की खोज करनी चाहिये कर्म में, प्रयास में, आगे की ओर बढ़ने में—उस सच्चे विश्राम की जो भागवत कृपा में पूर्ण भरोसा रखने से, इच्छाओं के अभाव से, अहं पर विजय प्राप्त करने से मिलता है।

२८. व्यक्ति को अधीर नहीं होना चाहिये, बल्कि यह समझना चाहिये कि सच्चे रूप में ज्ञान पाने के लिये, वह चाहे जो भी हो, उसे व्यवहार में लाना जरूरी है, अर्थात्, अपनी प्रकृति पर प्रभुत्व पाना जरूरी है ताकि तुम उस ज्ञान को क्रिया में अभिव्यक्त कर सको।

२९. तुम्हें यह जान लेना चाहिये कि अपनी प्रकृति की एक जरा-सी दुर्बलता पर, जरा-सी तुच्छता पर, जरा-सी क्षुद्रता पर विजय पाने के लिये भी बहुत अधिक दृढ़ अध्यवसाय और अटूट धैर्य की आवश्यकता होती है। दिव्य प्रेम के बारे में बातें करने से क्या लाभ यदि व्यक्ति बिना अहंभाव से प्रेम नहीं कर सकता ?

३०. वह साहस और वह वीरता, जिसकी भगवान् हमसे अपेक्षा रखते हैं, उसका उपयोग हम अपनी

कठिनाइयों, अपूर्णताओं और मलिनताओं के विरुद्ध लड़ने में क्यों न करें ?

३१. मानव प्रगति के विभिन्न पहलू हैं जो एक-दूसरे को अच्छी तरह पूर्ण करते हैं पर उनमें और भी बहुत-से पहलुओं को मिलाने की जरूरत है ताकि एक अधिक समग्र और पूर्ण प्रगति हो सके, जीवन के प्रति अधिक पूर्ण समझ पैदा हो सके और भगवान् के प्रति हमारी पहुंच अधिक सर्वांगीण बन सके।

दिव्य जननी

दिव्य जननी दिव्य वर दो।
दिव्यता की ज्योति भर दो॥

क्षुद्र जड़ के बंधनों से,
बंध रहा स्वच्छंद चैतन।
थक रहा अभिमान मन का,
हो रहा निष्प्राण जीवन।
हे कृपामयि निज करों से,
शीघ्र बंधनमुक्त कर दो॥
दिव्य जननी दिव्य वर दो॥

रोग, मृत्यु, अभाव, भय से,
हो रहा संतप्त जीवन।
अमरता की, पूर्णता की,
देखता हूं राह प्रति क्षण।
जननि अब इस देह ही में,
लक्ष्य अपना सिद्ध कर दो॥
दिव्य जननी दिव्य वर दो॥

व्यर्थ की बहु चिंतनाएं,
दे रही हैं वेदनाएं।
धैर्य अब मेरा बंधाओ,
नव अभीप्सा नित जगाओ।
कर सकूं पूरा समर्पण,
शरण अपनी वरण कर दो॥
दिव्य जननी दिव्य वर दो॥

—प्रतापनारायण मिश्र

अमृत की यादें

(११)

अंततः मैं अपने परिवार से हटकर मद्रास पढ़ाई के लिये आ गया। अब मैं पीछे मुड़कर देखता हूं तो मुझे लगता है कि हम अपनी छोटी-छोटी इच्छाओं तथा आसक्तियों के पीछे कैसे भागते फिरते हैं और भगवान् भी हमारे साथ लुका-छिपी का-सा खेल खेलते हैं। हमें इच्छाओं के पीछे भागने देते हैं और फिर यह भी दिखा देते हैं कि केवल क्षुद्र कामनाओं के पीछे भागने से जीवन में कुछ न मिलेगा। और एक बार व्यक्ति इस बात को समझ जाये तो फिर उसे भागवत इच्छा स्पष्ट दिखायी देने लगती है। मेरे साथ भी ऐसा ही हुआ। परिवार, समाज, रीति-रिवाज इत्यादि के कितने ही बन्धन मुझे कठपुतली की तरह इधर-से-उधर खींच रहे थे लेकिन एक बार श्रीअरविन्द की दृष्टि ने मेरा आलिंगन कर लिया, उसके बाद मेरे जाने बिना ही मेरे जीवन का लक्ष्य निर्धारित हो गया। जब मैं अपने जीवन के एक निर्णायक मोड़ पर आ खड़ा हुआ था, जब एक तरफ आसक्तियों की शक्तियां मेरे साथ खींचा-तानी कर रही थीं और दूसरी तरफ भागवत प्रकाश मेरी दृष्टि से ओझल नहीं हो रहा था, जब मैं अंतर्द्वंद्वों के घने जंगलों में भटक रहा था तब किस शक्ति ने मुझे संसार के इन झमेलों से निकाल कर आत्मा के उज्ज्वल प्रकाश का मार्ग सुझाया ? मेरे जीवन में अचानक यह कैसा मोड़ आ गया था ? इन सभी बातों के बारे में जब मैं सोचता हूं तो अधिकाधिक मुझे यह अनुभव होता है कि कर्ता मैं नहीं प्रभु थे। मैं तो केवल एक साधन था—निमित्तमात्रम्।

३ अप्रैल १९१९ तक मैं मद्रास में रहा। मेरा शरीर वहां था लेकिन मेरा हृदय हमेशा पांडिचेरी में प्रभु के समीप था, उन्हीं की उपस्थिति का मैं अनुभव किया करता था और वही मेरा पथ-प्रदर्शन करती थी। "पांडिचेरी" शब्द ही मेरे हृदय में उल्लास की लहरें उठाया करता था क्योंकि यह शब्द था श्रीअरविन्द का प्रतीक। अपने मद्रास के प्रवास-काल में मैं पांडिचेरी महीने में एक बार तो आ ही जाता था और भाग्य साथ न देता तो दो महीने में एक चक्कर लगता।

मद्रास में मेरे दो-चार घनिष्ठ मित्रों में से एक थे वी. पी. करुणाकरण नाम्बिआर। वे लॉ कॉलेज के विद्यार्थी थे। श्रीअरविन्द के लिये उनके अंदर अगाध प्रेम था। उनका विश्वास था कि भारतीय राजनीतिक गतिविधि को श्रीअरविन्द ने ही नूतन जीवन प्रदान किया है। और श्रीअरविन्द के लेखन से तो वे अत्यधिक प्रभावित थे। जब उन्हें श्रीअरविन्द के साथ मेरी अंतरंगता का पता लगा तो वे मेरे मित्र बन गये और बिना नागा, महीने में एक बार मेरे साथ पांडिचेरी का चक्कर लगाने लगे। यहां वे किसी होटल में ठहरते थे। हम शुक्रवार की रात को मद्रास से रेलगाड़ी पकड़ते और शनिवार की सवेरे पांडिचेरी पहुंच जाते, इतवार की रात को पांडि से रेल लेकर सोमवार सवेरे वापिस मद्रास पहुंच जाते। नाम्बियार का बहुत बड़ा सौभाग्य था कि शनिवार की रात को उन्हें श्रीअरविन्द के दर्शन प्राप्त होते और साथ-साथ कुछ बातचीत भी होती। कभी-कभी इतवार की शाम को भी करीब आध घंटे के लिये उनकी श्रीअरविन्द से मुलाकात होती। वे लोग अंग्रेजी साहित्य के बारे में ही बातें किया करते थे। नाम्बियार ने स्वयं यह व्यवस्था कर ली थी कि वे मद्रास यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी और कोनेमारा लाइब्रेरी से अपने नाम पर किताबें दर्ज करवा कर पांडिचेरी में श्रीअरविन्द को पढ़ने के लिये देते ! सचमुच बड़े भले आदमी थे वे। अब वे नहीं रहे—कुछ वर्ष पहले ही उनका देहान्त हो गया।

मद्रास में मैं चार वर्ष तक जॉर्ज टाउन में रहा। उस समय का यानी १९१५ से १९१९ के काल का मद्रास कुछ और ही था। न वहां भीड़-भड़क्का था न वाहनों का तांता। तब वहां हरे-भरे मैदान भी बहुतायत में थे। मैं रोज शाम को पांच बजे के बाद हाई कोर्ट के विशाल मैदान में चला जाता और करीब सात बजे तक वहां अकेला रहता। उस समय मैं श्रीअरविन्द की 'आर्य' पत्रिका बार-बार पढ़ा करता या उनकी कविताओं की पुस्तक 'अहना' में डूब जाता। ओह! कितना आनन्ददायक काल था वह! क्या मैं जो कुछ पढ़ता उसे आत्मसात् कर पाता? क्या चीज थी जो मुझे अपार आनन्द प्रदान करती थी? मैं उनका रस किस भांति लेता? इन सभी प्रश्नों का उत्तर मेरी आत्मा के पास है। मुझे कुछ नहीं पता।

मैं जहां कहीं जाता, चाहे वह समुद्र-तट हो, उच्च न्यायालय हो, कॉलेज हो, बेकर स्ट्रीट या ट्रिपलिकेन हो—हर जगह मेरे हृदय में श्रीअरविन्द की स्मृति सदैव प्रज्ज्वलित रहती। बस एक ही विचार चौबीसों घण्टे मेरे दिमाग में कौंधता रहता—"पांडिचेरी जाने का अगला सुअवसर मुझे कब मिलेगा?"

एक बार पांडिचेरी जाते समय मेरी मुलाकात आंध्र-प्रदेश के एक नवयुवक से हुई, उसका नाम था चंद्रशेखर अय्या। बातों-बातों में उसने मुझसे पूछा—"मैं श्रीअरविन्द से किस तरह मुलाकात कर सकता हूं?" मैंने कहा, "तुम मेरे साथ चलकर अपना भाग्य आजमा सकते हो?"

जब मैंने इसकी चर्चा श्रीअरविन्द से की तो उन्होंने चंद्रशेखर के बारे में कई प्रश्न पूछे, "वह कहां से आया है?" "वह पांडिचेरी क्यों आया?" "क्या किसी विशेष प्रयोजन के लिये यहां आया है" इत्यादि। अंत में उन्होंने उससे मिलने की स्वीकृति दे दी। उनकी बातचीत पांच मिनट के अंदर समाप्त हो गयी।

बाद में मैं एकाध बार चन्द्रशेखर से मद्रास में मिला। जब कभी वह पांडिचेरी आता मैं भी साथ होता। वह हमेशा श्रीअरविन्द के दर्शन करके जाता। श्रीअरविन्द के साथ उसकी पहली मुलाकात, जो मुश्किल से पांच मिनट की थी, वही उसके लिये मील का पत्थर साबित हुई। उसने भविष्य में श्रीअरविन्द के सान्निध्य से अमूल्य हीरे चुने। कुछ ही समय में उसका हृदय और उसकी आत्मा श्रीअरविन्द के वातावरण में निमग्न हो गये।

चन्द्रशेखर संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था और अंग्रेजी भाषा पर भी उसका बहुत अधिकार था। वह श्रीअरविन्द के सामने निस्संकोच अपना हृदय खोल देता था। श्रीअरविन्द ने उसके हृदय में ज्ञान की प्रचण्ड लौ जगा दी थी।

मेरे मद्रास छोड़ने के बाद भी चन्द्रशेखर दस-बारह बार पांडिचेरी आया। वह हमेशा किसी होटल में ठहरता था। कभी-कभी वह चार-पांच दिन रहता। उसने अपने-आपको पूरी तरह श्रीअरविन्द को दे दिया था। गहरी श्रद्धा और अपार स्नेह था उसे अपने गुरु के प्रति।

सुब्रमण्यम् भारती श्रीअरविन्द से ऋग् वेद पढ़ा करते थे। चन्द्रशेखर भी जब यहां होता, श्रीअरविन्द से ऋग् वेद पढ़ा करता, यह क्रम दो-तीन वर्ष चलता रहा। श्रीअरविन्द वेदों को पुरानी परिपाटी के अनुसार नहीं समझाया करते बल्कि अपने दिव्य प्रकाश में समझाते। मुझे भी जब कभी सुअवसर मिलता ऋग् वेद की सरिता में आकण्ठ निमज्जित होने के लिये पहुंच जाता।

(क्रमशः)

'श्रीअरविन्द के साथ बातचीत':

दर्शन

५ मार्च १९४०

कल की बातचीत के बारे में:

पु—कल जगत् की स्थिति के बारे में बात करते हुए क्या आपने कहा था कि भारत की समस्या कुछ कम जटिल नहीं है या आप हमारी आश्रम की समस्या के बारे में कह रहे थे?

श्रीअरविन्द—मैंने आश्रम के बारे में कुछ नहीं कहा और मैंने "जटिल" शब्द का उपयोग नहीं किया। मैंने कहा था "अत्यधिक अस्त-व्यस्त" है और यह जोड़ा था कि मुसलमान, पारसी, फलाने, ढिमाके आदि के प्रश्न को लेकर भारत की स्थिति भी कुछ कम उलझी हुई नहीं है।

स—जब आदमी उच्चतर चेतना को पा ले और वहां दृढ़ता से आसीन हो जाये तब बिना क्षुब्ध हुए कोई भी काम शुरू कर सकता है।

श्रीअरविन्द—सच है।

नी—परंतु बीच की हालत में, जबतक मन का स्थान आध्यात्मिक चेतना न ले ले, हमें किस वृत्ति से काम करना चाहिये?

श्रीअरविन्द—कौन-सा काम?

नी—दार्शनिक या राजनीतिक।

श्रीअरविन्द—राजनीतिक काम करने की जरूरत नहीं है। रही बात दार्शनिक की तो तुम्हें उस चीज को त्याग देना चाहिये जिसे तुम्हारी प्रकृति से निकाल देना हो, जैसे बहस करने की आदत, केवल अपने ही विचारों को सच मानना और दूसरों के विचारों की परवाह न करना, केवल अपने ही विचारों से इस कारण चिपके रहना क्योंकि वे तुम्हें पसंद हैं, न कि इसलिये कि उनमें सत्य है। यह साधारण मन का स्वभाव है।

(कुछ ठहर कर) जबतक मैं मन में था मैं दर्शन न समझ सकता था। मैंने काण्ट पढ़ा पर एक पृष्ठ से आगे न जा सका! मैंने अफलातून पढ़ा पर सचमुच जब मैं मन के ऊपर चला गया तो मैं दर्शन समझने और लिखने भी लगा। विचार और अनुभव बहते हुए आने लगे। अंतर्दर्शन, आध्यात्मिक अनुभूतियां तथा दृश्यों ने, अर्थात् एक तरह की अंतर्दृष्टि ने मेरे दर्शन को ठोस रूप दिया। मैंने 'आर्य' किसी मानसिक तर्कणा या ऊहापोह की प्रक्रिया से नहीं लिखा।

नी—तो आपने मन द्वारा समझने की कोशिश नहीं की?

श्रीअरविन्द—जैसा कि मैंने कहा, मैंने काण्ट का सिर्फ एक पृष्ठ पढ़ा और मैंने उसे छोड़ दिया क्योंकि मैं कुछ भी आत्मसात् नहीं कर पा रहा था, यानी वह मेरे लिये वास्तविक नहीं बन पाया। जैसे मणिलाल के अंदर 'दिव्य जीवन' पढ़ते समय संघर्ष चल रहा था मेरी हालत वैसी ही थी। अफलातून को मैं पढ़ सकता था क्योंकि वह पूर्णतः पराभौतिक नहीं था। नीत्शे भी मैंने पढ़ा क्योंकि उसके विचार बहुत शक्तिशाली थे। भारतीय दर्शन में मैंने उपनिषद् और गीता आदि पढ़े निस्संदेह वे आध्यात्मिक अनुभूतियों के परिणाम हैं। लोग सोचते हैं कि मैं बहुत बड़ा विद्वान् हूं और हेगल, काण्ट और दूसरों के

बारे में सब कुछ जानता हूं। पर सचमुच मैंने उनकी चीजें पढ़ी ही नहीं और लोग यह नहीं जानते कि मैंने सब कुछ अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों और अंतर्दृष्टि से लिखा है। आधुनिक दार्शनिक अपने विचारों को असाधारण वाक्यों में लपेट कर रखते हैं और उनमें बहुत ज्यादा मानसिक व्यायाम होता है—फिर भी ऐसा लगता है कि वे अपने विचारों और सिद्धांतों में ग्रीक लोगों से अधिक गहरे नहीं उतर पाये। मैंने रामानुज और शंकर आदि की कुछ व्याख्याएं भी पढ़ीं, मुझे वे सिर्फ शब्दों और वाक्यों से ज्यादा कुछ नहीं लगीं। अंत में रामानुज कहते हैं कि किसी ने भी शुद्ध चेतना का अनुभव नहीं किया—कैसी आश्चर्यजनक वाहियात बात है।

नी—तो आपके मामले में यह एक उद्‌घाटन जैसी चीज थी जिस तरह चित्रकला के प्रति भी आपके अंदर उद्‌घाटन हो गया था।

श्रीअरविन्द—हां, पर चित्रकला के बारे में क्षण भर के उद्‌घाटन की बात थी, जब कि यह दूसरी चीज आध्यात्मिक अनुभूति का परिणाम थी।

नी—तब तो मैं आशा कर सकता हूं कि मैं किसी दिन दर्शन समझने लगूंगा।

स—तुम काण्ट को समझना चाहते हो ?

नी—ओह, नहीं।

श्रीअरविन्द—यह इसके लिये केवल समय की बरबादी होगी।

स—तो फिर श्रीअरविन्द का दर्शन ?

नी—हां, भारतीय दर्शन। इसमें भी काफी पेच हैं; कितने पुरुष और कितनी प्रकृतियां हैं। (हंसी)

श्रीअरविन्द—बस एक ही प्रकृति है।

नी—परा और अपरा प्रकृति।

श्रीअरविन्द—इसमें क्या कठिनाई है ? परा प्रकृति वह है जो तुम्हारी प्रकृति से ऊंची है।

शाम को

नी—क्या आपके पास 'सावित्री' को पूरा करने का समय होगा ?

श्रीअरविन्द—ओह, 'सावित्री' में बहुत समय लगेगा। मुझे सारी चीज को फिर से दोहराना होगा।

नी—कैसे ?

श्रीअरविन्द—हर बार मैं नयी-नयी अपूर्णताएं देखता हूं।

नी—जतीन बाल आपके लिये आइनस्टाइन के सापेक्षता-सिद्धांत के बारे में कुछ टिप्पणियां तैयार कर रहा है।

इसके बाद श्रीअरविन्द और पुराणी के बीच सापेक्षता-सिद्धांत के बारे में बात चल पड़ी जो एक प्रख्यात गणितज्ञ राइमैन की चर्चा ले आयी।

श्रीअरविन्द—यूक्लिड काफी खराब था। जब राइमैन भी आ गया तो मेरे लिये गणित छोड़ देने का समय आ गया।

—नीरदवरण

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार

(२६)

जब मैंने माताजी से अगस्त से पहले मिलने की इच्छा प्रकट की तो श्रीअरविन्द ने कहा कि यह असंभव है। शायद अब माताजी के पास कुछ समय हो और वे मिलना शुरू करें। मैं अपनी चेतना में माताजी से मिलने की कोशिश कर रहा हूं और मैंने सोचा कि अगर मैं इस प्रयत्न में लगा रहूं तो संभवतः उनसे मिल लूंगा।

इस तरह से माताजी से मिलने की कोशिश करना बिलकुल गलत है। इसके विपरीत तुम्हें अपने-आपको इन आकारों और आवेगों से एकदम दूर रखना चाहिये। माताजी अपने-आप जान लेंगी कि तुमसे मिलने का समय आ गया और वे तुम्हें बुला लेंगी। यह बात माताजी की ओर से आनी चाहिये, तुम्हारी ओर से नहीं। वह समय अब तक नहीं आया।
३१ अगस्त १९३४

इन दिनों मेरी व्यक्तिगत कामुकता की आदत बढ़ती जा रही है और इसका अंत होता है सुखद आनंद में। मेरा मतलब है कि यह शुरू आनंद से होता है। लेकिन अब मैं उसे समाप्त करने की कोशिश करूंगा।

यह सच्चा आनंद नहीं है—इसके बाद के प्रभाव बुरे होते हैं।
७ सितंबर १९३४

मैं श्रीअरविन्द से यह पूछना चाहता हूं कि क्या मुझे 'ज' के साथ इतनी अधिक बातचीत करनी चाहिये या नहीं—क्या इससे मेरे या उसके अंदर कोई गड़बड़ पैदा होती है या इससे कुछ भला होता है ? वह बहुत सीधे-सादे ढंग से खुलकर बोलता है। मुझे कभी-कदास ही बेचैनी होती है। साधारणतः सब कुछ ठीक रहता है।

यह कहना कठिन है, साधारणतः वह ठीक रहता है पर कभी-कभी उसके ऊपर निराशा के दौरे आते हैं।
२ अक्तूबर १९३४

फिर से मेरी इच्छा हो उठी कि ऊपर के कमरों में जाऊं और वहां के वातावरण में रहूं और माताजी से मिलूं। इन दिनों मैं माताजी को अपने नजदीक अनुभव करता हूं।

यह उचित वृत्ति नहीं है। उचित वृत्ति होगी : अंदर प्रगति करो, वहां माताजी से मिलो और भीतरी अड़चनों से पीछा छुड़ाओ।
१८ अक्तूबर १९३४

पिछली रात मैंने दो बार काम-वासना का अनुभव किया।

यह बड़ी बुरी बात है।
१९ अक्तूबर १९३४

पिछली रात मैंने तीन बार काम-वासना का अनुभव किया, जिसने मेरी अच्छी आंतरिक स्थिति को बिगाड़ दिया।

आखिर तुम इस चीज को अपने ऊपर हावी क्यों होने देते हो? इससे केवल हानि ही होती है।
२४ अक्तूबर १९३४

मैं 'ज' के साथ बहुत मिलता-जुलता हूं और जानना चाहता हूं कि यह मेरी साधना में सहायक है या बाधक। क्या मैं इसी तरह चलता रहूं या अपने-आपको अपने तक ही सीमित रखूं?

अपने-आपको अपने तक बहुत सीमित रखना या सारे समय बक-बक करना, दोनों में से कोई भी संभवतः ठीक नहीं है।
२९ अक्तूबर १९३४

कल से मेरी माताजी से मिलने की इच्छा हो रही है। मेरी स्थिति मुझे बाधित कर रही थी और यह मुझे पसंद थी। लेकिन प्रायः इसके साथ चेतना का छितराव आ जाता है, गड़बड़ होती है और चीजें बदलने लगती हैं। ऐसी अवस्था में उनसे मिलना बहुत जरूरी मालूम होता है। मैं सोचता हूं कि उन्हें देखे बिना जीवन जीने योग्य है या नहीं, मुझे लगता है कि मैं साधना से बहुत दूर हूं और व्यर्थ में जीवन बिता रहा हूं।

यह तथ्य कि यह गड़बड़ या "निराशा" के साथ आती है, इस बात का प्रमाण है कि यह ठीक गतिविधि नहीं है। साधना की शर्तें हैं, आंतरिक उपस्थिति और माताजी के साथ सतत संपर्क—शांति, निश्चल-नीरवता और ज्योतिर्मय सुख उसके आधार हैं।
२१ दिसम्बर १९३४

मेरा ख्याल है कि अब माताजी को मुझसे मिलना चाहिये। उनका इतने समय तक मिलना बंद कर देने का मैं कोई कारण नहीं देखता। मेरे ख्याल से उनका न मिलना भागवत कार्य के लिये एक बाधा है, यद्यपि इस सबके बावजूद मैं किसी अद्भुत कार्य के बारे में सचेतन होता जा रहा हूं।

मैं तुम्हें पहले ही समझा चुका हूं कि न तुम्हें इसकी मांग करनी चाहिये और न ही अपने मन को सारे समय इसी पर लटकाये रखना चाहिये। माताजी से न मिलने पर भी तुम्हारी प्रगति हो रही है और यह

चीज तुम्हारे मार्ग में बाधक बिलकुल नहीं है, इसके विपरीत, आंतरिक अनुभूतियां पाने और प्रगति करने में इस चीज ने तुम्हारी बहुत मदद की है।

५ जनवरी १९३५

काफी समय के बाद कल 'ज' मुझसे मिलने आया। आज वह फिर आया और हमने काफी देर तक बातचीत की। लेकिन यह चीज मुझे अपनी स्थिति से हटाकर एक अलग ही अवस्था में ला खड़ा करती है। मैं जानना चाहता हूं कि मुझे उससे बातचीत जारी रखनी चाहिये या अपने-आपमें रहना चाहिये।

अगर इससे तुम्हारी अच्छी अवस्था पर असर पड़ता है तो ज्यादा अच्छा है कि उससे बहुत देर तक बातें न करो—अन्यथा इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

१२ जनवरी १९३५

इन दिनों मैं 'ज' के साथ बहुत व्यस्त रहता हूं। मैं सवेरे के ध्यान में उसीका विचार करता हूं और यह मेरे काम में भी बाधक है।

अगर इससे बाधा आती है तो कम मिलना ज्यादा अच्छा है।

३१ जनवरी १९३५

मैंने 'य' को प्रांगण में देखा, मेरे अंदर उसके लिये कुछ भाव पैदा हुआ जो बाद में, जब मैं अपने कमरे में आया तो अधिक घनिष्ठ हो गया। मैंने भावुक प्रेम और अत्यधिक घनिष्ठता का अनुभव किया। मैंने अनुभव किया कि माताजी मुझे उसके कमरे में जाने की, उससे खुलकर बातें करने की प्रेरणा दे रही हैं। मेरे अंदर उसे छूने और गले लगाने की इच्छा जगी।

यह निश्चित रूप से माताजी की प्रेरणा न थी। वह चीज प्राणिक थी।

लेकिन भाग्यवश हुआ कुछ नहीं। आज मुझे लगा कि किसी चीज से मेरी रक्षा कर ली गयी।

स्पष्ट है कि यह एक प्राणिक लहर थी जो तुम पर हावी हो गयी थी।

२१ फरवरी १९३५

माताजी से न मिल पाने का रहस्य मेरी समझ में नहीं आता। मैं उसे जानना चाहता हूं। जबतक मैं इस विषय में नहीं सोचता मैं ठीक रहता हूं, लेकिन जिस क्षण मैं माताजी को देखने की इच्छा करता हूं कि अचानक चेतना का छितराव हो जाता है। कोई चीज सारी चीज को उठा फेंकना चाहती है या यह कारण जानना चाहती है कि माताजी मुझसे क्यों नहीं मिलतीं।

इस विचार को एकदम आने ही न दो। आंतरिक सत्ता संपर्क रख सकती है और अधिकाधिक संपर्क रख सकेगी—लेकिन उसे बाहरी संपर्क पर जोर नहीं डालना चाहिये। इससे वह एकदम विचलित हो जाती है।

२३ फरवरी १९३५

कल मैं फिर से यही सोचता रहा था कि आखिर माताजी मुझसे क्यों नहीं मिलतीं ? अगर वे मुझसे न मिलें तो मैं क्या करूं ? मेरी अभीप्सा या कामना इतनी बढ़ गयी है कि शायद एक बाहरी मिलन भी मुझे संतुष्ट न कर सके, जबतक अंदर से कोई प्रबल क्रिया न हो।

जैसा कि मैंने तुमसे बहुधा कहा है कि जरूरी है भीतरी मिलन और उसे पूर्ण होना चाहिये। अगर अपनी पूर्णता में समग्र और सच्चा आंतरिक संबंध न हो तो बहुत घनिष्ठ बाहरी संपर्क पुरानी गतिविधियों को जगा सकता है।

५ मार्च १९३५

'नयी कोपलें':

किताब या गृहकार्य

आधे घण्टे से मैं एक ऐसी दुविधा में हूं जिसका मेरे पास कोई हल नहीं। मेरी दायीं ओर है एक अतिआवश्यक गृहकार्य और बायीं ओर है उतनी ही आवश्यक किताब। दिमाग में चल रहा है एक घमासान युद्ध जिसके दो महारथी हैं—किताब और गृहकार्य। यह युद्ध पहली बार नहीं लड़ा जा रहा है। यह हर शुक्रवार को होता है। पर मुझे क्या मालूम, आज कौन जीतेगा ? चलिये आज मैं इसका थोड़ा-सा वर्णन करती हूं।

यह युद्ध कोई आम युद्ध नहीं है। इसमें आम अस्त्र-शस्त्र का प्रयोग नहीं होता। यह सिर्फ विचारों का युद्ध है पर जिनका प्रभाव उतना ही शक्तिशाली होता है। गृहकार्य, जिसको मैं कुछ ज्यादा ही प्रिय लगने लगी हूं, कहता है—

गृहकार्य—चलो गौरी, अच्छी बच्ची बन कर शुरू कर दो।

इस पर मेरी किताब, जो मुझे गृहकार्य से कहीं ज्यादा प्रिय है, कहती है—

किताब—गौरी, इसकी चिकनी-चुपड़ी बातों में मत आना। इसका कहा मानोगी तो सिर्फ कठिनाइयां ही प्राप्त होंगी।

गृहकार्य—कठिनाइयां होंगी, सामना करोगी, तभी तो ताकतवर बनोगी। मैं तुम्हें आत्मबल प्रदान करूंगा। किताब पढ़ने में तुम्हारा क्या लाभ है ?

किताब—लाभ है ! क्यों नहीं है ? मैं गौरी को एक ऐसी दुनिया में ले जाऊंगी जहां तुम जैसों का नामो-निशान भी नहीं है। एक अनोखी, अद्वितीय दुनिया जहां गौरी जितना चाहे अपना मन बहला सकती है।

गृहकार्य—गौरी वहां जाकर अनन्तकाल के लिये थोड़े ही ठहर जायेगी। घण्टे दो घण्टे के उपरान्त उसे जरूर वापिस आना पड़ेगा। असली दुनिया तो उसकी यही है। वापिस आयेगी तो मेरा कहा तो उसे मानना ही पड़ेगा।

किताब—मन बहलाने के अलावा मैं उसको एक भाषा भी तो सिखा रही हूं। अगर मुझे नहीं पढ़ेगी तो भाषा कैसे सीखेगी ?

गृहकार्य—यह सच है कि तुम्हें पढ़कर उसे भाषा का ज्ञान होगा, लेकिन यह भी सच है कि पढ़ने के साथ-साथ अगर लिखेगी तब वह भाषा उसे कहीं ज्यादा जल्दी ज्ञात हो जायेगी।

गृहकार्य ने बात तो बड़ी समझदारी की की है मैंने सोचा। अपने-आपको कमजोर बनता देख किताब ने आखिरी बार कोशिश की।

किताब—पर गौरी अगर तुम्हारा कहा मान लेगी तो मुझे कब पढ़ेगी ? मुझे भी तो मेरा हक मिलना चाहिये।

गृहकार्य—शांत हो जाओ, किताब। हक छीनने की बात कौन कर रहा है ? मैं तो सिर्फ आज का मेहमान हूं जब कि तुम तो हफ्ते भर के लिये उसके पास रहोगी। एक घण्टे में लिखकर गौरी मेरी छुट्टी कर दे तो तुम्हें इत्मीनान से पढ़ सकती है। और वैसे भी पिछले चार हफ्तों से तुम यह जंग जीतती आ रही हो। आज तो मुझे विजेता घोषित कर दो !

और इस तरह सुलझ गयी मेरी दुविधा। यह रहा गृहकार्य और किताब, अब मैं उसे मजे से पढ़ूंगी।

—गौरी पराशर

क्या भगवान् के दर्शन हुए हैं ?

बनारस विश्व-विद्यालय के दर्शन के प्राध्यापक श्री सुरेंद्रनाथ साधु-संतों में बड़ी रुचि रखते थे। उन्हें विश्वास था कि दर्शन का यथार्थ ज्ञान आध्यात्मिक साधना के बिना नहीं हो सकता। इसी कारण वे प्रायः अपनी छुट्टियां किसी-न-किसी आश्रम में जाकर महात्माओं के सत्संग में बिताते थे। उनकी इस यात्रा में हमेशा उनकी धर्मपत्नी सुचेता भी उनके साथ रहती थीं। सुचेता बहुत अधिक शिक्षिता तो नहीं थीं पर एक दक्ष गृहिणी थीं और सांसारिक बुद्धि उनमें पर्याप्त मात्रा में थी। एक सुयोग्य और प्रसिद्ध विद्वान् की पत्नी होने का उन्हें पूरा गर्व था और इसलिये स्वभाव से वे थोड़ी वाचाल भी थीं।

सदा की भांति एक बार श्री सुरेन्द्रनाथ अपनी पत्नी के साथ एक आश्रम में जाकर ठहरे। आश्रम के महात्मा से उनकी पुरानी जान-पहचान थी—दोनों एक-दूसरे को आदर की दृष्टि से देखते थे। श्री सुरेंद्रनाथ के लिये एक स्वतंत्र कुटिया दे दी गयी और एक साधु को उनकी सेवा-टहल के लिये तैनात कर दिया गया। ये साधु बड़ी श्रद्धा से अतिथि के लिये बाजार-हाट कर देते और गृहिणी के कार्यों में सहायता कर देते।

एक दिन सुचेता रसोई बना रही थीं और सेवक साधुजी के पास ही बैठकर रसोई का कुछ सामान तैयार कर रहे थे। अपने स्वभाववश सुचेता प्रायः ही साधुजी से कुछ-न-कुछ बातें करती रहती थीं। इसी बातचीत के सिलसिले में उन्होंने एक दिन एक प्रश्न किया—साधुजी ! क्या आपको कभी भगवान के दर्शन हुए हैं ?

साधुजी प्रश्न सुनकर थोड़ा गंभीर हो गये और कुछ देर मौन रहे, मानो थोड़ी देर के लिये अपनी चेतना की गभीरतम गहराई में पैठ गये हों। फिर बोले—मांजी ! मैं एक सामान्य व्यक्ति हूं, श्रद्धापूर्वक आश्रम की सेवा करता हूं और गुरुकृपा पर निर्भर करता हूं। इससे अधिक मुझे कुछ भी नहीं मालूम। भगवान् के दर्शन की बात तो बहुत बड़ी चीज है, सिद्ध महापुरुष ही यह कह सकते हैं कि मैंने भगवान् के दर्शन किये हैं या नहीं। अब मैं आपको अपने जीवन की एक सच्ची घटना बता रहा हूं, उसका मतलब आप खुद चाहे जो लगायें—

यहां आने से पहले मैं एक दूसरे आश्रम में रहता था और वहीं मैंने अपने गुरुजी से दीक्षा ली थी। आश्रम इसी आश्रम की तरह बस्ती से दूर एक नदी के किनारे था और उसके पास ही एक घना जंगल था। कई वर्ष वहां रहने पर गुरुजी ने महासमाधि ले ली और वहां मेरे एक गुरुभाई आश्रम के व्यवस्थापक बन गये। आश्रम पूर्ववत् चलने लगा और हम लोग पूर्ववत् अपना काम-काज और भजन-पूजन करने लगे। कुछ दिनों बाद मुझे बड़ी माता निकल आयी और सिर से पैर तक सारा शरीर गोटियों से भर गया। बुखार तेज था और रोग की गर्मी और पीड़ा असह्य थी। मैं तो बेहोश हो गया। साधुओं ने देखा कि रोग ने तो बड़ा भीषण रूप ले लिया है, इससे इसका बचना मुश्किल ही है। आश्रम में इसकी सेवा-सुश्रूषा भी क्या की जा सकती है ? इधर छूत लगने की भी संभावना है। बस, सबने परामर्श करके एक चारपाई की व्यवस्था की और मुझे उठाकर भगवान् के भरोसे दूर जंगल में रख दिया और पास में मेरा कमण्डल रख दिया।

मालूम नहीं कितने दिन मैं बेहोश पड़ा रहा। जब मेरी आंख खुली तो देखा कि ज्वर कम है, पीड़ा भी कम है और एक काला कुत्ता मेरा बदन चाट रहा है। कई दिन बाद बेहोशी छूटने पर भूख भी खूब मालूम हुई। कुत्ते ने जब मुझे जगा देखा तो वह तुरत कहीं दौड़ गया। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि वह अपने मुंह में एक बड़ी-सी रोटी दबाये चला आ रहा है। उसने वह रोटी मेरी चारपाई पर रख दी और उसके बाद कमण्डल को लेकर पानी भर लाया। भूखा तो मैं था ही, उठने में भी अभी असमर्थ था। चुपचाप मैंने रोटी खा ली और पानी पी लिया। कुत्ता बदस्तूर सिर से पैर तक चाटने का काम करने लगा।

इस तरह कई दिनों तक कुत्ता रोज रोटी और पानी ला देता और सारे दिन चाटता रहता। धीरे-धीरे घाव सूख गये और गोटियां झड़ गयीं। शरीर में भी थोड़ी शक्ति और स्फूर्ति आ गयी। अब मैंने सोचा कि कल सुबह उठकर स्नान करूंगा और कहीं बस्ती में जाकर भिक्षाटन करूंगा। उस दिन तक कुत्ता मेरे पास था। दूसरे दिन जब मैं सोकर उठा तो देखा कुत्ता नदारद। पहले सोचा, शायद रोज की तरह रोटी लाने गया होगा। पर वह समय भी बीत गया और कुत्ता नहीं आया। मैं मन-ही-मन भगवान् को स्मरण करता हुआ उठा, स्नान किया और भिक्षा करने गांव में चला गया। कुछ दिनों बाद घूमता-फिरता यहां आया और तब से यहीं साधु-सेवा कर रहा हूं।

—श्री चन्द्रदीप

बीमारी और मन

अगर शरीर अस्वस्थ हो तो क्या मन भी बीमार पड़ जाता है ?

सच पूछो तो यह आवश्यक नहीं है। मैं तुम लोगों को बता चुकी हूं कि साधारणतया बीमारियां आती हैं सत्ता के विभिन्न भागों के बीच संबंध टूट जाने के कारण, एक प्रकार का असामंजस्य स्थापित हो जाने के कारण। बहुत संभव है कि शरीर ने प्रगति की धारा का अनुसरण न किया हो, वह पीछे रह गया हो जब कि दूसरे अंग, उसके विपरीत, आगे बढ़ गये हों। उस हालत में समतोलता भंग हो जाती है, सामंजस्य टूट जाता है और उसके कारण बीमारी पैदा हो जाती है, मेरा मतलब है, शरीर में बीमारी पैदा हो जाती है, क्योंकि मन और प्राण उस समय भी स्वस्थ रह सकते हैं। ऐसे बहुत-से लोग हैं जो वर्षों बीमार रहे, भीषण और असाध्य रोगों से पीड़ित रहे, और फिर भी उन्होंने अपनी मानसिक शक्ति को अद्‌भुत रूप से स्वच्छ और सक्रिय बनाये रखा और उस क्षेत्र में उन्नति करना जारी रखा। फ्रांस में एक कवि थे, बहुत अच्छे कवि, उनका नाम था स्यूली प्रूदॉम (Sully Prudhomme)। वे सांघातिक रूप से बीमार थे और उन बीमारी के दिनों में ही उन्होंने अपनी सबसे सुन्दर कविताओं की रचना की। जब कि उनका शरीर धीरे-धीरे क्षीण होता जाता था तब भी वे हमेशा बहुत प्रसन्न रहते थे, अपनी रसिकता से प्रत्येक आदमी का मन हर लेते, प्रत्येक आदमी के सामने हंसते हुए और प्रफुल्ल रहते। तुम्हें याद होगा कि महान् चौदहवें लुई (Louis XIV) उस समय भी मजाक किया करते और हंसते रहते जब कि वे अपने जीवन की अंतिम घड़ियां गिन रहे थे। यह बात व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करती है। क्योंकि दूसरे प्रकार के ऐसे लोग भी हैं जो जरा-सी भी शारीरिक अस्वस्थता हुई कि सिर से पैर तक एकदम घबड़ा जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अंदर विभिन्न तत्त्वों का मिश्रण अपने निजी ढंग का होता है।

निस्संदेह, मन और शरीर के बीच एक संबंध है, अत्यंत घना संबंध है। अधिकांश मनुष्यों में मन ही शरीर को अस्वस्थ बनाता है, कम-से-कम बीमारी का यह एक अत्यंत प्रमुख कारण होता है। मैं कह चुकी हूं कि कुछ ऐसे लोग होते हैं जो शरीर के रुग्ण होने पर भी अपने मन को स्वच्छ बनाये रखते हैं। परंतु जब मन अस्वस्थ होता है या अपनी समतोलता खो बैठता है तब शरीर को स्वस्थ बनाये रखना बड़ा कठिन होता है और विरले लोग ही बनाये रखते हैं। ऐसा करना असंभव तो नहीं है, पर अत्यंत विरल है। क्योंकि मैं तुम्हें बतला चुकी हूं कि मन ही शरीर का मालिक है, शरीर उसका आज्ञाकारी और विनम्र सेवक है। दुर्भाग्यवश लोग साधारणतया यह नहीं जानते कि उन्हें अपने मन के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, वे उसके साथ बहुत बुरा व्यवहार करते हैं। मन में रचना करने और शरीर पर सीधे क्रिया करने की बहुत बड़ी शक्ति है। ठीक उसी शक्ति का उपयोग लोग शरीर को अस्वस्थ बनाने में करते हैं। जैसे ही कोई ऐसी बात होती है जो उनके अनुकूल नहीं पड़ती, वैसे ही मन उसके विषय में परेशान होना आरंभ कर देता है, आनेवाली विपत्तियों की रचनाएं करने लगता है, भविष्य में आनेवाले नाना प्रकार के काल्पनिक खतरों की बात सोचने लगता है। अब, यदि मन को इस प्रकार खून के प्यासे पागल की तरह चाहे जिस पर आक्रमण करके संहार न करने दिया जाये, बल्कि उसके बदले उसी शक्ति को कहीं अधिक अच्छे उद्देश्य में प्रयुक्त किया जाये, यदि अच्छी रचनाएं की जायें, अर्थात्, यदि शरीर में आत्मविश्वास उत्पन्न किया जाये, उससे कहा जाये कि इसमें

घबड़ाने की कोई बात नहीं, यह एक क्षणिक कष्ट है आदि-आदि, तो ऐसी हालत में शरीर ग्रहणशीलता की समुचित स्थिति में आ जायेगा और बीमारी जैसे आयी थी वैसे ही चुपचाप निकल जायेगी। इसी तरह मन को शिक्षा देनी चाहिये कि वह शरीर को अच्छे सुझाव दे और उस पर कीचड़ न फेंके। यदि तुम उचित ढंग से ऐसा करो तो उससे अद्भुत परिणाम उत्पन्न होंगे।

—श्रीमां

क्या तुमने अपने-आपसे यह प्रश्न पूछा है ?

यह जानने के लिये कि तुम सचमुच क्या हो और यहां पृथ्वी पर क्यों हो, तुम्हारी भौतिक सत्ता का प्रयोजन क्या है, पृथ्वी पर उपस्थिति का क्या प्रयोजन है, इस रूपायण और सत्ता का क्या अर्थ है... लोगों की बहुत बड़ी संख्या अपने-आपसे यह प्रश्न एक बार भी पूछे बिना जीवन बिता देती है! केवल कुछ गिने-चुने लोग ही रस के साथ अपने-आपसे यह प्रश्न पूछते हैं और उनमें से भी बहुत कम होते हैं जो उसका उत्तर पाने के लिये प्रयास करते हैं। इसका उत्तर पाना इतना आसान नहीं है, तब बात और होगी जब तुम इतने भाग्यवान् हो कि किसी ऐसे के संपर्क में आ जाओ जो इसे जानता हो, इसे खोज निकालना कोई आसान काम नहीं है। उदाहरण के लिये मान लो, तुम्हारे हाथों में यदि श्रीअरविन्द की कोई पुस्तक न आयी होती, किन्हीं ऐसे लेखकों, दार्शनिकों की कोई पुस्तक न आयी होती जो अपना जीवन इस खोज के लिये समर्पित कर चुके हैं, अगर तुम लाखों की तरह साधारण जगत् में निवास करते जिन्होंने कभी-कदास ही कुछ देवों या धर्मों के बारे में, किसी श्रद्धा के रूप में नहीं, आदत के रूप में ही सुना हो और वह भी तुम्हें यह न बतलाता हो कि तुम यहां क्यों हो... तो तुम उसके बारे में सोचने की भी नहीं सोचते। तुम दिन-पर-दिन अपना दैनिक जीवन जीते हो। जब तुम बहुत छोटे होते हो तो तुम बस खेलने, खाने और कुछ समय बाद सीखने के बारे में सोचते हो और उसके बाद जीवन की सभी परिस्थितियों के बारे में सोचते हो। लेकिन अपने आगे यह समस्या रखना, इस समस्या का सामना करना और अपने-आपसे पूछना कि "आखिर मैं यहां क्यों हूं ?" कितने लोग यह करते हैं ? ऐसे लोग हैं जिनके आगे यह समस्या तभी आती है जब वे किसी मुसीबत का सामना करते हैं, जब वे अपने किसी प्रिय जन को मरते देखते हैं, जब वे किसी विशेष दुःखद या कठिन परिस्थिति में हों। अगर वे काफी बुद्धिमान हों तो जरा मुड़कर अपने-आपसे पूछते हैं, "यह क्या मुसीबत है जिसमें से हम गुजर रहे हैं, इसका उपयोग और प्रयोजन क्या है ?"...

और केवल तभी जब तुम यह जान लो कि तुम्हारे अंदर दिव्य आत्मा है और अंततः तुम्हें इस दिव्य आत्मा को खोजना और पाना है—यह स्थिति बहुत पीछे आती है, लेकिन फिर भी सब चीजों के बावजूद भौतिक शरीर के जन्म के साथ ही, सत्ता के अंदर उसकी गहराइयों में यह चैत्य उपस्थिति होती है जो सारी सत्ता को परिपूर्णता की ओर धकेलती है। लेकिन इस चैत्य सत्ता को कौन जानता और पहचानता है ? यह चीज भी विशेष परिस्थितियों में आती है और दुर्भाग्यवश अधिकतर इन्हें कष्टदायक परिस्थितियां होना पड़ता है अन्यथा आदमी बिना सोचे-समझे जीता चला जाता है। और तुम्हारी सत्ता की गहराइयों में चैत्य सत्ता होती है जो खोजती, खोजती और खोजती रहती है और चेतना को जगाने की कोशिश करती है और ऐक्य को पुनः स्थापित करने का प्रयास करती है। लेकिन व्यक्ति को इसके बारे में कुछ भी पता नहीं होता...।

गृहकार्य—गौरी वहां जाकर अनन्तकाल के लिये थोड़े ही ठहर जायेगी। घण्टे दो घण्टे के उपरान्त उसे जरूर वापिस आना पड़ेगा। असली दुनिया तो उसकी यही है। वापिस आयेगी तो मेरा कहा तो उसे मानना ही पड़ेगा।

किताब—मन बहलाने के अलावा मैं उसको एक भाषा भी तो सिखा रही हूं। अगर मुझे नहीं पढ़ेगी तो भाषा कैसे सीखेगी ?

गृहकार्य—यह सच है कि तुम्हें पढ़कर उसे भाषा का ज्ञान होगा, लेकिन यह भी सच है कि पढ़ने के साथ-साथ अगर लिखेगी तब वह भाषा उसे कहीं ज्यादा जल्दी ज्ञात हो जायेगी।

गृहकार्य ने बात तो बड़ी समझदारी की की है मैंने सोचा। अपने-आपको कमजोर बनता देख किताब ने आखिरी बार कोशिश की।

किताब—पर गौरी अगर तुम्हारा कहा मान लेगी तो मुझे कब पढ़ेगी ? मुझे भी तो मेरा हक मिलना चाहिये।

गृहकार्य—शांत हो जाओ, किताब। हक छीनने की बात कौन कर रहा है ? मैं तो सिर्फ आज का मेहमान हूं जब कि तुम तो हफ्ते भर के लिये उसके पास रहोगी। एक घण्टे में लिखकर गौरी मेरी छुट्टी कर दे तो तुम्हें इत्मीनान से पढ़ सकती है। और वैसे भी पिछले चार हफ्तों से तुम यह जंग जीतती आ रही हो। आज तो मुझे विजेता घोषित कर दो !

और इस तरह सुलझ गयी मेरी दुविधा। यह रहा गृहकार्य और किताब, अब मैं उसे मजे से पढ़ूंगी।

—गौरी पराशर

क्या भगवान् के दर्शन हुए हैं ?

बनारस विश्व-विद्यालय के दर्शन के प्राध्यापक श्री सुरेंद्रनाथ साधु-संतों में बड़ी रुचि रखते थे। उन्हें विश्वास था कि दर्शन का यथार्थ ज्ञान आध्यात्मिक साधना के बिना नहीं हो सकता। इसी कारण वे प्रायः अपनी छुट्टियां किसी-न-किसी आश्रम में जाकर महात्माओं के सत्संग में बिताते थे। उनकी इस यात्रा में हमेशा उनकी धर्मपत्नी सुचेता भी उनके साथ रहती थीं। सुचेता बहुत अधिक शिक्षिता तो नहीं थीं पर एक दक्ष गृहिणी थीं और सांसारिक बुद्धि उनमें पर्याप्त मात्रा में थी। एक सुयोग्य और प्रसिद्ध विद्वान् की पत्नी होने का उन्हें पूरा गर्व था और इसलिये स्वभाव से वे थोड़ी वाचाल भी थीं।

सदा की भांति एक बार श्री सुरेन्द्रनाथ अपनी पत्नी के साथ एक आश्रम में जाकर ठहरे। आश्रम के महात्मा से उनकी पुरानी जान-पहचान थी—दोनों एक-दूसरे को आदर की दृष्टि से देखते थे। श्री सुरेंद्रनाथ के लिये एक स्वतंत्र कुटिया दे दी गयी और एक साधु को उनकी सेवा-टहल के लिये तैनात कर दिया गया। ये साधु बड़ी श्रद्धा से अतिथि के लिये बाजार-हाट कर देते और गृहिणी के कार्यों में सहायता कर देते।

एक दिन सुचेता रसोई बना रही थीं और सेवक साधुजी के पास ही बैठकर रसोई का कुछ सामान तैयार कर रहे थे। अपने स्वभाववश सुचेता प्रायः ही साधुजी से कुछ-न-कुछ बातें करती रहती थीं। इसी बातचीत के सिलसिले में उन्होंने एक दिन एक प्रश्न किया—साधुजी ! क्या आपको कभी भगवान के दर्शन हुए हैं ?

साधुजी प्रश्न सुनकर थोड़ा गंभीर हो गये और कुछ देर मौन रहे, मानो थोड़ी देर के लिये अपनी चेतना की गभीरतम गहराई में पैठ गये हों। फिर बोले—मांजी ! मैं एक सामान्य व्यक्ति हूं, श्रद्धापूर्वक आश्रम की सेवा करता हूं और गुरुकृपा पर निर्भर करता हूं। इससे अधिक मुझे कुछ भी नहीं मालूम। भगवान् के दर्शन की बात तो बहुत बड़ी चीज है, सिद्ध महापुरुष ही यह कह सकते हैं कि मैंने भगवान् के दर्शन किये हैं या नहीं। अब मैं आपको अपने जीवन की एक सच्ची घटना बता रहा हूं, उसका मतलब आप खुद चाहे जो लगायें—

यहां आने से पहले मैं एक दूसरे आश्रम में रहता था और वहीं मैंने अपने गुरुजी से दीक्षा ली थी। आश्रम इसी आश्रम की तरह बस्ती से दूर एक नदी के किनारे था और उसके पास ही एक घना जंगल था। कई वर्ष वहां रहने पर गुरुजी ने महासमाधि ले ली और वहां मेरे एक गुरुभाई आश्रम के व्यवस्थापक बन गये। आश्रम पूर्ववत् चलने लगा और हम लोग पूर्ववत् अपना काम-काज और भजन-पूजन करने लगे। कुछ दिनों बाद मुझे बड़ी माता निकल आयी और सिर से पैर तक सारा शरीर गोटियों से भर गया। बुखार तेज था और रोग की गर्मी और पीड़ा असह्य थी। मैं तो बेहोश हो गया। साधुओं ने देखा कि रोग ने तो बड़ा भीषण रूप ले लिया है, इससे इसका बचना मुश्किल ही है। आश्रम में इसकी सेवा-सुश्रूषा भी क्या की जा सकती है ? इधर छूत लगने की भी संभावना है। बस, सबने परामर्श करके एक चारपाई की व्यवस्था की और मुझे उठाकर भगवान् के भरोसे दूर जंगल में रख दिया और पास में मेरा कमण्डल रख दिया।

मालूम नहीं कितने दिन मैं बेहोश पड़ा रहा। जब मेरी आंख खुली तो देखा कि ज्वर कम है, पीड़ा भी कम है और एक काला कुत्ता मेरा बदन चाट रहा है। कई दिन बाद बेहोशी छूटने पर भूख भी खूब मालूम हुई। कुत्ते ने जब मुझे जगा देखा तो वह तुरत कहीं दौड़ गया। थोड़ी देर बाद मैंने देखा कि वह अपने मुंह में एक बड़ी-सी रोटी दबाये चला आ रहा है। उसने वह रोटी मेरी चारपाई पर रख दी और उसके बाद कमण्डल को लेकर पानी भर लाया। भूखा तो मैं था ही, उठने में भी अभी असमर्थ था। चुपचाप मैंने रोटी खा ली और पानी पी लिया। कुत्ता बदस्तूर सिर से पैर तक चाटने का काम करने लगा।

इस तरह कई दिनों तक कुत्ता रोज रोटी और पानी ला देता और सारे दिन चाटता रहता। धीरे-धीरे घाव सूख गये और गोटियां झड़ गयीं। शरीर में भी थोड़ी शक्ति और स्फूर्ति आ गयी। अब मैंने सोचा कि कल सुबह उठकर स्नान करूंगा और कहीं बस्ती में जाकर भिक्षाटन करूंगा। उस दिन तक कुत्ता मेरे पास था। दूसरे दिन जब मैं सोकर उठा तो देखा कुत्ता नदारद। पहले सोचा, शायद रोज की तरह रोटी लाने गया होगा। पर वह समय भी बीत गया और कुत्ता नहीं आया। मैं मन-ही-मन भगवान् को स्मरण करता हुआ उठा, स्नान किया और भिक्षा करने गांव में चला गया। कुछ दिनों बाद घूमता-फिरता यहां आया और तब से यहीं साधु-सेवा कर रहा हूं।

—श्री चन्द्रदीप

बीमारी और मन

अगर शरीर अस्वस्थ हो तो क्या मन भी बीमार पड़ जाता है ?

सच पूछो तो यह आवश्यक नहीं है। मैं तुम लोगों को बता चुकी हूं कि साधारणतया बीमारियां आती हैं सत्ता के विभिन्न भागों के बीच संबंध टूट जाने के कारण, एक प्रकार का असामंजस्य स्थापित हो जाने के कारण। बहुत संभव है कि शरीर ने प्रगति की धारा का अनुसरण न किया हो, वह पीछे रह गया हो जब कि दूसरे अंग, उसके विपरीत, आगे बढ़ गये हों। उस हालत में समतोलता भंग हो जाती है, सामंजस्य टूट जाता है और उसके कारण बीमारी पैदा हो जाती है, मेरा मतलब है, शरीर में बीमारी पैदा हो जाती है, क्योंकि मन और प्राण उस समय भी स्वस्थ रह सकते हैं। ऐसे बहुत-से लोग हैं जो वर्षों बीमार रहे, भीषण और असाध्य रोगों से पीड़ित रहे, और फिर भी उन्होंने अपनी मानसिक शक्ति को अद्भुत रूप से स्वच्छ और सक्रिय बनाये रखा और उस क्षेत्र में उन्नति करना जारी रखा। फ्रांस में एक कवि थे, बहुत अच्छे कवि, उनका नाम था स्यूली प्रूदॉम (Sully Prudhomme)। वे सांघातिक रूप से बीमार थे और उन बीमारी के दिनों में ही उन्होंने अपनी सबसे सुन्दर कविताओं की रचना की। जब कि उनका शरीर धीरे-धीरे क्षीण होता जाता था तब भी वे हमेशा बहुत प्रसन्न रहते थे, अपनी रसिकता से प्रत्येक आदमी का मन हर लेते, प्रत्येक आदमी के सामने हंसते हुए और प्रफुल्ल रहते। तुम्हें याद होगा कि महान् चौदहवें लुई (Louis XIV) उस समय भी मजाक किया करते और हंसते रहते जब कि वे अपने जीवन की अंतिम घड़ियां गिन रहे थे। यह बात व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करती है। क्योंकि दूसरे प्रकार के ऐसे लोग भी हैं जो जरा-सी भी शारीरिक अस्वस्थता हुई कि सिर से पैर तक एकदम घबड़ा जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के अंदर विभिन्न तत्त्वों का मिश्रण अपने निजी ढंग का होता है।

निस्संदेह, मन और शरीर के बीच एक संबंध है, अत्यंत घना संबंध है। अधिकांश मनुष्यों में मन ही शरीर को अस्वस्थ बनाता है, कम-से-कम बीमारी का यह एक अत्यंत प्रमुख कारण होता है। मैं कह चुकी हूं कि कुछ ऐसे लोग होते हैं जो शरीर के रुग्ण होने पर भी अपने मन को स्वच्छ बनाये रखते हैं। परंतु जब मन अस्वस्थ होता है या अपनी समतोलता खो बैठता है तब शरीर को स्वस्थ बनाये रखना बड़ा कठिन होता है और विरले लोग ही बनाये रखते हैं। ऐसा करना असंभव तो नहीं है, पर अत्यंत विरल है। क्योंकि मैं तुम्हें बतला चुकी हूं कि मन ही शरीर का मालिक है, शरीर उसका आज्ञाकारी और विनम्र सेवक है। दुर्भाग्यवश लोग साधारणतया यह नहीं जानते कि उन्हें अपने मन के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, वे उसके साथ बहुत बुरा व्यवहार करते हैं। मन में रचना करने और शरीर पर सीधे क्रिया करने की बहुत बड़ी शक्ति है। ठीक उसी शक्ति का उपयोग लोग शरीर को अस्वस्थ बनाने में करते हैं। जैसे ही कोई ऐसी बात होती है जो उनके अनुकूल नहीं पड़ती, वैसे ही मन उसके विषय में परेशान होना आरंभ कर देता है, आनेवाली विपत्तियों की रचनाएं करने लगता है, भविष्य में आनेवाले नाना प्रकार के काल्पनिक खतरों की बात सोचने लगता है। अब, यदि मन को इस प्रकार खून के प्यासे पागल की तरह चाहे जिस पर आक्रमण करके संहार न करने दिया जाये, बल्कि उसके बदले उसी शक्ति को कहीं अधिक अच्छे उद्देश्य में प्रयुक्त किया जाये, यदि अच्छी रचनाएं की जायें, अर्थात्, यदि शरीर में आत्मविश्वास उत्पन्न किया जाये, उससे कहा जाये कि इसमें

घबड़ाने की कोई बात नहीं, यह एक क्षणिक कष्ट है आदि-आदि, तो ऐसी हालत में शरीर ग्रहणशीलता की समुचित स्थिति में आ जायेगा और बीमारी जैसे आयी थी वैसे ही चुपचाप निकल जायेगी। इसी तरह मन को शिक्षा देनी चाहिये कि वह शरीर को अच्छे सुझाव दे और उस पर कीचड़ न फेंके। यदि तुम उचित ढंग से ऐसा करो तो उससे अद्‌भुत परिणाम उत्पन्न होंगे।

—श्रीमां

क्या तुमने अपने-आपसे यह प्रश्न पूछा है ?

यह जानने के लिये कि तुम सचमुच क्या हो और यहां पृथ्वी पर क्यों हो, तुम्हारी भौतिक सत्ता का प्रयोजन क्या है, पृथ्वी पर उपस्थिति का क्या प्रयोजन है, इस रूपायण और सत्ता का क्या अर्थ है... लोगों की बहुत बड़ी संख्या अपने-आपसे यह प्रश्न एक बार भी पूछे बिना जीवन बिता देती है! केवल कुछ गिने-चुने लोग ही रस के साथ अपने-आपसे यह प्रश्न पूछते हैं और उनमें से भी बहुत कम होते हैं जो उसका उत्तर पाने के लिये प्रयास करते हैं। इसका उत्तर पाना इतना आसान नहीं है, तब बात और होगी जब तुम इतने भाग्यवान् हो कि किसी ऐसे के संपर्क में आ जाओ जो इसे जानता हो, इसे खोज निकालना कोई आसान काम नहीं है। उदाहरण के लिये मान लो, तुम्हारे हाथों में यदि श्रीअरविन्द की कोई पुस्तक न आयी होती, किन्हीं ऐसे लेखकों, दार्शनिकों की कोई पुस्तक न आयी होती जो अपना जीवन इस खोज के लिये समर्पित कर चुके हैं, अगर तुम लाखों की तरह साधारण जगत् में निवास करते जिन्होंने कभी-कदास ही कुछ देवों या धर्मों के बारे में, किसी श्रद्धा के रूप में नहीं, आदत के रूप में ही सुना हो और वह भी तुम्हें यह न बतलाता हो कि तुम यहां क्यों हो... तो तुम उसके बारे में सोचने की भी नहीं सोचते। तुम दिन-पर-दिन अपना दैनिक जीवन जीते हो। जब तुम बहुत छोटे होते हो तो तुम बस खेलने, खाने और कुछ समय बाद सीखने के बारे में सोचते हो और उसके बाद जीवन की सभी परिस्थितियों के बारे में सोचते हो। लेकिन अपने आगे यह समस्या रखना, इस समस्या का सामना करना और अपने-आपसे पूछना कि "आखिर मैं यहां क्यों हूं?" कितने लोग यह करते हैं? ऐसे लोग हैं जिनके आगे यह समस्या तभी आती है जब वे किसी मुसीबत का सामना करते हैं, जब वे अपने किसी प्रिय जन को मरते देखते हैं, जब वे किसी विशेष दुःखद या कठिन परिस्थिति में हों। अगर वे काफी बुद्धिमान हों तो जरा मुड़कर अपने-आपसे पूछते हैं, "यह क्या मुसीबत है जिसमें से हम गुजर रहे हैं, इसका उपयोग और प्रयोजन क्या है?"...

और केवल तभी जब तुम यह जान लो कि तुम्हारे अंदर दिव्य आत्मा है और अंततः तुम्हें इस दिव्य आत्मा को खोजना और पाना है—यह स्थिति बहुत पीछे आती है, लेकिन फिर भी सब चीजों के बावजूद भौतिक शरीर के जन्म के साथ ही, सत्ता के अंदर उसकी गहराइयों में यह चैत्य उपस्थिति होती है जो सारी सत्ता को परिपूर्णता की ओर धकेलती है। लेकिन इस चैत्य सत्ता को कौन जानता और पहचानता है? यह चीज भी विशेष परिस्थितियों में आती है और दुर्भाग्यवश अधिकतर इन्हें कष्टदायक परिस्थितियां होना पड़ता है अन्यथा आदमी बिना सोचे-समझे जीता चला जाता है। और तुम्हारी सत्ता की गहराइयों में चैत्य सत्ता होती है जो खोजती, खोजती और खोजती रहती है और चेतना को जगाने की कोशिश करती है और ऐक्य को पुनः स्थापित करने का प्रयास करती है। लेकिन व्यक्ति को इसके बारे में कुछ भी पता नहीं होता...।

तबतक तुम्हें बादलों में जीना, नियति के भार तले टटोलते रहना पड़ता है जो कभी-कभी तुम्हें कुचल देता है, तुम्हें ऐसा प्रतीत होता है कि तुम अमुक रीति से पैदा किये गये हो और इसके लिये कुछ नहीं कर सकते। तुम एक ऐसे जीवन के भार के नीचे हो जो तुम्हें दबा देता है, ऊपर उठाने की जगह नीचे जमीन पर रेंगने के लिये बाधित करता है, सभी धागों को दिखाने, सभी मार्गदर्शक धागों को दिखाने की जगह रेंगने पर बाधित करता है...।

तुम्हें इस अर्द्ध-चेतना में से उछल पड़ना चाहिये जिसे बिलकुल सामान्य माना जाता है, यह तुम्हारे जीवन का "सामान्य" तरीका होता है और इस अनिश्चिति, यथार्थता के अभाव पर नजर डालने के लिये और उस पर आश्चर्य करने के लिये तुम पर्याप्त पीछे तक नहीं हटते; जब कि इसके विपरीत यह जानना कि तुम खोज रहे हो और उसे सचेतन रूप से खोजना, सोच-विचार कर, दृढ़ता से और ठीक ढंग से जानना यह सचमुच विरल है, लगभग "असामान्य" स्थिति है। परंतु फिर भी केवल इसी तरीके से आदमी सचमुच जीना शुरू करता है।

—श्रीमां

यूरोपीय और एशियावासी का मन*

...यूरोपवासी का मन इलियड या ओडीसी जैसा होता है जो उग्रता, परंतु साथ ही वीरता के साथ युद्ध करता हुआ आगे बढ़ता है। वह प्रचुर जिज्ञासा के साथ, यथार्थ और कर्मठ प्रेक्षक की तरह विचार के स्थूल-रुद्ध सागरों में घूमता-फिरता है। एशियावासी का मन रामायण या महाभारत है। वह गौरवपूर्ण कल्पनाओं और आदर्शवादों की चमकदार अनंतता है या विस्तृत नैतिक अभीप्सा और सदा परिवर्तनशील और नये-नये वर्गों में समूहित विचारों की राशि का जगत् है। पाश्चात्य मनुष्य का मन छोटे-छोटे उर्वर टापुओं से भरा भूमध्यसागर है। वह ऐसे बन्दरगाहों से जटित है जिनका स्वामी एक व्यक्तिगत व्यापारी है जो लहरों में थपेड़ें खाने के बाद अपना माल लेकर उत्सुकता के साथ दौड़ता है और अपनी प्यारी पृथ्वी माता को चूम लेता है। पूर्व के मनुष्य का मन एक सागर है और उसमें यात्रा करनेवाला साहसिक और शोधकर्ता है जो ऐसा कोलम्बस है जो महीनों पृथ्वी की पहुंच से दूर असीम सागर पर यात्रा करता है। वह कभी-कदास ही कहीं, किसी बन्दरगाह पर उतरता है और न वह अपने जहाज की तली में कोई ऐसा सामान लिये रहता है जिसे बेचा जा सके। फिर भी वह व्यापारी के लिये नये क्षितिज, नये बाजारों के नये जगत् खोल देता है। वह अपने अंतर्भास और शकुन विचारों से हमेशा उन दायरों को चौड़ा करता रहता है जिन्हें यूरोपीय बड़े आग्रह से बनाता जाता है। यूरोपीय तत्त्वतः वैज्ञानिक, कलात्मक और वाणिज्य प्रधान है। एशियावाला तत्त्वतः नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक होता है। हां, यह विभेद कठोर और निरपेक्ष नहीं है...।

—श्रीअरविन्द

* यह श्रीअरविन्द के उपनिषद् के बारे में लिखे एक लेख का अंश है जो उन्होंने बड़ौदा में (१८९३—१९०६ में) लिखा था।

धम्मपद पर टिप्पणियां

माताजी कक्षा में मग्गवग्गो (मार्ग) नामक अध्याय पढ़कर विशेष रूप से निम्नलिखित पदों की व्याख्या करती हैं :

सब्बे सङ्खारा अनिच्चा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, ए मग्गो विसुद्धिया॥५॥

"सभी संस्कृत (=कृत, निर्मित, बनी) चीजें अनित्य हैं" इसे जब वह प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद (=विराग) को प्राप्त होता है। यही मार्ग (चित्त-)शुद्धि का है।

वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो कायेन च अकुसलं न कयिरा।
ऐते तयो कम्मपथे विसोधये आराधये मग्गमिसिप्पवेदितं॥९॥

वाणी की रक्षा करनेवाला मन से संयमी रहे, तथा काया से पाप न करे, इन (=मन, वचन, काया) तीनों कर्मपथों की शुद्धि करे, और ऋषि (बुद्ध) के बतलाये धर्म का सेवन करे।

यावं हि वनथो न छिज्जति अणुमत्तोपि नरस्स नारिसु।
पटिबद्धमनो नु तावसो वच्छो खीरपको'व मातरि॥१२॥

जबतक अणुमात्र भी स्त्री में पुरुष की कामना अखंडित रहती है तबतक दूध पीनेवाला बछड़ा जैसे माता में आबद्ध रहता है, (वैसे ही वह पुरुष बंधा रहता है)।

उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं'व पाणिना।
सन्तिमग्गमेव ब्रूहय निब्बानं सुगतेन देसितं॥१३॥

हाथ से शरद् (ऋतु) के कुमुद की भांति, आत्म-स्नेह को उच्छिन्न कर डालो, सुगत (=बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट (इस) शांतिमार्ग निर्वाण का आश्रय लो।

तं पुत्तपसुसम्मतं व्यासत्तमनसं नरं।
सुत्तं गामं महोघो' व मच्चू आदाय गच्छति॥१५॥

सोये गांव को जैसे बड़ी बाढ़ (बहा ले जाये), वैसे ही पुत्र और पशु में लिप्त आसक्त (=चित्त) पुरुष को मौत ले जाती है।

न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता नापि बन्धवा।
अन्तकेनाधिपन्नस्स नत्थि ञातिसु ताणता॥१६॥

पुत्र रक्षा नहीं कर सकता, न पिता, न बंधु लोग ही। जब मृत्यु आ पकड़ती है, तो जातिवाले रक्षक नहीं हो सकते।

एतमत्थवसं ञत्त्वा पण्डितो सीलसंवुतो।
निब्बाण-गमनं मग्गं खिप्पमेव विसोधये॥१७॥

इस बात को जानकर पंडित (नर) शीलवान् होकर निर्वाण की ओर ले जानेवाले मार्ग को शीघ्र ही साफ करे।

लो, कुछ बहुत उपयोगी सलाहें : भाषा का मिताचार और मन का संयम, बुरे कार्यों से दूर रहना। यह बहुत अच्छा है।

यह कुछ उग्र है लेकिन है बहुत अच्छा : "जबतक पुरुष में स्त्रियों के लिये अणुमात्र भी कामना रहती है, जबतक वह मूल से उखाड़ी नहीं जाती, तबतक उसका मन माता से बंधे दूध पीते बछड़े के समान बंधा रहता है।"

और अंत में : "हाथ से शरद् (ऋतु) के कुमुद की भांति, आत्म-स्नेह को उच्छिन्न कर डालो।" यह लो ध्यान के लिये अच्छे विषय।

ये सलाहें उन लोगों को दी हुई लग रही हैं जो बौद्धिक रूप से सम्यक् पथ को शुरू कर रहे हैं। हम आसानी से देहातियों, सरल दिलवाले व्यक्तियों की एक सभा की कल्पना कर सकते हैं जिनसे हमें यों कहना चाहिये : "ध्यान देकर सुनो, योजनाएं बनाने से कुछ नहीं होता, क्योंकि तुम स्वयं नहीं जानते कि कल तुम्हारा क्या होगा। तुम धन इकट्ठा करते हो और अपने परिवार के साथ चैन करते हो और तुम कल के लिये और उसके बाद के लिये योजनाएं बनाते हो। और तुम इस बात से अभिज्ञ नहीं हो कि मौत तुम्हारी ताक में बैठी है और किसी भी क्षण तुम्हें दबोच सकती है।"

फिर भी, एक जरा आगे बढ़ा हुआ बौद्धिक विकास है जहां इन बातों को कहने की आवश्यकता नहीं होती—आवश्यकता होती है जीने की। अगर हम विश्व के साथ प्रगति करना चाहें और सनातन लय के अनुसार विकास करना चाहें तो ऐसी चेतना के साथ जीने की आवश्यकता होती है कि चीजें अनित्य हैं, उनमें आसक्त न होना चाहिये। हम यह बात समझते हैं। लेकिन महत्त्वपूर्ण है उसे व्यवहार में लाना। यहां हमें ऐसा आभास होता है कि ये बातें उन लोगों से कही जा रही हैं जिन्होंने पहले कभी इस विषय में सोचा ही नहीं अतः उनके अंदर सक्रिय सामर्थ्य की पूर्ण शक्ति थी।

सब कुछ होते हुए, जो दीखता है उसके बावजूद, मानवजाति प्रगति कर रही है; खासकर मानसिक क्षेत्र में उसने प्रगति की है। ऐसी बातें हैं जिन्हें अब कहने की जरूरत नहीं रही . . .। या फिर ऐसे देशों में जाना चाहिये जो बहुत ही आदिम अवस्था में हैं, फिर भी . . . विचार सब जगह फैले हैं, मानसिक प्रकाश हर जगह फैला हुआ है और एकदम से अप्रत्याशित स्थानों पर भी हम ग्रहणशीलता और समझदारी के उदाहरण पाते हैं।

सचमुच हमें ऐसा लगता है कि पिछली शताब्दी में धरती पर एक नयी ज्योति फैल गयी है और उसके कारण कुछ विचार, जो एक समय विचार-शक्तियां थे, नये विचार जो चेतना में खलबली मचाने की सामर्थ्य रखते थे, अब अपनी प्रासंगिकता खो बैठे हैं, वे अब बूढ़े हो चले हैं। एक नयी ज्योति कार्यरत है।

व्यावहारिक रूप में, कोई बहुत बड़ी प्रगति नहीं हुई है, कई बातों में शायद हम पीछे भी हटे हैं; लेकिन मनोभाव में, समझ में, वस्तुओं के बौद्धिक दर्शन में सचमुच बड़ा फर्क आ गया है।

ऐसा लगता है कि हम राह पर तेजी से चल रहे हैं और जिन चीजों का अत्यधिक महत्त्व था वे नयी खोजों के सामने प्रायः सामान्य चीजें बन गयी हैं। यह कि जीवन जैसा है खराब है, कि हर जगह अव्यवस्था है, हर जगह दुःख है, हर जगह खलबली है, हर जगह विशृंखलता है, हर जगह अज्ञान है—हम सब इसे जानते हैं, नहीं जानते क्या ? यह कैसी घिसी-पिटी बात लगती है।

किंतु पूर्ण उपलब्धि के द्वारा, संपूर्ण रूपांतर द्वारा इसमें से निकला जा सकता है, एक नयी ज्योति के

द्वारा जो चीजों में व्यवस्था और सामंजस्य लायेगी : यह आशा का एक संदेश है जिसे देना चाहिये। यही वह सच्चा और क्रियाशील संदेश है।

एक नये जीवन को गढ़ना है।

और तब ये सब मुश्किलें जो इतनी अजेय लगती थीं—ओ ! अपने-आप ही ढह जायेंगी।

जब तुम ज्योति और आनंद में जी सकते हो तो क्या छाया और दुःख से चिपके रहोगे ?

२७ जून १९५८

माताजी पकिण्णवग्गो (प्रकीर्ण) नामक अध्याय पढ़कर विशेष रूप से उसके अंतिम पद की व्याख्या करती हैं :

एकासनं एकसेय्यं एकोचरमतन्दितो।
एको दमयमत्तानं वनन्ते रमितो सिया॥१६॥

एक ही आसन रखनेवाला, एक शय्या रखनेवाला, अकेला विचरनेवाला आलस्यरहित होकर अपने को दमन कर अकेला ही वनांत में रमण करे।

लेकिन ऐसा मानने की भूल न करो। क्योंकि मैं सोचती हूं कि ये ठोस तथ्यों की अपेक्षा बिंब अधिक हैं, क्योंकि यह निश्चित बात है कि अकेला खाना, अकेला सोना, अकेला चलना और जंगल में अकेला रहना ही आत्मा की मुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं है।

यह देखा गया है कि जो लोग जंगल में जाकर अकेले रहते हैं उनमें से अधिकतर उन सब प्राणियों और उन सब पौधों के मित्र बन जाते हैं जो उनके आस-पास होते हैं; लेकिन यह यथार्थ में वह एकाकीपन नहीं है जो तुम्हें आंतरिक ध्यान में प्रवेश करने की और परम सत्य के साथ तादात्म्य में जीने की शक्ति देता है। शायद यह अधिक आसान होता हो जब परिस्थितियों के दबाव के कारण तुम्हारे पास करने के लिये कुछ भी न हो, लेकिन मुझे यकीन नहीं है। व्यक्ति हमेशा कुछ-न-कुछ काम खोज निकालेगा और जीवन के अपने अनुभव के अनुसार मुझे लगता है कि भागवत करुणा ने हमें जो परिस्थितियां दी हैं उन्हें रखते हुए अगर हम मुसीबतों के बीच अपने स्वभाव के ऊपर प्रभुत्व पा सकें, अगर सनातन उपस्थिति के साथ आंतरिक रूप से एकाकी रहने का प्रयत्न करें तो हमें जो सिद्धि प्राप्त होगी वह अत्यधिक सच्ची, गभीर और स्थायी होगी।

मुसीबतों को जीतने के लिये उनसे भागना कोई हल नहीं है। यह बड़ा लुभावना है। जो आध्यात्मिक जीवन की खोज में हैं, उनमें कोई चीज होती है जो कहती है : ओह ! एकदम अकेले किसी पेड़ के नीचे जा बैठना, ध्यानमग्न रहना, बोलने या कुछ करने के प्रलोभन में न पड़ना, यह कितना अच्छा होगा !" क्योंकि इस भाव की एक बहुत मजबूत रचना है, लेकिन वह है बहुत अधिक भ्रांतिपूर्ण।

सबसे अच्छे ध्यान वे होते हैं जो तुम हठात् करते हो, क्योंकि वे तुम पर अनिवार्य आवश्यकता की तरह हावी हो जाते हैं। तुम अपने-आपको एकाग्र किये बिना, ध्यान किये बिना, बाहरी रंग-रूप के परे देखे बिना नहीं रह सकते। और यह आवश्यक नहीं है कि यह ध्यान जंगल के एकांत में ही तुम्हें पकड़े, यह तब आता है जब तुम्हारे अंदर कोई चीज तैयार हो, जब वह समय आ जाये, जब सच्ची आवश्यकता हो, जब भागवत करुणा तुम्हारे साथ हो।

मेरे ख्याल से मानवजाति ने कुछ प्रगति की है और सच्ची विजय वह है जिसे वह जीवन में प्राप्त कर सके।

सब परिस्थितियों के बीच 'शाश्वत' और 'असीम' के साथ अकेले कैसे रहा जाये तुम्हें यह जानना चाहिये। सभी व्यस्तताओं के बीच परमेश्वर को साथी के रूप में रखकर, स्वतंत्र रहना जानना चाहिये। यथार्थ रूप में यही सच्ची विजय है।

१४ जुलाई १९५८

(माताजी निरयवग्गो (नरक) नामक अध्याय पढ़ती हैं जो नरक को 'दुःखद अवस्था' के रूप में चित्रित करता है, जहां पापी मृत्यु के बाद जाते हैं। फिर वे कहती हैं) :

जैसा कि ऐसी सब शिक्षाओं में होता है, इन्हें भी समझने के कई तरीके हैं। ऊपरी तरीका काफी घिसा-पिटा है। सभी नैतिक सिद्धांतों में एक ही बात कही जाती है। उदाहरण के लिये, यह "निरय" जिसे कुछ लोग एक तरह का नरक मानते हैं, जहां मनुष्य अपने पापों के लिये दंड पाता है, उसका एक और अर्थ भी है। निरय का सच्चा अर्थ है वह विशेष वातावरण जिसे हम अपने चारों ओर उस समय तैयार करते हैं जब हम बाहरी नैतिक नियमों या सामाजिक सिद्धांतों के विपरीत नहीं, बल्कि अपनी सत्ता के आंतरिक विधान के विपरीत कार्य करते हैं; उस विशेष सत्य के विपरीत जिसे हमारी चेतना की सब क्रियाओं और हमारे शरीर के सब कार्यों को संचालित करना चाहिये। आंतरिक विधान, सत्ता का सत्य है प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान भागवत उपस्थिति, उसे ही हमारे जीवन का स्वामी तथा पथ-प्रदर्शक होना चाहिये।

जब हम इस आंतरिक विधान को सुनने की आदत डाल लेते हैं, जब हम उसकी आज्ञा का पालन करते हैं, उसका अनुसरण करते हैं, यह कोशिश करते हैं कि वह हमारे जीवन का अधिकाधिक पथ-प्रदर्शन करे, तो हम अपने चारों ओर सत्य का, शांति का, सामंजस्य का वातावरण पैदा कर लेते हैं, जो स्वाभाविक रूप से परिस्थितियों और रूपों पर प्रतिक्रिया करता है, अर्थात् उस वातावरण पर जिसमें हम रहते हैं। जब हम न्यायपरता, सत्य, सामंजस्य, करुणा, समझदारी, संपूर्ण सद्भावना की सत्ता बन जाते हैं तो यह आंतरिक मनोभाव जितना सत्यनिष्ठ और संपूर्ण होगा उतना ही अधिक बाहरी परिस्थितियों पर प्रतिक्रिया करेगा—यह जरूरी नहीं है कि वह जीवन की कठिनाइयों को कम कर दे, लेकिन वह इन कठिनाइयों को एक नया अर्थ दे देता है और जिसके कारण तुम उनका सामना एक नयी शक्ति और नये ज्ञान से करते हो। जब कि मनुष्य, वह मनुष्य जो अपने आवेगों का अनुसरण करता है, जो अपनी कामनाओं की आज्ञा मानता है, जिसे धर्मशंका बहुत कम परेशान करती है, जो पूर्ण कटुता में जीना शुरू करता है, जो अपने जीवन का दूसरों के ऊपर जो प्रभाव हो सकता है और अपने कार्यों के कम-ज्यादा अशुभ परिणामों की परवाह नहीं करता, ऐसा व्यक्ति अपने लिये एक कुरूपता का, स्वार्थपरता का, संघर्ष का, दुर्भावना का वातावरण उत्पन्न कर देता है जो अनिवार्य रूप से उसकी चेतना पर अधिकाधिक कार्य करने लगता है और उसके जीवन में एक कटुता भर देता है, आखिर जीवन एक अविरत यातना बन जाता है।

यह मानी हुई बात है कि इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसा आदमी जो कुछ आरंभ करेगा उसमें सफल न होगा, कि वह जो चाहेगा उसे प्राप्त न कर सकेगा। ये बाहरी लाभ अदृश्य न होंगे, बशर्ते कि सत्ता की गहराई में सचाई की एक चिंगारी बनी रहे।

अगर तुम किसी बुरे आदमी को अभागा और दुःखी होते देखो तो तुम्हें तुरंत उसका आदर करना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि आंतरिक सचाई की लौ पूरी तरह बुझी नहीं है और कोई चीज उसके बुरे कर्मों पर अब भी प्रतिक्रिया करती है।

अंत में, यह हमें उस कथन तक ले जाता है कि हमें कभी, कभी भी आभासों के आधार पर मूल्यांकन न करना चाहिये और बाहरी परिस्थितियों के आधार पर लिये गये तुम्हारे सभी निर्णय और मूल्यांकन हमेशा, अनिवार्य रूप से गलत मूल्यांकन होंगे।

सत्य की झांकी पाने के लिये हमें अपनी चेतना में कम-से-कम एक कदम पीछे हटना चाहिये, अपनी सत्ता में कुछ गभीरता के साथ प्रवेश करना चाहिये, और आभासों के पीछे शक्तियों की लीला को देखने का प्रयास करना चाहिये और शक्तियों की लीला के पीछे दिव्य उपस्थिति को देखने का प्रयास करना चाहिये।

२५ जुलाई १९५८ —श्रीमां

'गैर्वाणी' :

हृद्देशं प्रविष्टः . . .

(संस्मरणम्)

तेन्‌जिङ् दिवङ्गतः इति वाक्यं क्षुरवत् हृदयं प्रविष्टम्। यद्यपि नासीत् तस्य गमनम् अप्रत्याशितं किन्तु एतादृशं कल्पनातीतं गमनमासीत् प्रहारः एव। सम्पूर्णशरीरं मे कम्पितं, मुखं च तथा कषायितं यत् चायपानेऽपि अरुचिः जाता। बलादश्रूणि संयतानि किन्तु हृद्भावान् संयन्तुम् असमर्था . . .

प्रातःराशस्य सम्मुखे उपविष्टापि अहं नासं तत्र। चलचित्रवत् मम मनःपटे सुखदातीतं प्रादुरभूत् . . .

तदानीम् अहमासम् श्रीअरविन्दान्ताराष्ट्रियशिक्षाकेन्द्रे विद्यार्थिनी। सार्धनववादने घण्टा वादिता . . . शरसमूहवत् छात्रच्छात्राः कक्षेभ्यः निर्गत्य विद्यालयस्योपवने समागताः। प्रतिदिनमहमेतं विशेषबालकम् अपश्यम्। तिब्बतीयः सः अनायासं मां सर्वदा आकर्षत्। सर्वदैव च अचिन्तयं यत् तिब्बतीयाः न भवन्ति रूपवन्तः किन्तु तेषां मुखे व्याप्तं किमपि शैशवं तान् सर्वदा प्रियान् करोति।

उपनव-वर्षीयः तेन्‌जिङ् मम आकर्षककेन्द्रमासीत्—हृष्ट-पुष्टः, दिवानक्तम् उच्चैः हसन् वस्तुतः सः सर्वेषां नेत्रतारावर्तत। विशेषेण तस्य चञ्चलता, तस्य ऊर्जस्विता तं प्रियतरम् अकुरुताम्। परमप्रसन्नतायाः मूर्तरूपमासीत् सः। विद्यालये पञ्चदशकलात्मके मध्यान्तरे सः कदाचित् मित्रैः सह अखेलत्, कदाचित् एकलः एव इतस्ततः अधावत् कदाचिच्च घासे अलुठत्! सङ्क्षेपेण पञ्चदशकलासु सः तावत् अखेलत् यत् सर्वथा आरक्तकपोलः एव वर्गं प्रत्यागच्छत्।

आरोग्यस्य पर्यायः सः मृत्युना सह वर्षत्रयं द्वन्द्वयुद्धं कृत्वा जीवनस्य ऊनविंशति-वसन्तान् अपि न द्रक्ष्यति इति न कदापि केनापि चिन्तितमासीत्!!

ग्रीष्मकालेन सन्तप्ता, अन्यमनस्का इव सार्धैकवादने विद्यालयं प्राप्य अपश्यं यत् पूर्णमनोयोगेन तेन्‌जिङ् स्वकर्मणि लीनः। कस्मिन् खेले आत्मरतम् इमं ग्रीष्मं नैव सन्तापयति इति चिन्तयन्ती सौत्सुक्यं पृष्ठतः गत्वा तम् अपश्यम्। "अहो! गणितप्रश्नान् समादधाति!!" मदीयाम् उपस्थितिम् अनुभूय, स्मितैः आदानप्रदाने कृत्वा सः पुनरपि गणिते आकण्ठलीनः अभूत्! सहज-सङ्क्रामक-आनन्देन इव मे सम्पूर्णा खिन्नता तिरोहिता, हठात् तप्तवायुः मह्यं शीतलतां प्राददात्, अहमपि प्रसन्नमनाः कठिनतमविषये गणिते निमग्ना।

एवमेव बहुशः बहुविधं च कार्यं मौनम् अशिक्षयत् मे बालगुरुः। वस्तुतः आसीत् सः आजीवनम् अदम्योत्साहस्य, बलस्य, अक्लान्तपरिश्रमस्य अक्षुण्णानन्दस्य च साक्षात् प्रतिमा।

धरित्री निजधुर्याम् अघूर्णत। तेन्जिङ् दिवारात्रि सर्वक्षेत्रेषु विकासम् अलभत। वयसा मम तुलनायां शिशुरपि सः अधुना मत्तः प्रांशुतरः जातः। एतेन अनायासम् आवयोः आयुर्भेदः तिरोहितः, समवयस्कः इव सः मया सह व्यवाहरत्।

किशोरावस्थां प्राप्यापि तेन्जिङ् निजशिशुभावं न अजहात्। बालस्य निश्चिन्तता, निश्छलः हासः, प्रत्येकक्षेत्रे ज्ञानार्थं तीव्रपिपासा—सर्वे एव गुणाः पूर्ववत् तस्य चरित्रे कैशोरेऽपि हीरकवत् प्राकाशन्त। अधुनापि समानोत्साहेन गणितप्रश्नान् समाधदधानः सुमन्दम् अगायत्। प्रतिपलं मनोयोगेन यस्मिन् कस्मिन्नपि कार्ये संलग्नः सः अतिप्रियः अदृश्यत। ईश्वरेण तस्मै तथा विचक्षणौ हस्तौ प्रदत्तौ यत् तस्य स्पर्शेन लौहमपि स्वर्णम् अभूत्।

सौभाग्येन तदानीमहमपि आसं विद्यार्थिनी। वर्षमेकञ्च समाने एव विभागे आवाम् अपठाव। ममार्थे सः सुवर्णावसरः अभवत्। तस्य प्रत्येककार्यमहं साश्चर्यं न केवलमपश्यम् अपि तु निजजीवनेऽपि यत्किञ्चित् चरितार्थयितुम् अचेष्टे। सर्वदा सः मया निज-गुरुपदे प्रतिष्ठापितः किन्तु किं निजबालगुरवे उचित-दक्षिणा दत्ता ??

आसीत् तदप्रत्याशितं दिनम्। नीरसः अवर्तत नः विभागः, तेन्जिङ् नैव दृश्यते स्म। परं ज्ञातं यद् रोगाक्रान्तः सः विद्यालयं नागतः। तस्य छात्रस्य अनुपस्थितिः विभागस्य सम्पूर्णां प्राणशक्तिं हरिष्यति इति एतत् अस्माभिः तस्य अभावेनैव अभिज्ञातम्।

न मे मनः कथमपि एतत् तथ्यं स्वीकर्तुम् अशक्नोत् यतो हि रोगी इति शब्दः तेन्जिङ्-अर्थे हास्यास्पदं प्रतीयते स्म। तदा केन परिकल्पितमपि यत् कुटिलविधिना क्षिप्तः एषः प्रथमः अक्षः आसीत्।

दिनद्वयात् परं पुनरपि स्निग्धहासपूतं तत् वदनं वीक्ष्य वयं सर्वेऽपि अतिहृष्टाः, अस्माकं विभागः पुनरेकदा आनन्देन मुखरितः। किन्तु, कतिदिनानामर्थे ? पुनरपि चिकित्सालयं गते तस्मिन् सर्वं निष्प्राणं जातम्। सम्प्रति अधिककालं सोऽनुपस्थितः अभवत्। यथा अन्धकारः प्रकाशस्य, दुःखकालः सुखकालस्य च सततस्मरणं कारयति तथा खलु तेन्जिङः अनुपस्थितिः अस्मान् तस्य उपस्थित्याः यथार्थमूल्यम्-बोधयत्।

केन व्याधिना ग्रस्तः तेन्जिङ् इति प्रश्नस्य निश्चितं निदानं न कोऽपि चिकित्सकः कर्तुं पारयति स्म। अवकाशात् परं नूतनसत्रे आरब्धेऽपि यदा न दृष्टः सः तदा श्रुतं यत् तिब्बतदेशे केनापि वैद्येन उपचर्यमाणः तत्रैव आस्ते।

एकदा विद्यालयात् निर्गच्छन्त्याः मम सर्वथा सम्मुखम् आगत्य कोऽपि अतिष्ठत्। पलं परिचेतुम्-समर्था। किन्तु अचिरं सः परिचितः कण्ठस्वरः, बहुकालात् अश्रुतः सः कलकलहासः मां किङ्कर्तव्य-विमूढामकरोत्। एषः तु अस्माकं तेन्जिङ् ! "किम् जातम् ?" इति अनायासं मुखात् शब्दाः निर्गताः।

स एव अट्टहासः ! सा एव निश्चिन्तता !! सोऽवदत्—"अहो, आर्ये ! पूर्णतया नीरोगोऽहम् अधुना अचिरमेव पूर्ववत् स्थूलो भविष्यामि।" न जाने कया आशङ्कया मनः मे प्रकम्पितम्। हृदयं मे प्रार्थयत—"हे भगवन् ! सत्यं स्यात् अस्य वचनम्।"

न मे वाणी ईश्वरस्य कर्णकुहरं प्राप्ता। तस्य शरीरं क्षीयते स्म, तदापि न पलमपि तस्य मुखस्य प्रसन्नता क्षीणा, पूर्णमनोयोगेन सर्वकर्माणि अपि क्रियमाणानि आसन्। हन्त ! अन्ते चिकित्सालयं गन्तव्यम् एव अभवत् तेन।

यदापि तं मेलितुं चिकित्सालयमगच्छं समानवाक्येन मे स्वागतमकरोत् सः—"आर्ये! इमं विहारं शीघ्रमेव समाप्य अचिरं विद्यालयमागत्य त्वां पूर्ववत् क्षोभयिष्यामि!"

किन्तु किं न अजानात् तस्य अन्तस्तलं इदं तथ्यं यत् अधुना सः मां क्षोभयितुं न कदापि विद्यालयं प्रत्यागमिष्यति ? अपि तेन मृत्योः पदरवः बहुपूर्वम् एव न श्रुतः आसीत् ? नो चेत् हर्षानन्दयोः प्रतिकृतिः सः तिब्बतीयः किशोरः अध्यापकैः सह सर्वदा मृत्युविषयिणीं चर्चां कुतः अकरोत् ?

दिनानि व्यतीयन्ते स्म। कदाचित् चिन्तयामि यत् मनुष्यः अस्ति धरित्र्याः कृतघ्नतमः प्राणी। चिकित्सालयं मे गमनं विरलात् विरलतरम् अभवत्। यस्य बालकस्य अभावः मां प्रतिपलं विषण्णामकरोत् तमेवाहं गच्छता कालेन प्रायशः व्यस्मरमेव। अन्यव्यापारेषु संलग्नाहं निजपथप्रदर्शकेन विनापि जीवनमार्गे सामान्यरीत्या असरम्।

आम्, कदाचित् प्रस्फुटत् पुष्पम्, हसन् बालः, असीमसागरः वा मामनायासं तत् मुखमस्मारयत्। तेषु क्षणेषु अतीतेऽवसम्...।

एकस्मात् परमेकम्... त्रीणि वर्षाणि विगतानि। यदा कदापि चिकित्सालयं गता तस्य वदनम् प्रसन्नमेव अलक्षयम्।

तस्मिन् दिने हठात् समाचारः प्राप्तः "तेन्जिङ्ः अवस्था अतिगभीरा।" इच्छुकायाः अपि मे गमनाय साहसं नाभवत्। गृहे स्थित्वा तस्य स्वास्थ्याय प्रार्थितवती। यमदूतः उपस्थितः तस्य सम्मुखे इति तेन स्वयमपि अनुभूतमासीत्। कीदृश्या असह्यवेदनया आक्रान्तः स्यात् सः यदन्ते चिकित्सकदलमकथयत्— "ददातु मह्यमधुना चिरनिद्रायै सूचीवेधम्।"

कर्णकुहरे घनाघातः इवासीत् वाक्यमिदम्—"तेन्जिङ् दिवङ्गतः।" प्रातःराशम् अपसार्य चिकित्सालयं धाविता। कस्मिन्नपि कोणे सः चिरपरिचितः अट्टहासः पुनरपि गुञ्जिष्यति इति हृदयं मे वृथा प्रतीक्षते स्म, अस्मिन् वारे सः जीवनस्य अन्तिमम् उच्चहासं कृत्वा चिरनिद्रालीनः !!

परं श्रुतं यत् सः बालवीरः अन्तिमकालेऽपि प्रसन्नवदनः आसीत्। निजमातुः आगमनप्रतीक्षामकरोत् तस्य शरीरम्। आगतां तां दृष्ट्वा एव तस्याननं प्रोद्भासितम्—पश्य मातः! सः "लामा" मां नेतुमागतः। गच्छामि तावत्, मातः। कुतः क्रन्दसि ? तव भौतिकक्रोडं त्यक्त्वा हृत्क्रोडमागच्छामि अहम् इति आसन् तस्य अन्तिमवचनानि।

सम्भवतः यमराजोऽपि हतबुद्धिः स्यात् यतो हि अस्माकं तेन्जिङ् तु चिरकालाय नः हृद्देशं प्रविष्टः।

हृदय में आकर बस गया . . .

(संस्मरण)

"तेनजिंग नहीं रहा" का नश्तर किसी ने हृदय के आर-पार कर दिया, सच पूछा जाये तो उसका चला जाना इतना अप्रत्याशित न था लेकिन यूं खटका दबा और बिजली गुल हो गयी यह भी कल्पनातीत था। सारा शरीर झनझना उठा और कनपटियां सांय-सांय करने लगीं। मुंह इतना कड़वा गया कि चाय का घूंट उगलना पड़ा। किसी तरह आंखों को तो जब्त किया लेकिन हृदय पर आजतक कौन अर्गला लगा पाया है भला ?

नाश्ते के सामने बैठी हुई भी मैं वहां नहीं थी। हृदय रह-रह कर धिक्कार रहा था। निर्ममता से

उसने मुझे पांच-छः साल के अतीत में जा पटका। तानों के चाबुक मार-मार कर पूछने लगा, जिसने तुझे जीवन का सबसे सुन्दर पहलू दिखाया उसका ऋण कभी चुकाने की कोशिश की तूने ?

सुखद अतीत का चलचित्र आंखों के सामने से गुजर रहा है। हमारे स्कूल में साढ़े नौ बजे की छुट्टी की घण्टी बजती है और बच्चों का टिड्डी-दल धड़धड़ाता हुआ सीढ़ियां उतर जाता है, उनमें से एक था पहली ही नजर में आंखों में समा जानेवाला चेहरा। तिब्बती, चीनी बच्चों की लुनाई उनके चेहरे से टपकती मासूमियत होती है, तीखे नैन-नक्शों से सर्वथा शून्य चेहरा भी बरबस आकर्षित करता है और फिर उस विशेष चेहरे पर चुलबुलेपन और मासूमियत का ऐसा ताना-बाना बुना हुआ था कि एक बार देख लेने पर भुलाये न भूले।

उसका हृष्ट-पुष्ट शरीर, गोल-मटोल हंसता-खिलखिलाता आनन, मिचमिची आंखें और उनमें छिपा शैतानी का पिटारा, ये सब चीजें उस नन्हें तेनजिंग को एक अपूर्व व्यक्तित्व प्रदान करती थीं। मस्तमौला शब्द का जीता-जागता रूप था वह। उन पन्द्रह मिनटों में कभी वह लुका-छिपी का खेल खेलता तो कभी दोस्त न मिलने पर आसपास की दुनिया-जहान से बेखबर घास पर लोटता, कभी इस छोर से भागकर दूसरे छोर की दीवार को छू आता, साथ में उसके काल्पनिक मित्र होते जो सबके सब हमेशा हार जाते। उन पन्द्रह मिनटों में वह इतना ऊधम मचा लेता कि एकदम से लाल भभूका बन कर लौटता।

जो स्वास्थ्य का पर्याय माना जाता था उस तेनजिंग के लिये क्या किसी ने सोचा भी था कि तीन वर्षों तक मौत से गुत्थम-गुत्था करता हुआ अपने जीवन के १९ वसन्त देखने से भी पहले अखाड़ा छोड़कर चल देगा ?

एक दिन चिलचिलाती धूप में भुनभुनाती, कुढ़ती विद्यालय पहुंची। देखा, तेनजिंग बड़े मनोयोग से दुनिया-जहान से बेखबर काम में लगा है। उत्सुकता जागी, यह कौन-सा खेल है जिसमें यह आकण्ठ डूबा है। पंजों के बल जाकर पीछे से झांका तो दिमाग सहसा ठहर गया, "वह गणित के सवाल हल कर रहा था !!" उसे मेरे आने का आभास हुआ तो कापी से नजर उठाये बिना ही गाने की एक हल्की-सी धुन छेड़ दी। उसकी जिन्दादिली ने मेरी खिन्नता को खदेड़ दिया, दोपहर की लू मेरे लिये ठंडी हवा बन गयी और मैं भी पास की मेज पर बैठकर हंसी-खुशी गणित में लग गयी।

इसी तरह बिना जाने क्या-क्या नहीं सिखा दिया मुझे, मेरे शिशु-गुरु ने। सच पूछो तो वह हाड़-मांस का नहीं, अदम्य उत्साह और साहस, अथक परिश्रम, अक्षुण्ण आनन्द का पुतला था, मरते दम तक उसने इन चीजों का साथ नहीं छोड़ा।

धरती अपनी धुरी पर घूमती चली गयी। तेनजिंग हर क्षेत्र में दिन दूना रात चौगुना आगे बढ़ने लगा। उमर में मेरे आगे पिद्दी-सा, अब मेरी लंबाई को लांघ चुका था। इससे सबसे बड़ी सुविधा यह हो गयी कि अनायास ही मेरा उसके साथ बराबरी का नाता जुड़ गया। उम्र का विकास कितने ही परिवर्तनों को ले आता है। तेनजिंग इस क्षेत्र में भी अनोखा था, शिशु का सहज आनंद, वह बचपन की बेफिक्री, निश्छल हंसी, हर चीज को जानने-समझने की तीव्र उत्कण्ठा आदि बहुमूल्य हीरे उसके व्यक्तित्व में पूर्ववत् निरन्तर झिलमिलाते रहते। अब भी वह अपनी उसी मस्ती के साथ गणित के सवालों का हल निकालते-निकालते गुनगुनाता, हर क्षण किसी-न-किसी काम में उलझा रहता। भगवान् ने भी उसमें ऐसे जादुई हाथ गढ़े थे कि लोहे को छू ले तो वह भी सोना बन जाये, जिस विषय को ले उसी की गहराई में धंसता चला जाये। सौभाग्य से वह मेरा भी विद्यार्थी-काल था, संयोग से

साल भर हम दोनों एक ही विभाग में रहे। इसने सोने में सुहागे का काम किया। उसकी हर गतिविधि को मैं अचरजभरी निगाहों से देखती और स्वभावतः केवल देखती भर नहीं उसके गुणों को अपने जीवन में भी उतारने का यत्किंचित् प्रयत्न करती। वह अनजाने ही अंत तक अपने गुरु-पद पर आसीन रहा लेकिन क्या मैं अपने शिशु-गुरु को उसके योग्य गुरु-दक्षिणा दे पायी कभी ?

वह अप्रत्याशित दिन था। सारा विभाग ऐसा दीख रहा था मानों किसी ने उसकी सारी जीवनी-शक्ति खींच ली हो, उस दिन तेनजिंग कहीं न दिखायी दे रहा था, सबकी जबान पर एक ही प्रश्न था। आखिर पता चला कि उसकी तबीयत कुछ नरम है।

सहसा विश्वास न हुआ मुझे। तेनजिंग उन गिने-चुनों में से था जिनके लिये 'बीमार' शब्द बड़ा हास्यास्पद मालूम होता है। किसको क्या पता था कि यह कुटिल नियति का फेंका हुआ पहला पासा है।

दो-चार दिनों के बाद फिर वही हंसी में नहाया हुआ चेहरा दिखायी दिया। मानों उन कमरों की रगों में नया खून आ गया। इधर-से-उधर उसकी वही चहल-पहल। लेकिन कितने दिनों के लिये ? दुबारा सब कुछ निष्प्राण हो गया। तेनजिंग फिर से बीमार पड़ा और इस बार अधिक समय के लिये। कहते हैं जैसे अंधेरा रोशनी की, दुःख सुख की याद कराता है उसी तरह किसी की अनुपस्थिति ही पल-पल हृदय को कुरेदकर उसकी उपस्थिति का मूल्य बतलाती है।

तेनजिंग को आखिर बीमारी क्या हो सकती है ? पूछते सब थे पर उत्तर किसी के पास न था। शायद नियति के पास भी नहीं। छुट्टियों के बाद नया सत्र आरंभ हुआ तो वह दिखायी न दिया, मालूम हुआ कि किसी तिब्बती वैद्य की दवाई से वह स्वस्थ हो रहा है।

आखिर एक दिन स्कूल से निकली तो देखा दूर से कोई बड़े जोरों से दोनों हाथों को हवा में हिलाता हुआ मेरी ओर बढ़ा चला आ रहा है। पहचानने की कोशिश में ललाट पर सिलवटें पड़ गयीं, अचानक उसकी शरारती आंखें मुस्करायीं, कंठस्वर फूटा। मुझे लगा, मैं धरती में धंस गयी, यह तो तेनजिंग है। उस एक समय के हृष्ट-पुष्ट शरीर को हड्डियों का ढांचा भी नहीं कहा जा सकता था—"यह क्या तेनजिंग" न चाहते हुए भी कुछ ऐसे ही शब्द बरबस निकल पड़े।

वही ठहाका, वही अनोखा बेफिक्री का अन्दाज, बोला, "अरे, अब मैं बिलकुल स्वस्थ हो गया हूं, अब अच्छी तरह खा-पीकर पहले-सा मोटा-ताजा हो जाऊंगा।" हृदय में एक घूंसा-सा लगा। मैंने मन-ही-मन हाथ जोड़कर भगवान् से याचना की कि उसकी बात सच निकले। शायद मेरी आवाज वहांतक पहुंची नहीं। तेनजिंग का शरीर बराबर बीमार रहने लगा लेकिन क्या मजाल जो उसके चेहरे की प्रसन्नता पर हल्का-सा धब्बा भी लग पाये, इस रह-रह कर गुनगुनाते, हर क्षण किसी-न-किसी काम में तन्मय रोगी को देखकर दिनोंदिन बढ़ता हुआ रोग भी बीच-बीच में ठिठक जाता था। उसे बार-बार मुखौटे बदलने पड़ते थे ताकि कोई पहचान न ले। तेनजिंग का शरीर गलता जा रहा था। मैं जब कभी उससे मिलने जाती उस ढांचे की पृष्ठभूमि में वही सदाबहार तेनजिंग स्वागत करता और कहता—"अभी और कुछ दिनों तक पिकनिक मनाऊंगा।"

लेकिन क्या उसका अन्तस्तल इस बात को नहीं जानता था कि अब वह यहीं से महाप्रस्थान करेगा ? क्या उसने बहुत पहले ही मृत्यु के दबे हुए पदचाप नहीं सुन लिये थे ! नहीं तो जीवन के हर्ष और आनंद से लदा-फंदा वह तिब्बती गुड्डा अपने अध्यापक से हमेशा मृत्यु के बारे में जानने-समझने के लिये क्यों तत्पर रहता था ? स्वयं अध्यापक कभी-कभी उसकी उम्र को देखते हुए पलटकर प्रश्न

कर बैठते कि आखिर उसे इस विषय में इतनी दिलचस्पी क्यों है, उसका बस एक ही उत्तर होता कि वह मृत्यु को जानना चाहता है।

समय बीतता गया। कभी-कभी सोचती हूं, मनुष्य बड़ा कृतघ्न प्राणी है। धीरे-धीरे मेरा तेनजिंग को देखने के लिये अस्पताल जाना कम होता गया। जिसका शुरू-शुरू में अभाव एकदम से हर पल को उदास बना देता था उसी को मैं समय के साथ धीरे-धीरे बिसरा-सी बैठी। दूसरे कामों में संलग्न, उस पथप्रदर्शक के बिना भी मैं सामान्य रूप से जीवन के रास्ते पर चल रही थी।

कभी-कभी अचानक किसी खिलखिलाते बच्चे, असीम सागर, प्रस्फुटित पुष्प को देख वह चेहरा बिजली की तरह कौंध जाता और मुझसे अतीत के जलों में डुबकी लगवा देता।

एक के बाद एक तीन वर्ष चढ़ गये। मैं भूली-भटकी कभी-कदास अस्पताल की तरफ जा निकलती तो उसी मूर्त रूप प्रसन्नता को पाती।

उस दिन अचानक खबर मिली, तेनजिंग की हालत गंभीर है, बोतलों पर बोतलें खून चढ़ाया जा रहा है। इच्छा हुई, दौड़कर उसके पास चली जाऊं। लेकिन नहीं, ऐसी कष्टदायक स्थिति में मेरा उसके पास जाना संभव न होगा। बाद में यह सुनकर कि उस वक्त भी वह मुस्कुरा रहा था, अपनी नादानी पर पछतावा हुआ कि जिसे भगवान् ने ठोस प्रफुल्लता से गढ़ा है उसमें मैंने विषाद का सूत्र कहां से देख लिया।

मेरे ही क्या, कइयों के वे रात-दिन उसके मंगल की प्रार्थना में बीते। भगवान् के यहां उसका अंतिम परचा फट चुका है। उसे गोंद लगाकर चिपकाने का डॉक्टरी प्रयास व्यर्थ है। यह अनुभव करते ही तेनजिंग के मुंह से निकला, "डॉक्टर, अब मुझे कोई इंजेक्शन देकर शांत कर दो।"

कितनी असह्य वेदना, कितनी असीम पीड़ा होगी जिसने तेनजिंग के मुंह से ये शब्द निकलवाये!!

१८ साल के इस बच्चे में एक दार्शनिक भी विकसित हो चुका था, अस्पताल में बैठा-बैठा वह दर्शन, विज्ञान, गणित, खेल-कूद और न जाने कितने विषयों की पुस्तकें पढ़ा करता था, शायद नयी सृष्टि के विधाता अपने उस बहुमूल्य हीरे को बखूबी काट-छांटकर अद्वितीय रत्न बनाना चाहते थे। दूसरी तरफ वैमाता को उनका यह दखल मंजूर न था।

कान में आवाज आयी, "तेनजिंग नहीं रहा"। मैं नाश्ते को परे हटाकर दौड़ी अस्पताल की ओर। अस्पताल में घुसते ही हृदय के आंख-कान इस तरह चौकन्ने हो उठे मानों अभी कहीं से वही ठहाका लगाता, मिचमिचाती आंखोंवाला मासूम चेहरा प्रकट होगा।

लेकिन वह अपना अन्तिम जोरदार ठहाका मार चुका था।

बरामदे से निकलते ही सामने पड़ गया तेनजिंग का अभिन्न मित्र निर्मल। मैंने नीची निगाहें किये बचकर निकल जाना चाहा लेकिन उसने मेरे कंधे पर हाथ रखकर रोक लिया—आंखें चार हुईं तो निर्मल के चेहरे को एकदम और तरह का पाया। वह बोल उठा—"तुम शोक से भरी हो, लेकिन जानती हो जिसकी मृत्यु का शोक कर रही हो खुद उसने हंसते-हंसते प्रस्थान किया है।"

आंखें उठाकर देखा, निर्मल की आंखों में एक अपूर्व ज्योति चमक रही थी, उसकी आवाज मानों किसी दूसरे लोक से आयी—मैं पिछले एक हफ्ते दिन-रात उसके साथ रहा। उसने इन दिनों में मुझे जीवन का अच्छा पाठ पढ़ा दिया। जानती हो चिकित्सकों ने दो दिन पहले ही उसे कुछ घण्टों का मेहमान बताया था लेकिन उसने दो दिनों तक प्राण शरीर में अटकाये रखे क्योंकि उसे किसी का इन्तजार था। कल दोपहर को उसकी मां आयीं। उन्हें देखते ही उसके प्राण की लौ एकदम भड़क उठी,

बेहोशी से निकला, मां को पास बिठाकर कहा—"मां एक बार मुझे चूम लो।" सुबकती मां ने बेटे की अंतिम इच्छा पूरी की, और हम सबने देखा वह अचानक दुःख-दर्द से मुक्त हो गया, एक अलौकिक आनन्द उसके मुखमण्डल पर उतर आया, उसकी स्पष्ट वाणी फूट पड़ी—"मां देखो, देखो मां, वह लामा मुझे अपने पास बुला रहा है, वही मेरा प्रिय लामा जो पिछली अक्तूबर में चला गया था। सुना तुमने ? कह रहा है जल्दी आओ, मैं तुम्हारा इन्तजार कर रहा हूं। अब मैं चला मां।" और उसके बाद वह उसी शांत तन्द्रा में डूब गया।

निर्मल की बातें सुन कुछ स्वस्थ मन हो मैं तेनजिंग के कमरे की ओर बढ़ी, भीड़ में निश्चिंत होकर लेटे हुए शरीर को देखकर स्पष्ट था कि अपनी दीर्घ यात्रा पर कूच करने से पहले अंतिम बार आंखें खोल, सबको नयन भर देखकर अपने अंतिम स्मित में उसने कहा होगा—"ये उदास रूखे चेहरे क्यों ? वह देखो यमराज मुझसे भेंट करने आये हैं। उनसे मिलकर अभी आता हूं।"

और सचमुच यमराज देखते रह गये और हमारा वह चिरकिशोर तेनजिंग हमेशा, हमेशा के लिये हम सबके हृदयों में आकर बस गया।

—वन्दना

तुम किसी को कोई अच्छी सलाह तबतक नहीं दे सकते जबतक स्वयं अपने-आपको न दे लो और उसके अनुसार आचरण न करो।

—श्रीमां

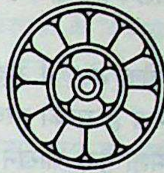
A new world, based on Truth and refusing the old slavery to falsehood, wants to take birth.

In all countries there are people who know it, at least feel it.

To them we call.

"Will you collaborate?"

1972 The Mother



प्रार्थना और ध्यान

१२ जून १९१४

हे मेरे मधुर स्वामी, शाश्वत दीप्ति, मैं तेरे साथ केवल नीरवता और शांति में ही यह कहते हुए युक्त हो सकती हूं कि प्रत्येक ब्यौरे में और समग्र में तेरी इच्छा पूरी हो। अपने राज्य पर अधिकार कर ले, तेरे विरुद्ध जो भी विद्रोह करे उसका दमन कर दे, उन आत्माओं का उपचार कर जो तुझे नहीं जानतीं और उन बुद्धियों को स्वस्थ कर दे जो तेरे आगे झुकना और तुझे समर्पण नहीं करना चाहतीं। हमारी सुप्त ऊर्जाओं को जगा, हमारे साहस को उत्तेजित कर, हे प्रभो, हमें प्रबुद्ध कर और मार्ग दिखा।

मेरा हृदय परम शांति से उमड़ रहा है, मेरा विचार निश्चल और नीरव है।

जो कुछ है, जो कुछ होगा और जो कुछ नहीं है, सबके मर्म में तेरी दिव्य, अपरिवर्तनशील मुस्कान है।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

अगस्त

१. बस एक ही चीज महत्त्वपूर्ण है, वह है भगवान् को पाना।
हर एक के लिये और समस्त जगत् के लिये हर चीज उपयोगी हो सकती है यदि वह भगवान् को पाने में सहायक हो।

२. तुम्हें जो चीज जाननी चाहिये वह है, ठीक तरह से यह जानना कि तुम जीवन में क्या करना चाहते हो। इसे सीखने में जो समय लगता है उसकी परवाह नहीं करो, क्योंकि जो लोग सत्य के अनुसार जीना चाहते हैं, उनके लिये हमेशा कुछ सीखने के लिये, कुछ प्रगति के लिये होता ही है।

३. हम सुखी होने के लिये धरती पर नहीं हैं क्योंकि पार्थिव जीवन की वर्तमान दशा में सुख असंभव है। हम धरती पर भगवान् को पाने और चरितार्थ करने के लिये हैं क्योंकि केवल दिव्य चेतना ही सच्चा सुख दे सकती है।

४. भौतिक स्वास्थ्य की तरह मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य भी है। जैसे शरीर और क्रिया-कलाप की सुन्दरता होती है उसी तरह संवेदनों में भी सुन्दरता और सामंजस्य होता है।

५. सच्ची बुद्धि पाने के लिये अपने मन से बाहर निकलो।
सच्ची अनुभूति पाने के लिये संवेदनों से बाहर निकलो।
सच्ची क्रियाशीलता पाने के लिये अपनी भावुकता से बाहर निकलो।

६. कोषाणुओं की शुद्धि कामनाओं पर विजय के बिना नहीं पायी जा सकती। अच्छे स्वास्थ्य के लिये यही सच्ची स्थिति है।

७. भौतिक में परम सत्ता का आनन्द भगवान् के प्रति कृतज्ञता की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति है।

८. प्राण उत्साह देता है लेकिन स्वभावतः प्राण अस्थिर होता है और हमेशा नयी-नयी चीजों की मांग करता है। जबतक कि वह परिवर्तित होकर भगवान् का आज्ञाकारी सेवक न बन जाये, चीजें हमेशा घटती-बढ़ती रहती हैं।

९. अनुभूति तार्किक मन से बहुत आगे तक जाती है। स्पष्ट है कि तार्किक मन को भगवान् तक पहुंचना कठिन लगता है लेकिन सरल हृदय उनसे लगभग बिना किसी प्रयास के नाता जोड़ सकता है।

१०. पहले मनुष्य को जानना चाहिये और फिर क्रिया करनी चाहिये, जब कि मनुष्य पहले क्रिया करते हैं और फिर अपनी क्रिया द्वारा जानना चाहते हैं।

११. भौतिक मन का एक प्रमुख कार्य है संदेह करना। अगर तुम उस पर कान दो तो वह संदेह के हजारों कारण ढूंढ़ निकालेगा। लेकिन तुम्हें यह जानना चाहिये कि भौतिक मन अज्ञान में काम करता है और पूरी तरह मिथ्यात्व से भरा है।

१२. जो मिथ्या सोचते हैं वे मिथ्यात्व और दुःख-दैन्य में रहेंगे। गलत विचार से निकल आओ और तुम दुःख-कष्ट से बाहर निकल आओगे।

१३. 'सारा संसार भले नष्ट हो जाये लेकिन मेरी सनकें संतुष्ट हों।' अहंकारी मन की यही मनोवृत्ति होती है, वह अपने सिद्धांतों को सबके ऊपर लादना चाहता है।

दिव्य दृष्टि में सिद्धांत और कामनाएं एक और समान चीज हैं : सिद्धांत मन की सनकें हैं उसी तरह जैसे कामनाएं प्राण की सनकें हैं।

१४. क्या कोई मंदिर में गंदे पैरों से प्रवेश करता है ?
उसी तरह, व्यक्ति आत्मा के मन्दिर में दूषित मन के साथ प्रवेश नहीं करता।

१५. मानव सत्ताओं में मानसिक क्रिया-कलापों के विकास के साथ-साथ आत्मवंचना की सूक्ष्मता भी बढ़ती है। वे जितने अधिक बौद्धिक होते हैं उतने अधिक आत्म-वंचना में भोले और साथ-साथ कपटपूर्ण भी होते हैं।

१६. अगर तुम पूरी सचाई के साथ भागवत इच्छा को प्रकट करने के लिये कार्य करते हो तो बिना अपवाद के हर काम निस्वार्थ बन सकता है, परंतु जबतक यह स्थिति न आ जाये तबतक ऐसे काम होते हैं जो भगवान् के साथ संपर्क जोड़ने के लिये ज्यादा अनुकूल होते हैं।

१७. भगवान् चीजों में भी हैं इसलिये उनके साथ सावधानी से व्यवहार करना चाहिये।

१८. काम हाथ में ले लो और श्रद्धा रखो; आवश्यकता के अनुपात में शक्ति आयेगी। तुम्हारी ग्रहणशीलता तुम्हारी श्रद्धा और तुम्हारे विश्वास पर निर्भर है।

१९. जबतक तुम कड़ी मेहनत न करो, तुम शक्ति नहीं पाते क्योंकि उस हालत में तुम्हें उसकी जरूरत नहीं होती और तुम उसके अधिकारी नहीं होते। तुम्हें शक्ति तभी मिलती है जब तुम उसका उपयोग करो।

२०. कुशल हाथ, स्पष्ट दृष्टि, एकाग्र मनोयोग, अथक धैर्य—और तुम जो भी करोगे अच्छा करोगे।

२१. काम में व्यवस्था और सामंजस्य होने चाहियें, जो काम यूं देखने में बिलकुल नगण्य है उसे भी पूर्ण पूर्णता के साथ, सफाई, सुन्दरता, सामंजस्य और सुव्यवस्था के साथ करना चाहिये।

२२. आओ, हम जैसे प्रार्थना करते हैं उसी तरह काम करें क्योंकि वस्तुतः काम भगवान् के प्रति शरीर की उत्तम प्रार्थना है।

२३. उसका संग कभी न करो जो कीचड़ के मार्ग पर हैं क्योंकि तुम्हारे अपने साथी ही तुम्हें कलंक लगायेंगे।

२४. जब तुम अपने-आपको किसी निःस्वार्थ लक्ष्य को चरितार्थ करने के लिये अर्पित करते हो तो यह आशा कभी न करो कि सामान्य लोग तुम्हारी प्रशंसा या तुम्हारा समर्थन करेंगे। इसके विपरीत वे हमेशा तुम्हारे विरुद्ध लड़ेंगे, तुमसे घृणा करेंगे और तुम्हें बुरा-भला कहेंगे।
लेकिन भगवान् तुम्हारे साथ होंगे।

२५. जब तुम सचमुच बदल जाओगे तो तुम्हारे चारों ओर की सब चीजें भी बदल जायेंगी।

२६. तुम्हें सभी तरह की, बाहरी और भीतरी क्रोध, अधीरता और नापसंद की गतिविधियों से पिण्ड छुड़ा लेना चाहिये। अगर चीजें गलत हो जायें या गलत तरीके से की जायें तो तुम बस इतना ही कहो "माताजी जानती हैं" और चुपचाप यथासंभव अच्छे-से-अच्छी तरह, बिना रगड़े-झगड़े के काम करते या कराते चले जाओ।

२७. तिरस्कार और अपमान से ऊपर होना तुम्हें सचमुच महान् बनाता है।

२८. हां, जो अपने अहंकार में रहते हैं वे सतत रूप से एक कुरूप नाटक में जीते हैं। अगर लोग जरा कम स्वार्थी होते तो चीजें जरा कम खराब होतीं।
तबतक हमें इन सब विरोधी परिस्थितियों का सामना धैर्य, सहिष्णुता और समचित्तता के साथ करना चाहिये।

२९. जीवन के प्रत्येक क्षण तुम्हें भागवत कृपा और निजी संतुष्टि के बीच चुनाव की उपस्थिति में खड़ा किया जाता है।

३०. वर दे कि यह घर चैत्य का प्रतीक हो, शाश्वत भागवत 'उपस्थिति' का मंदिर हो।

('श्रीमातृवाणी' खंड १४ से)

किशोर-दल, बढ़ा चरण

अरुण-तरुण स्वदेश के किशोर-दल, बढ़ा चरण।
चरण बढ़े कि ज्योति के अनन्त दीप जल उठे।
स्वतंत्रता-प्रभात में नयी किरण मचल उठे।
नयी सुगन्ध से धरा, गमक उठे सुमन-सुमन।
अरुण-तरुण स्वदेश के किशोर-दल, बढ़ा चरण॥
बढ़ा चरण स्वधर्म पर, स्वकर्म, स्वाभिमान पर।
अडिग, अचल स्वदेश की संभल ज्वलंत आन पर।
अमन्द जगमगा उठे नयी प्रभा भवन-भवन।
अरुण-तरुण स्वदेश के किशोर-दल, बढ़ा चरण॥
नयी तरंग बह उठे अधीर अंग-अंग से।
मुस्कुरा उठे नवीन जिन्दगी उमंग से।
झुके न सिर, रुके न पग, विजय मिले कि वर मरण।
अरुण-तरुण स्वदेश के किशोर-दल, बढ़ा चरण॥

—आरसीप्रसाद सिंह

डॉ० कृष्ण धन घोष : एक परिचय

श्रीअरविन्द के जीवनी लेखकों ने डॉ० कृष्ण धन घोष का नामोल्लेख केवल एक चलताऊ संदर्भ में किया कि डॉ० घोष श्रीअरविन्द के पिता थे और जब उन्होंने यह मिथ्या समाचार सुना कि इंग्लैंड से लौटते समय जहाज के डूबने से श्रीअरविन्द की मृत्यु हो गयी है तो उन्होंने विलाप करते हुए प्राण त्याग दिये। डॉ० घोष के व्यक्तित्व के व्यापक परिचय की आवश्यकता लेखकों ने अनुभव नहीं की। के० आर० श्रीनिवास आयंगर ने गंभीर शोध कर जो जीवनी (Sri Aurobindo : A biography and a history) लिखी है, वह निश्चय ही अद्वितीय है। यह १९४५ में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'श्रीअरविन्द' की आधारभूमि पर लगातार चलते रहे अनुसंधान का परिणाम है। आयंगर ने डॉ० कृष्ण धन घोष के बारे में तीन-चार पृष्ठ लिखकर उनके जीवन का परिचय दिया है लेकिन वह पर्याप्त नहीं

है। सुजाता नाहर ने श्रीमां के जीवन पर जो गंभीर शोध किया है, उसके चतुर्थ खण्ड में डॉ० कृष्ण धन घोष के जीवन पर व्यापकतर प्रकाश पड़ता है लेकिन शोध निरंतर चलनेवाली प्रक्रिया है इसलिये किन्हीं सूचनाओं और निष्कर्षों को अंतिम मान लेना सही नहीं है। हिन्दी पाठकों को डॉ० घोष के जीवन से परिचित कराना ही यहां हमारा उद्देश्य है।

पश्चिम बंगाल का हुगली जिला भारत के पुनर्जागरण में इसलिये स्मरणीय बन गया है कि राजा राममोहन राय और रामकृष्ण परमहंस इसी जिले के भूमि-पुत्र हैं। कोननगर इसी जिले का एक कस्बा है जो कलकत्ता के उत्तर में लगभग पन्द्रह किलोमीटर पर हुगली नदी के पश्चिमी तट पर बसा है। कोननगर के घोष वंश का बंगाल के सामाजिक-राजनैतिक इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान है। डॉ० आयंगर ने लिखा है कि कृष्ण धन घोष का जन्म १८४५ के आसपास इसी वंश में हुआ था। सुजाता नाहर ने निश्चित जन्मतिथि २१ नवम्बर १८४४ दी है और जन्म-स्थान पटना (अब बिहार में) लिखा है। डॉ० आयंगर ने शिशिर कुमार मित्र के हवाले से स्वीकार किया है कि सभी घोष पंजाब से आये थे और योद्धा जाति के थे। सुजाता नाहर ने आठवीं-नवीं शताब्दी से घोषों का वंश-वृक्ष दिया है और एक रोचक कथा इसके साथ जोड़ी है। आदिसुर नाम के एक राजा ने पांच गैर-ब्राह्मण सेवकों के साथ पांच ब्राह्मणों को कन्नौज से बंगाल आमंत्रित किया था जिससे बंगाल में हिन्दू विधि-विधान और संस्कारों की शुद्धता की रक्षा की जा सके। गैर-ब्राह्मणों में एक थे मकरन्द घोष। कोननगर के घोष उन्हीं मकरन्द घोष की संतान हैं। इसी वंश की सोलहवीं पीढ़ी में शिवभद्र हुए जो सोलहवीं शताब्दी में कोननगर में बस गये। मकरन्द घोष से गिनें तो कृष्ण धन घोष चौबीसवीं पीढ़ी में आते हैं।

कृष्ण धन घोष के पिता का नाम कालिप्रसाद घोष था। उनके बारे में अधिक जानकारी नहीं मिलती। यह ज्ञात होता है कि उनको अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान था और वह तीन सौ रुपये महीना वेतन पर ईस्ट इंडिया कम्पनी में नौकर थे। कृष्ण धन घोष की माता कैलाश वासिनी बहुत सुन्दर और धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। कृष्ण धन बारह वर्ष के ही थे कि उनके पिता चल बसे। कैलाश वासिनी अपने पति के देहान्त के अनेक वर्ष बाद बनारस चली गयीं। उनकी विधवा बेटी ब्रजमोहिनी भी उनके साथ रहती थीं। कृष्ण धन घोष हर छह माह के बाद उन दोनों से मिलने बनारस जाते थे। कृष्ण धन के छोटे भाई वामाचरण भागलपुर में जा बसे थे जहां उनको सरकारी नौकरी मिल गयी थी। एक बहन तीनकोडी का विवाह नक्कुमार मित्र से हो गया था। उनके बेटे आशुतोष मित्र की शिक्षा के लिये कृष्ण धन घोष ने पर्याप्त सहायता की। आशुतोष मित्र ने बाद में मुख्य चिकित्सा अधिकारी के रूप में काश्मीर राज्य सेवा के अंतर्गत कार्य किया। उनके कार्य से प्रसन्न होकर काश्मीर के महाराजा प्रताप सिंह ने उनको काश्मीर राज्य का कार्यवाहक मुख्यमंत्री बना दिया था। श्रीअरविन्द जब १९०३ में काश्मीर गये तो अपने चचेरे भाई 'आशुदादा' और उनके परिवार से भी मिले।

श्रीअरविन्द के भाई मनमोहन घोष ने अपने मित्र लॉरेन्स बिनयॉन को एक पत्र में लिखा था कि "मेरे पिता जब लड़के थे तो बहुत निर्धन थे और लगभग पूरी तरह अपने मित्रों की दया पर जीवन-यापन करते थे। केवल उनकी लगभग अतिमानवीय दृढ़ता ही है जिसके द्वारा हमने कुछ सीमा तक खुद को बचाया है।"

कृष्ण धन ने बड़ी हिम्मत से अपने पिता के निधन के दुःख को झेला। उन्होंने १८५८ में कोननगर हाईस्कूल से द्वितीय श्रेणी में एंट्रेन्स परीक्षा पास की। फिर वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के मेडिकल कॉलेज में भर्ती हुए। वहां रहते हुए उनका आकर्षण ब्रह्म समाज की ओर बढ़ा। ब्रह्म समाज के प्रसिद्ध

नेताओं में एक थे राजनारायण बोस। उनकी बड़ी बेटी स्वर्णलता अत्यंत सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्व की थी। कृष्ण धन चतुर्थ वर्ष में ही थे कि उनका विवाह स्वर्णलता से आदि ब्रह्मसमाज के विधि-विधान से संपन्न हुआ। स्वर्णलता उस समय केवल बारह वर्ष की थी। आयंगर के शब्दों में, "यह बंगाल के आन्तरिक जीवन में प्रवाहित दो वास्तविक और शक्तिशाली धाराओं का संबंध था।" राजनारायण बोस का व्यक्तित्व अलग से व्यापक चर्चा की अपेक्षा रखता है लेकिन देवेन्द्र नाथ ठाकुर के ये शब्द उस व्यक्तित्व की गंभीरता का संकेत दे सकते हैं—"राजनारायण बाबू के होठों से जो भी निकलता है, वह देश में बड़ी सनसनी पैदा कर देता है।" राजनारायण बोस को 'भारतीय राष्ट्रवाद का पितामह' कहा जाता है। राजनारायण बोस ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि ब्रह्म समाज के अनुष्ठान के अनुसार मैंने जो सबसे पहला समारोह किया, वह था मिदनापुर में सबसे बड़ी बेटी स्वर्णलता का कृष्ण धन से विवाह। उन्होंने लिखा है कि "समारोह अत्यन्त भव्य था। इसमें देवेन्द्र नाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन मिदनापुर पधारे थे। एक हारमोनियम, जो कलकत्ता में लोकप्रिय हो रहा था, वहां से मंगाया गया था और संगीत के कार्यक्रम में बजाया गया था। वैवाहिक समारोह इतनी तड़क-भड़क और भव्यता से संपन्न हुए थे कि बाद में देवेन्द्र बाबू ने मुझसे कहा था कि राजाओं और राजकुमारों की शादियां भी इसके कहीं निकट नहीं आ सकतीं।"

कृष्ण धन ने १८६४ में कलकत्ता मेडिकल कॉलेज से 'लाइसेंसिएट इन मेडिसिन एंड सर्जरी' (एल. एम. एस.) उपाधि प्राप्त की। उनकी पहली नियुक्ति १६ जून १८६५ को मेडिकल कॉलेज हॉस्पिटल में हाउस फिजिशियन के रूप में हुई। तब कृष्ण धन की आयु बीस वर्ष थी।

अगले वर्ष २० अप्रैल १८६६ को बंगाल के लेफ्टीनेंट गवर्नर के आदेशानुसार उन्हें भागलपुर डिस्पेंसरी का कार्यभार दिया गया। ५ अप्रैल १८६७ को भागलपुर की 'पब्लिक इन्सट्रक्शन कमेटी' का सदस्य बनाये जाने का आदेश निर्गत हुआ। उस समय भागलपुर बंगाल में था। कृष्ण धन सक्रिय व्यक्ति थे इसलिये थोड़े समय में ही वे लोकप्रिय हो गये। उनकी प्रेरणा से ही वहां 'भागलपुर ब्रह्मिका सोसाइटी' की स्थापना महिलाओं के लिये हुई। कहा जाता है कि इससे पूर्व कलकत्ता में केशवचन्द्र सेन द्वारा शुरू की गयी इसी नाम की सोसाइटी की अपेक्षा भागलपुर की सोसाइटी कहीं अधिक सक्रिय सुधारवादी थी। ब्रह्म समाज के विवरण में यह उल्लेख मिलता है कि डॉ० कृष्ण धन घोष के आगमन से भागलपुर ब्रह्म समाज को सामाजिक कार्यों के लिये तीव्र प्रेरणा मिली थी। भागलपुर ब्रह्मिका सोसाइटी ने महिलाओं के विकास के लिये बहुत कार्य किये। कुछ लोगों ने इन कार्यों की आलोचना भी की।

डॉ० कृष्ण धन घोष ने स्कूलों, अस्पतालों और दूसरे जनसेवी संगठनों में अपनी सक्रियता से बहुत प्रभाव डाला। उन्होंने एक लघु-प्रबंध 'Sanitary outlook for Bengal' शीर्षक से तैयार किया जिसकी व्यापक प्रशंसा हुई।

फरवरी १८७० में कृष्ण धन घोष मेडिकल क्षेत्र में उच्च अध्ययन के लिये इंग्लैंड चले गये। आयंगर ने यह वर्ष १८६९ लिखा है लेकिन सुजाता नाहर का विवरण अधिक प्रमाणित लगता है। इसके लिये कृष्ण धन घोष को डेढ़ वर्ष का बिना वेतन अवकाश मिला जो बाद में छह माह और बढ़ाया गया। उस समय उनका वेतन एक सौ रुपये प्रतिमाह था। तब उनकी आयु पच्चीस वर्ष थी और वे दो पुत्रों विनय भूषण और मनमोहन के पिता थे।

कृष्ण धन घोष इंग्लैंड जानेवाले पहले कुछ भारतीयों में एक थे। उनके श्वसुर राजनारायण बोस की

इच्छा यही थी कि पश्चिम की ओर जानेवाले उनके दामाद कृष्ण धन वहां की चकाचौंध में लक्ष्यभ्रष्ट न हों और वहां की सभ्यता के आकर्षण में फंसकर राष्ट्रीयता को न भूलें।

'मुलतान' नामक स्टीमर में सवार होकर कृष्ण धन १५ फरवरी १८७० को अपने सहयात्रियों (जिनमें केशवचन्द्र सेन भी थे) के साथ चले और फ्रांस होते हुए २१ मार्च १८७० को लन्दन पहुंच गये। इस यात्रा का सूक्ष्म वर्णन केशवचन्द्र सेन ने अपनी डायरी में लिखा है। सुजाता नाहर ने उसी संदर्भ से इसका उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है।

राजनारायण बोस के मन में कृष्ण धन के प्रति गहरा स्नेह था। जैसा कि ऊपर उनकी इच्छा का उल्लेख किया गया है, वह उनके लिखे चार सॉनेट में भी अभिव्यक्त हुई है। यहां मूल रूप में पहले सॉनेट की ये पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं—

Go, son belov'd! as pilgrim bold to lands
Beyond the stormy ocean's wide domain,
Where Commerce, Art and Science freely rain
On freeman blessings rare with liberal hands.
Thy freedom I esteem though thy excess
I check oft. Go, but still as ours remain.
Be not like apes who change their manners, dress
And language, of their trip becoming vain.
They England for their home do shameless call,
And reckon motherland and tongue as gall.

कृष्ण धन घोष ने एबरडीन विश्वविद्यालय, स्काटलैंड से एम. डी. (डॉक्टर ऑफ मेडिसिन) की उपाधि प्राप्त की। वह अक्तूबर १८७१ में भारत लौटे और उन्होंने रंगपुर जिले के मेडिकल ऑफिसर के रूप में कार्यभार संभाला। शीघ्र ही वे सी. एम. ओ. (Chief Medical Officer) हो गये और लगभग बारह वर्ष तक रंगपुर में (जो अब बंगलादेश में है) विभिन्न पदों को संभालते हुए रहे।

इंग्लैंड प्रवास के बाद जो कृष्ण धन भारत वापस लौटे, वह क्या वही कृष्ण धन थे जो गये थे? आयंगर ने लिखा है "वे जब भारत लौटे तो, पाश्चात्य सभ्यता के पक्के विश्वासी थे। वे चाहते थे कि भारत स्वयं को संभव हो तो एक ही दिन में—एक दूसरे आत्मविश्वासी और दृढ़संकल्पी ब्रिटेन के रूप में रूपांतरित करे।"

इंग्लैंड से लौटने के बाद कृष्ण धन घोष को कोननगर के पुराणपंथियों के विरोध का सामना करना पड़ा। अपने इंग्लैंड प्रवास में कृष्ण धन घोष पूर्णरूपेण आंग्ल सभ्यता के प्रभावों में आ चुके थे और जैसा कि श्रीअरविन्द ने किसी संदर्भ में कहा था, वे 'जबरदस्त अनीश्वरवादी' थे। अवश्य ही बाह्य कर्मकांडों में उनकी आस्था नहीं रह गयी थी। विलायत से लौटकर प्रायश्चित्त करने की प्रथा उन दिनों थी। कृष्ण धन घोष ने इसे नकार दिया। उनसे कहा गया कि प्रायश्चित्त नहीं करोगे तो बिरादरी से बाहर कर दिये जाओगे। खुली आंखों से पाश्चात्य सभ्यता को देखकर लौटे कृष्ण धन को प्रायश्चित्त कैसे स्वीकार होता? उन्होंने अनुभव किया और कहा कि विदेश यात्रा कोई पाप नहीं है। उन्होंने अपना पैतृक आवास एक स्थानीय ब्राह्मण को बेच दिया। एक संबंधी ने अधिक धनराशि देने की पेशकश की लेकिन वे ब्राह्मण को वचन दे चुके थे। इस तरह कृष्ण धन ने हमेशा के लिये कोननगर छोड़कर जाना स्वीकार कर लिया।

स्वाभाविक ही था कि अपने पुत्र जैसे दामाद में हुए परिवर्तन से राजनारायण बोस दुःखी होते। उन्होंने लिखा है कि "मुझे दुःख हुआ है, फिर भी मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूं कि वह जहां भी रहे प्रसन्न रहे। उसमें असाधारण गुण हैं। वह सज्जन पुरुष है, वह सौम्य और परोपकारी है और इन गुणों को उसने इंग्लैंड प्रवास के बावजूद नहीं छोड़ा है। उसका हृदय अत्यधिक मधुर है और यह मधुरता उसके चेहरे पर प्रतिबिम्बित होती है। मैं जब कानपुर गया तो आर्मी चेपलेन रे व० मिल ने मुझसे कहा था—मैंने कृष्ण धन जैसा मधुर चेहरा कभी नहीं देखा।"

बारीन (श्रीअरविन्द के अनुज) ने अपनी आत्मकथा में अपने पिता कृष्ण धन घोष के बारे में लिखा है—"मुझे अपने पिता का चेहरा अबतक याद है। गौर वर्ण, तैरती आंखों वाले, मंझले कद, सधे-सुडौल शरीर के, नये शीरे जैसे मधुर स्वभाववाले, स्वच्छ और चमकीले चेहरे के बावजूद वह हठी और शक्तिशाली मनुष्य थे। डॉक्टर के रूप में उनकी बहुत अधिक ख्याति थी। लोग उनके पास ऐसे अपने जीवन की भिक्षा मांगने आते थे जैसे भगवान् से याचना करते हैं।"

कोननगर से विदा लेकर कृष्ण धन घोष अनेक जिलों में सिविल सर्जन के रूप में रहे। वे जहां भी गये, अपने मानवीय व्यवहार से आदर के पात्र बने। भागलपुर, रंगपुर और खुलना में तो उनका नाम घर-घर में जाना जाता था। खुलना के निवासियों ने उनके नाम पर एक विद्यालय भी चलाया था। वहां के टाउन हाल में उनका चित्र लगाया गया था। कहा जाता है कि उन्होंने खुलना की तस्वीर ही बदल डाली थी।

विपिन चन्द्र पाल ने कृष्ण धन घोष के व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "यदि उनके (श्रीयुत् अरविन्द घोष के) नाना इस राष्ट्र की प्राचीन आध्यात्मिक शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते थे, डॉ० कृष्ण धन घोष बहुत हद तक अपने देश की नवीन ज्योति की आत्मा के प्रतिनिधि थे। डॉ० घोष तत्त्वतः आंग्ल शिक्षा और यूरोपियन संस्कृति की उपज थे। असाधारण प्रतिभा के धनी उन्होंने अपनी शिक्षा इंग्लैंड में संपन्न की और मेडिसिन में डिग्री लेकर भारत सरकार की चिकित्सा सेवा में प्रवेश किया। वे अपने समय के सर्वाधिक सफल सिविल सर्जनों में एक थे और यदि उनकी और जिन्दगी रहती तो भारतवासियों के लिये खुली नौकरी में निश्चित रूप से वे उच्चतम पद तक पहुंचते। भारतीय नवयुवकों के सामान्य समूह की तरह, जो उस समय इंग्लैंड में शिक्षा पूरी करते थे, कृष्ण धन घोष आंग्लवाद की प्रबल भावना में निमज्जित हो गये थे। लेकिन अनेकों से अलग विदेशी वेशभूषा और तौर-तरीकों के पीछे छिपा था उनका निष्कपट हिन्दू हृदय और आत्मा। आंग्लवाद हिन्दू चरित्र को विकृत कर देता है और जहां उसका विनाश नहीं कर सकता, वहां मनुष्य की वंशगत परोपकारिता को अपंग बना डालता है और उसको न्यूनाधिक रूप से उन अनेक पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों के प्रति लापरवाह बना देता है जिनके अन्तर्गत प्रत्येक हिन्दू जन्म लेता है। लेकिन कृष्ण धन घोष एक अपवाद थे। यद्यपि वे यूरोपियन जीवन-शैली से प्रेम करते थे, उन्होंने कभी हिन्दू के सामाजिक दायित्वों की उपेक्षा नहीं की। अपने जरूरतमंद रिश्तेदारों के लिये उनका बटुआ सदा खुला रहता था। जहां उन्होंने नौकरी की और रहे, वहां निर्धन व्यक्ति उनके रूप में पाता था एक सच्चा मित्र और तत्पर सहायक। वस्तुतः निर्धनों के प्रति उनका आदर-भाव निर्धनों की वर्तमान जरूरतों की पूर्ति के लिये अपने परिवार और बच्चों की भावी संभावनाओं का बलिदान करने का कारण बना। . . . कुशाग्र बुद्धि, कोमल हृदय, आवेगशील और लापरवाही की सीमा तक उदार, अपनी आवश्यकताओं के प्रति असावधान लेकिन दूसरों के कष्ट के प्रति संवेदनशील—यह थी डॉ० कृष्ण धन घोष के चरित्र की

सम्पत्ति। धनी लोग उनकी लापरवाही के लिये उनको दोष देते थे, सांसारिक जन उनमें दुनियादारी की पूरी कमी के लिये उनको दोषी ठहराते थे। विधवा और अनाथ जन निःस्वार्थ करुणा और भावपूर्ण परोपकारिता के लिये उनसे प्रेम करते थे। जीवन के उत्कर्ष काल में जब मृत्यु ने उनको छीन लिया तो उनके जिले में अनेक निर्धन घरों में विषाद व्याप्त हो गया। इसने केवल उनके अपने बच्चों को ही पूर्ण निर्धनता में नहीं छोड़ दिया, उनके संबंधियों और पड़ोसियों के अनेक बेसहारा परिवारों के लिये तुरंत सहायता का स्रोत भी नष्ट कर दिया। उनका तीव्र बौद्धिक ज्ञान, उनकी व्यापक सहानुभूतियां, उनकी निस्वार्थता—ये अपने पिता की पीढ़ी से श्रीअरविन्द को उत्तराधिकार में मिली हैं।''

जब कृष्ण धन घोष रंगपुर में सिविल सर्जन थे तो उन्होंने एक संस्कृत विद्वान् को वहां संस्कृत स्कूल खुलवाने में मदद की थी। कलाओं में भी उनकी सहज रुचि थी। स्टार थियेटर के संरक्षक के रूप में वे थियेटर कम्पनी को कलकत्ता से खुलना बुलाया करते थे। उस समय स्टार थियेटर सर्वोत्तम माना जाता था। २० सितम्बर १८८४ को श्री चैतन्य के जीवन पर एक नाटक देखने के लिये रामकृष्ण परमहंस वहां पधरे थे।

कृष्ण धन घोष सुसंस्कृत व्यक्ति थे। बंकिम चन्द्र चटर्जी के सबसे छोटे भाई पूर्णचन्द्र चटर्जी ने लिखा है कि, "प्रत्येक शाम हम कृष्ण धन घोष के घर पर मिलते थे। मैं उस समय रंगपुर में डिप्टी मजिस्ट्रेट था। डॉ० कृष्ण धन घोष एक असाधारण व्यक्ति थे। मैं इतनी उच्च शिक्षा प्राप्त, इतने तेजस्वी और इतने सबल व्यक्तित्व के व्यक्ति से विरल ही मिला हूं। वे अभी तक बंकिम से नहीं मिले थे लेकिन उनकी पुस्तकें पढ़कर 'डॉक्टर' बंकिम के भक्त हो चुके थे।''

यूरोपियन और बंगाली समाज में समान रूप से समादृत कृष्ण धन घोष दोनों के बीच की कड़ी बन गये थे। उनका घर दोनों समुदायों का मिलन-स्थल था। इसी से लोग उनको 'स्वेज केनाल' कहने लगे थे । उनके सामाजिक जीवन में उनकी धर्मपत्नी स्वर्णलता का भी बड़ा महत्त्व था। वह अपनी सुन्दरता के लिये जानी जाती थी और लोग उनको 'रंगपुर का गुलाब' कहते थे।

श्रीअरविन्द ने एक बार बातचीत के दौरान अपने पिता का स्मरण करते हुए कहा था कि जब उन्होंने राजनैतिक कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व बंगाल के कई जिलों की यात्रा की तो वे खुलना भी गये थे। खुलना में उनका शाही अभिनन्दन हुआ। यह इसलिये नहीं कि "मैं एक राजनेता था बल्कि इसलिये कि मैं अपने पिता के. डी. घोष का बेटा था। खुलना के लोगों ने सात पंक्तियों में सजे पकवान सामने रखे। मैं उन तक कठिनाई से ही पहुंच सकता था। दूसरे व्यंजनों में से भी मैं अधिक नहीं खा पाया।

मेरे पिता खुलना में बहुत लोकप्रिय थे। वे जहां भी गये, सर्वशक्ति संपन्न हो गये। जब वे रंगपुर में थे तो वहां मजिस्ट्रेट से उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गयी। हम बाद में इंग्लैंड में उन मजिस्ट्रेट के बंधु ड्रुएट के यहां गये। रंगपुर में सदैव डॉक्टर (के. डी. घोष) ही सारे कार्य करते थे। जब नया मजिस्ट्रेट आया तो उसने देखा कि डॉ० के. डी. घोष के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। उसने सरकार से कहा कि डॉक्टर को वहां से हटा दिया जाये और उनका तबादला खुलना कर दिया गया। उस समय से वे राजनेता हो गये। मतलब यह कि उन्होंने अंग्रेज प्रभुत्व पसंद नहीं किया। उससे पहले हर पाश्चात्य चीज अच्छी थी। उदाहरणार्थ, वे चाहते थे कि उनके सारे बेटे बड़े आदमी बनें। उस समय आई. सी. एस. बनना ही बड़ा आदमी बनना था। वे अत्यधिक उदार थे। शायद ही कोई आदमी, जो सहायता के लिये उनके पास गया हो, खाली हाथ लौटा हो।''

अपने चिकित्सा-विषयक दृष्टिकोण में कृष्ण धन घोष अपने समय के चिन्तन से बहुत आगे थे। रंगपुर दलदल वाला और मलेरिया-ग्रस्त क्षेत्र था। कृष्ण धन घोष ने अपनी बुद्धि और प्रभाव का प्रयोग कर वहां एक नहर का निर्माण करवाया। उनके प्रति आभार व्यक्त करने के लिये लोगों ने उस नहर का नाम 'के. डी. केनाल' रखा।

यहां से वहां तबादला होने से आहत कृष्ण धन घोष का अंग्रेजों से मोह भंग होना स्वाभाविक ही था। १८८३ में वे बांकुरा के सी. एम. ओ. बने और जनवरी १८८४ में नोआखाली भेज दिये गये। फरवरी में खुलना का तबादला हुआ और मार्च १८८४ में वे बंगाल सरकार द्वारा 'सुपरिन्टेन्डेन्ट ऑफ वेक्सीनेशन्स, मेट्रोपालिटन सर्किल' (अर्थात् कलकत्ता) नियुक्त हुए। यह नियुक्ति भारत सरकार द्वारा उठायी गयी कई आपत्तियों के बावजूद की गयी। जुलाई १८८५ में उनको फिर खुलना भेज दिया गया। अपने जीवन के अंत तक वे वहीं रहे—लगभग आठ वर्ष।

श्रीअरविन्द से किसी शिष्य ने प्रश्न किया था—"क्या आपने इंग्लैंड से लौटकर अपने पिता के दर्शन किये थे ?" श्रीअरविन्द ने उत्तर दिया—"मैं नहीं कर सका। वस्तुतः उनकी मृत्यु का कारण मैं ही था। वे हृदय रोग से ग्रस्त थे। ग्रिंडलेज ने उनको तार किया था कि मैं एक निश्चित स्टीमर द्वारा इंग्लैंड से चल दिया हूं। वस्तुतः मैं उससे नहीं चला था। वह स्टीमर पुर्तगाल के पास डूब गया था। जब उन्होंने यह समाचार सुना तो सोचा कि मैं डूब गया हूं और इस सदमे से उनका देहान्त हो गया।"

फिर शिष्य ने पूछा—"जब आप इंग्लैंड में थे तो क्या वे आपको नियमित रूप से धनराशि भेजते थे ?" श्रीअरविन्द बोले, "शुरू में भेजते रहे। लेकिन बाद में वह कम से कमतर होती गयी और अंततः उन्होंने भेजना बंद कर दिया। मुझे कैम्ब्रिज में छात्रवृत्ति मिलती थी लेकिन वह फीस और अन्य खर्चों के लिये पर्याप्त नहीं थी। इसलिये एक बार ट्यूटर ने उनको धनराशि के लिये लिखा। तब उन्होंने फीस की सुनिश्चित धनराशि भेजी और मुझे फिजूलखर्ची के बारे में उपदेश देते हुए एक पत्र लिखा।"

१८७९ के मध्य में कृष्ण धन घोष एक बार फिर इंग्लैंड गये थे लेकिन इस बार अकेले नहीं, पूरा परिवार उनके साथ था। पुत्र विनय भूषण, मनमोहन और अरविन्द थे, पुत्री सरोजिनी थी। उन्होंने तय किया था कि बेटों को इंग्लैंड में ही शिक्षा देंगे। अपनी पत्नी स्वर्णलता की बीमारी से वे बहुत दुःखी थे। स्वर्णलता को दौरे पड़ते थे। कृष्ण धन घोष के दूसरी बार इंग्लैंड जाने का एक कारण यह भी था कि वहां जाकर वातावरण बदले और पत्नी का इलाज भी हो सके। बीमारी कई वर्ष पुरानी हो चली थी। १८७३ में सुश्री एक्रायड ने अपनी बहन को एक पत्र में लिखा था—"बेचारे (कृष्ण धन घोष) बहुत अधिक कष्ट में हैं। उनकी पत्नी एक अत्यधिक भयप्रद बीमारी से ग्रस्त है—एक तरह के दौरे पड़ते हैं। . . . उन्हें स्वयं भी बुखार रहा है। वे स्वयं को बहुत अकेला अनुभव करते हैं। मुझे भय है कि अपनी चिंताओं के रहते वे स्वयं भी किसी बीमारी में न फंस जायें।" यहां स्मरणीय है कि श्रीअरविन्द के जन्म के समय सुश्री एक्रायड (Annette Susannah Akroyd) कलकत्ता में उपस्थित थीं और कृष्ण धन घोष ने इसी उपस्थिति को स्थायी बनाने के लिये नाम रखा था—अरविन्द एक्रायड घोष! कृष्ण धन घोष इंग्लैंड गये थे तो एक्रायड परिवार से उनकी घनिष्ठता हुई थी। सुश्री एक्रायड बैरिस्टर मनमोहन घोष के घर अतिथि के रूप में श्रीअरविन्द के जन्म के समय ठहरी हुई थीं। इसी घर में श्री अरविन्द का जन्म हुआ था। सुश्री एक्रायड के पत्र में जो चिंता व्यक्त हुई है वह स्वाभाविक है। कृष्ण धन घोष ने अपने श्वसुर राजनारायण बोस को जो कुछ लिखा था, वह उनके परेशान मन की अभिव्यक्ति है। इस पत्र पर कोई दिनांक नहीं है। उन्होंने लिखा था—"प्रिय पिताश्री ! आपका रविवार

का लिखा पत्र यथासमय मिला है लेकिन मेरे हृदय को ध्वस्त करने के लिये इसके साथ अनेक यातनाएं भी। क्या मैंने अपने किसी भी पत्र में यह दोषारोपण किया है कि आप मुझे किसी धार्मिक विचार-विमर्श बंद करने से रोकते हैं? मैं इस कारण जो भयानक व्यथा अनुभव कर रहा हूं उसका वर्णन नहीं कर सकता। हैजे ने मुझे अभी तक बिस्तर से उठने नहीं दिया है इस कारण भी इतना विषाद नहीं हुआ था जितना आपके पत्र ने दिया है। इस पत्र में एक बात से मुझे आघात पहुंचा है। ... सारी दुनिया मेरे लिये कटु और दुःखद बन गयी है, हर चीज ने निराशाजनक तमाशे का रूप धारण कर लिया है। मैं नहीं जानता कि कैसे अपने-आपको सांत्वना दूं? मैं पहले जानता था और अब अनुभव से समझ गया हूं कि दुर्भाग्य कभी अकेले नहीं आता। कितनी तरह-तरह की चीजें मेरे पापी और अधर्मी हृदय को तोड़ डालने के लिये आ जुटी है! अनवरत अश्रु मेरे एकमात्र साथी बन गये हैं। प्रियतम पिताश्री! क्या कोई नहीं है जो सहानुभूति के आंचल से मेरी आंखों के आंसुओं को पोंछ दे? कष्ट भोगना और दुर्भाग्य द्वारा परीक्षा लेना मेरी नियति में है। हैजे ने मुझे घातक आघात पहुंचाया है लेकिन आपके पत्र ने तो और भी बुरा। प्रिय पिताश्री! अपनी कृपालु क्षमा-दृष्टि से मेरे हृदय को भारमुक्त करें। आपका यह गरीब बेटा कष्ट में है, उसकी आत्मा पर दया करें और अपने अन्तस्तल से उसे क्षमा कर दें। मैं जब-तब आपके विरुद्ध अनधिकार चेष्टाओं के लिये भगवान् से क्षमा मांगता हूं लेकिन सांत्वना नहीं मिलती। प्रियतम पिताश्री! मेरी आत्मा को भारमुक्त करें। मैं फिर दोहराता हूं कि भगवान् के लिये मेरी आत्मा को क्षमा करें। ... मैं अब अपने दिन दुःख और एकांत में काट रहा हूं। मेरे पास बाहर जाने के लिये पर्याप्त ताकत नहीं है। ताकत नहीं है कि अपने सिर पर मंडराते असंख्य गिद्धों से अपना ध्यान हटा सकूं।"

कृष्ण धन घोष की निराशा और विषाद उनके लिये कितना दुःखद रहा होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। सुजाता नाहर ने लिखा है कि "एक सबल व्यक्तित्व जो दूसरे के कष्ट को देखकर पिघल उठता था, एक भावप्रवण हृदय जो प्रेम का प्यासा रहता था, एक स्नेही पिता जो अपने बेटों को 'महान्' बनाना चाहता था, जो दूसरों की बीमारियों का इलाज करता था, अपनी धर्मपत्नी की विचित्र बीमारी के सामने अधिकाधिक लाचार दर्शक हो गया था।"

लगातार कष्ट भोगने के बाद कृष्ण धन घोष ने यही सोचा होगा कि शायद इंग्लैंड जाकर आबोहवा बदलने से स्वर्णलता ठीक हो जायेगी। स्वर्णलता गर्भवती थी और कृष्ण धन घोष चाहते थे कि ब्रिटिश डॉक्टर की देखरेख में बच्चा जन्म ले। रंगपुर के कलक्टर एडवर्ड जॉर्ज ग्लेजियर डॉ० घोष के अंतरंग मित्र थे ही। उनके एक संबंधी डुएट मैनचेस्टर में रहते थे। कृष्ण धन घोष सपरिवार उन्हींके पास पहुंचे। अपने तीनों बेटों की शिक्षा और आवास का प्रबंध डुएट को सौंपकर कृष्ण धन घोष पत्नी स्वर्णलता और बेटी सरोजिनी को लेकर लंदन चले गये। वहां डॉ० मेथ्यू ने स्वर्णलता की देखरेख और प्रसव कराने का दायित्व लिया। डॉ० घोष तीन महीने की छुट्टी लेकर गये थे जो समाप्त हो चली थीं। मैनचेस्टर और लंदन में ही सारे परिवार को छोड़कर वे अगस्त १८७९ में भारत वापस लौटे। ५ जनवरी १८८० को बारीन्द्र कुमार घोष का जन्म हुआ और उनका नाम रखा गया—इमेन्युअल मेथ्यू घोष। मार्च १८८० में बेटी और शिशु को लेकर स्वर्णलता भारत लौट आयीं। उनकी बीमारी में कोई विशेष आराम नहीं आया था। कृष्ण धन घोष अपने तीनों बेटों को, जिन्हें इंग्लैंड छोड़कर आये थे, जीवन-पर्यंत फिर कभी नहीं देख सके।

स्वर्णलता के दौरे अजीब थे। कभी लगातार हंसी, कभी लगातार क्रोध। कृष्ण धन घोष ने तय

किया कि देवघर के निकट रोहिणी गांव में एक बंगला किराये पर लें और स्वर्णलता को वहां रखें। उन्होंने यही किया। सरोजिनी और बारीन की शिक्षा की कोई समुचित व्यवस्था वहां नहीं हो सकी। बारीन ने लिखा है कि दस वर्ष की आयु तक वह लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। बाद में सरोजिनी को कृष्ण धन घोष खुलना ले गये। स्वर्णलता के पास रह गये बारीन। राजनारायण बोस अवश्य सपरिवार देवघर में रहते थे। जाने कैसी परिस्थितियां रही होंगी कि जो कृष्ण धन घोष सदैव बच्चों को ऊंची से ऊंची शिक्षा देना चाहते थे, वे दो बच्चों को देवघर के निकट छोड़ दें। यह कैसी विवशता थी! कृष्ण धन घोष ने १८९० के नवम्बर या दिसम्बर में राजनारायण बोस को एक पत्र में लिखा—"आदरणीय पिताश्री! मुझे अभी-अभी आपका पत्र मिला है। मैं मानसिक कष्ट में यह पत्र लिख रहा हूं। यदि आपको किन्हीं शब्दों से आघात पहुंचे तो कृपया मुझे क्षमा कर दें।

मनुष्य अपने कर्म के लिये स्वयं उत्तरदायी होता है। अपने जीवन को केवल भगवान् को पुकारते हुए बिता देना धर्म नहीं है। दुनिया नरक में जाये, मेरा कर्तव्य पूरा होना चाहिये। मेरा यह मत नहीं है कि भगवान्-भगवान् कहने से मुक्ति मिलती है। मेरा सिद्धांत है कर्तव्य। कर्तव्य मुझे करना ही चाहिये। मैंने एक बेटा पैदा किया है, उसका समुचित पालन-पोषण होना चाहिये।

मैंने अपने तीनों बेटों को दीपक बनाया है—केवल भारत के नहीं, विश्व के दीपक।

मैंने प्रतिज्ञा की है कि अपने बारीन्द्र को निरक्षर नहीं रहने दूंगा। मैंने संकल्प किया है कि कृष्ण धन घोष का बेटा दुनिया में अपना सिर नीचा नहीं करेगा।

जिस ढंग से सरोजिनी अब शिक्षा पा रही है, उससे मुझे अच्छी आशा बंधी है कि वह स्वयं अपने पिता की बेटी के रूप में अपना परिचय देने में सक्षम होगी। बेचारे बारी के पास अधिक समय नहीं है। उसके मामले में यह है कि अब या कभी नहीं। कन्या की शिक्षा आभूषण है लेकिन पुत्र की शिक्षा तो उसका जीवन है। ऐसी दशा में मैं किसी निवेदन को पूरा नहीं कर सकता। मैं वह करने का प्रयास करूंगा जो मुझे करना चाहिये। चाहे इस कोशिश में मैं मर ही क्यों न जाऊं। यदि मैं ऐसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य को अधूरा छोड़ दूं तो अपनी मृत्यु शैया पर मुझे क्या तसल्ली मिलेगी ?

लेकिन स्वर्णलता किसी भी हालत में सबसे छोटे बारीन को अलग नहीं करना चाहती थी। विवश कृष्ण धन घोष ने स्वर्णलता के भाई से मिलकर बारीन के 'अपहरण' की योजना बनायी। उन्होंने जोगेन (श्रीअरविन्द के मामा) को खुलना से २ दिसम्बर १८९० को लिखा—"प्रिय जोगेन, पिछले माह तुम्हारे दो पत्र मिले और एक पत्र पिताश्री का स्वर्ण की तीन कतरनों के साथ मिला।... मैं उत्तर में पिताश्री को नहीं लिख रहा हूं, क्योंकि मेरी लेखनी या वाणी से निकलकर कोई बात उनको ठेस पहुंचाये तो मैं स्वयं को क्षमा नहीं कर सकता।... किसी शब्द के द्वारा उनको चोट पहुंचाने की अपेक्षा मैं अपनी जीभ काट लूंगा।

लेकिन तुम जानते हो कि मैं बच्चा नहीं हूं। मैं अपने स्वयं के कार्यों की जिम्मेदारी समझता हूं। यदि मैं कभी जानता कि बच्चे पैदा करना क्या है तो मुझे निश्चय है कि मैं विवाह करने का पर्याप्त साहस न जुटा पाता... जहां तक मेरा अध्ययन है, मैं समझता हूं कि डारविन मूसा का परिशिष्ट है। मूसा ने कहा—जाओ और कई गुना बढ़ो। डारविन ने कहा—ध्यान रखो, जिनको तुम बढ़ाओगे, उनमें से वे ही जीवित रहेंगे जो योग्यतम हैं। अब जैसा तुम चाहो, नीतिशास्त्र के सिद्धांत को तोड़-मरोड़ लो। परम प्रभु के प्रति तुम्हारी भक्ति भी तुम्हारे द्वारा नरपशुओं और मूर्खों के प्रजनन को न्यायसंगत नहीं ठहरायेगी। देखो, कितने दूरगामी परिणाम होंगे। तुम केवल एक नर-पशु या एक मूर्ख के जन्मदाता

नहीं बनोगे बल्कि उनके सहज आवेगों के द्वारा उनकी जाति को अनन्तगुना बढ़ा दोगे। यदि पशु नैसर्गिक काम वरण द्वारा नस्ल सुधारते हैं तो क्या मनुष्य को, जिसने अभी तक तर्क के युग को प्राप्त किया है, स्वयं को भूल जाना चाहिये और अपने से पीछे की जाति को पैदा करना चाहिये। मैंने अपने जीवन में दो सूत्रों का अनुसरण किया है और ये मेरा नीतिशास्त्र और धर्म रहे हैं। ये हैं दुनिया को अपने से बेहतर नस्ल के बच्चे देकर अपनी जाति को सुधारना और उन लोगों के बच्चों को सुधारना जिनमें स्वयं इस कार्य को करने की शक्ति नहीं है। मैं इसी को भक्ति कहता हूं जो कोरी प्रार्थनाओं से, जिनका मतलब है निकम्मापन और अपनी मनःसृष्टि के देवता की पूजा, प्राप्त नहीं होती। सच्चा भगवान् भगवान् की सृष्टि है और जब मैं कर्म के द्वारा उसकी पूजा करता हूं तो भगवान् की पूजा करता हूं। एक रमणीय सिद्धांत को प्रस्तुत करना सरल है लेकिन एक ऐसे जगत् में कार्य करना कठिन है जहां मूर्खतापूर्ण जनमत और धर्म एवं नैतिकता की रूढ़ धारणाओं के द्वारा तुमको रोक दिया जाता है। मेरे जीवन का मिशन इन सभी रूढ़ धारणाओं के विरुद्ध संघर्ष करना रहा है। सर्वशक्तिमान भगवान् ने मेरे रास्ते में कांटे बिछाये हैं और मैं उसकी इच्छा के विरुद्ध लड़ने को तैयार हूं । मैंने जो तीन बेटे पैदा किये हैं, उनको मैंने असाधारण गुणों से संपन्न बनाया है। मैं न रहूं लेकिन तुम अपने तीनों भानजों पर गर्व करने के लिये जीवित रहोगे जो तुम्हारे देश की शोभा बढ़ायेंगे और तुम्हारा नाम रोशन करेंगे। कौन जानता है कि अगली पीढ़ी क्या प्राप्त करेगी यदि उस उपलब्धि में मैं अपनी तीनों संतानों को नेतृत्व करनेवाला बना सका तो एक जीवन-काल के कार्य में इससे अधिक और क्या आशा कर सकता हूं ?"

इसी पत्र में तीन बेटों के बारे में उन्होंने आगे लिखा—"बेनो (विनय भूषण) अपनी प्रत्येक कार्य-प्रणाली में अपने पिता जैसा होगा। आत्म-त्यागी लेकिन अपने कार्यक्षेत्र में सीमित। मानो (मनमोहन) अपने पिता की भावनाओं का सम्मिलन करेगा। एक सार्वभौम आत्मा की भव्य आकांक्षा का जो तुच्छ भावनाओं से घृणा करती है अपने महान् नाना राजनारायण की कविता के साथ सम्मिलन वह साधेगा। आरा (अरविन्द) प्रतिभाशाली प्रशासन के द्वारा अपने देश की शान बढ़ायेगा। मैं यह सब देखने के लिये नहीं रहूंगा लेकिन यदि तुम रख सको तो इस पत्र को याद रखना।"

अपने पुत्रों के लिये पिता की स्नेह-दृष्टि के साथ इस पत्र में पिता के सपने भी झांक रहे हैं। इनसे भी महत्त्वपूर्ण वह स्वप्न है जो वह बारीन के बारे में देख रहे थे। इसी पत्र में उन्होंने लिखा था कि "यदि भविष्य का निर्णय भूतकाल से किया जाये तो तुम विश्वास कर सकते हो कि तुम इस दिवस के लिये नहीं पछताओगे कि तुमने मेरे मस्तिष्क के एक उत्पादन को अपने देश के लिये अपनी बहन से अलग किया है। बेचारी सरोज का जैसा कि वह जीर्ण स्वास्थ्य की है, मैंने कम से कम एक अकाल मृत्यु से उद्धार लिया है। करो, यदि कर सको तो एक लड़के की रक्षा करो जो तुम्हारा सबसे प्रतापी भानजा होगा, जिस पर तुम गौरवान्वित होगे। मृत के लिये जीवित का बलिदान क्यों करते हो ? दुनिया के लिये, तुम्हारे लिये, उन सबके लिये जिन्होंने उसके लिये कुछ भी बलिदान किया है तुम्हारी बहन तो मर चुकी है। अब क्या तुम उस लड़के का बलिदान करोगे जो तुम्हारे विचार से मेधावी है और संसार का भला करने का साधन हो सकता है ? यह अपनी बहन की खातिर भाई की भावना के लिये ? मेरी भी बहनें हैं। मेरी सहानुभूति तुम्हारे साथ है लेकिन तुम्हारा भानजा तुम्हारे अपने परिवार का है और यह कैसी भावना है कि जो तुमसे उसका बलिदान करायेगी जिसका अधिकार भावी पीढ़ियों पर उन लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक है जो अपनी उपयोगिता खो चुके हैं ?"

इसी पत्र के 'पुनश्च' में उन्होंने जोड़ा कि "तुम अच्छी तरह जानते हो कि मैं स्वर्ण को अपने पास नहीं ला सकता क्योंकि मैं लोगों के झुंड की आजीविका और अपने बेटों एवं बेटी की शिक्षा के लिये काम कर रहा हूं। . . . जो कुछ तुम कर सको, करो।"

कृष्ण धन घोष ने अपने एक मित्र को रोहिणी भेजा। उसने स्वर्णलता को समझाने की कोशिश की कि बारीन को अपने पिता के पास जाने दो लेकिन मां ने सबसे छोटे बेटे को अलग करने का प्रस्ताव ठुकरा दिया। अगले दिन बारीन को जबरदस्ती उठा लिया गया और तब अपने पिता की छत्रछाया में बारीन का नया जीवन शुरू हुआ। सरोजिनी वहां पहले से थी। कृष्ण धन घोष सरोजिनी और बारीन को अपनी मां और बहन से मिलाने बनारस ले गये थे।

डॉ० कृष्ण धन घोष के जीवन के बिखरे हुए सूत्रों को जोड़ने का प्रयास उपर्युक्त परिचय में किया गया है। लेकिन यह विवरण पूरा नहीं कहा जा सकता। इस दिशा में और अनुसंधान की आवश्यकता है। श्रीअरविन्द जैसे अप्रतिम मनीषी के जीवन और व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक परिस्थितियां और व्यक्तियों का आकलन वस्तुतः उनको जानने-समझने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।

('अदिति' से साभार) —श्री सुरेश चन्द्र त्यागी

'श्रीअरविन्द के साथ बातचीत':

कुछ इधर, कुछ उधर की

६ मार्च १९४०

नी—चारु घोष का पत्र है। क्या आपको उसकी याद है ? उसने आपका आशीर्वाद मांगा था और आपने पूछा था "यह है कौन ?"

श्रीअरविन्द—हां, तो वह कौन है ?

नी—उसने कहा था, "मैं एक मामूली-सा आदमी हूं। ५१ वर्ष का एक लिपिक हूं। पत्नी को छोड़कर मेरा और कोई नहीं है। मैं कुछ पढ़ाई भी नहीं कर पाया।"

श्रीअरविन्द—योग करने के लिये आदर्श अवस्था। वह विलक्षण इसलिये है कि उसने शिक्षा नहीं पायी और साधारण इस तरह कि उसके बच्चे-कच्चे नहीं हैं। (हंसी)

नी—फिर वह एक और प्रश्न उठाता है : "क्या श्रीअरविन्द की पुस्तकें पढ़ने के बाद और भी कुछ रह जाता है ? मैं श्रीअरविन्द की शक्ति और ज्ञान की सहायता से समर्पण-योग का अभ्यास करना चाहता हूं। अतः इसके बारे में उनका क्या उत्तर है ?"

श्रीअरविन्द—क्या उसने योग किया है ? वह समर्पण की बात करता है अतः वह कुछ तो जानता होगा। तुम उससे पूछ सकते हो कि मेरी कृतियों को पढ़कर उसने क्या समझा ?

नी—इसका उत्तर देना तो बहुत कठिन है।

श्रीअरविन्द—मेरा मतलब है कि समर्पण के योग से वह दार्शनिक नहीं बल्कि व्यावहारिक रूप से क्या समझता है ?

नी—जब मैं इंग्लैंड में था तो मैंने आपकी पुस्तक 'योग और उसका उद्देश्य' (Yoga and its object) देखी थी। मैंने सोचा, "अरे यह तो बहुत आसान है।" (हंसी)

स—वह पुस्तक योग के बारे में एक सामान्य परिचय है। उसके बाद अतिमानस आया और सब कुछ कठिन हो गया। इस योग में सतत प्रगति होती है, कोई निश्चित लक्ष्य या अंत नहीं है।

श्रीअरविन्द—अभी के लिये तो एक अंत है ही।

नी—क्या ?

श्रीअरविन्द—अतिमानस।

स ('नी' से)—अब तुम्हें कैसा लगता है ?

नी—हां, अब तो मैं इस बात पर विचार करूंगा कि योग करना सरल हो जायेगा।

स—मेरे लिये तो यह अब और भी कठिन हो गया क्योंकि मैं जगत् को अवास्तविक और ब्रह्म को वास्तविक मानता आया हूं। अब मुझे जगत् को स्वीकारना होगा जिसके लिये मेरा मन तैयार नहीं है क्योंकि मन कितने अरसे से 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' का राग अलापता आया है।

श्रीअरविन्द—इसी के लिये तो मुझे 'दिव्य जीवन' के तीन खण्ड लिखने पड़े, अन्यथा जैसा नीरद कहता है, योग आसान होता।

नी ('स' से)—हमारे लिये यह कुछ कम कठिन नहीं है। तुम्हारे लिये ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या और हमारे लिये इससे विपरीत चीज सत्य है (हंसी)। कठिनाई तो एक ही हुई ना।

स—नहीं, श्रीअरविन्द ने कहा है कि भौतिकवादी के नकार को जीतना इतना कठिन नहीं है जितना वैरागी के नकार को।

आपकी राजनीति के बारे में नीरद के साथ हुई बातचीत के बाद से डॉ॰ बेचरलाल ने अखबार पढ़ना छोड़ दिया है। अब वे केवल शीर्षक ही पढ़ कर छोड़ देते हैं।

च—क्या इसी कारण सत्येन्द्र अखबार अब उसके पास रख देता है ?

श्रीअरविन्द (हंसते हुए)—मेरा यह मतलब न था कि वह भी न पढ़े। स्वयं मैं अखबार पढ़ता हूं और कोई मजेदार चीज हो तो उसका आनंद लेता हूं। उदाहरण के लिये अब्दुल्ला हारुन कहता है कि हर अल्पतवाले को स्वतंत्र राष्ट्र मिलना चाहिये। निश्चित रूप से मुसलमानों को पहले अलग राष्ट्र मिलना चाहिये—तब तो हरिजनों को भी अलग राष्ट्र देना चाहिये। (हंसी)

स—डॉ॰ आलम भी अब लीग की दिशा में जा रहे हैं। वे कहते हैं कि अब तो बस बांटने का प्रश्न है।

श्रीअरविन्द—हां, उसका कहना है कि अब झगड़ा सरकार का नहीं बल्कि हिन्दू-मुसलमान के बीच का है। केक तो सामने है, प्रश्न है उसे किस तरह बांटा जाये ? (हंसी)

स—उनका कहना है कि सभी मुसलमानों को लीग में मिल जाना चाहिये ताकि वे कांग्रेस की इस राय का मुकाबिला कर सकें कि लीग ही एकमात्र मुस्लिम संस्था नहीं है।

श्रीअरविन्द—यह तो उस लोमड़ी की कहानी-सी बात है जिसकी पूंछ कट गयी और वह दूसरी लोमड़ियों को भी अपनी-अपनी पूंछ काटने का सुझाव देने लगी !! (हंसी)

—नीरदवरण

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार

(२७)

कल मेरे अंदर बहुत सारी गतिविधियों ने भीड़ लगा दी। जब मैं छत पर गया तो तुरंत माताजी नीचे उतर आयीं। क्या माताजी चाहती हैं कि मैं ऊपर न जाया करूं? मेरे अंदर प्रायः यह विचार आता है क्योंकि वे तभी ऊपर आती हैं जब मैं वहां न रहूं। और अगर मैं चला जाऊं तो वे झट नीचे उतर आती हैं।

नहीं। माताजी का ऊपर जाना और नीचे आना पूरी तरह से इस बात पर निर्भर होता है कि वे अपना काम कब समाप्त कर पाती हैं। अगर वे छह बजे तक ऊपर जा सकें तो ज्यादा समय रह सकती हैं। अगर वे कुछ देर में जा सकें तो कम समय ठहरती हैं। अगर वे ज्यादा देर तक काम में लगी रहें तो ऊपर बिलकुल जाती ही नहीं।
१४ मार्च १९३५

मेरी बहुत इच्छा होती है कि माताजी से मिलने के लिये समय मांगूं। बहुत वर्ष हो गये वे मुझसे अकेले में नहीं मिलीं। और उनके बिना जीवन और साधना निःस्वाद मालूम होते हैं। कभी-कभी मैं हर काम में बहुत ही अनिश्चिति और असंतोष का अनुभव करता हूं और सोचता हूं कि माताजी से मिलकर सारी चीज ठीक हो सकती है।

यह बात नहीं है कि माताजी तुम्हें इसलिये नहीं बुलातीं कि वे तुम्हारी परवाह नहीं करतीं। जब उन्हें विश्वास हो जायेगा कि चीजें तैयार हैं तो वे बुला लेंगी। लेकिन अभी तत्काल या हाल में यह संभव नहीं है क्योंकि वे नहीं चाहतीं कि तुम्हारी पुरानी मुश्किलें फिर से जाग पड़ें। दूसरी बात यह कि आजकल बहुत सारी कठिनाइयां हैं और वे थक गयी हैं और वे लोगों के साथ बातचीत नहीं करना चाहतीं। तुम्हें तबतक प्रतीक्षा करनी चाहिये जबतक मामला सब तरफ से साफ न हो जाये—अभी तक चीजें ठीक नहीं हैं।
२० मार्च १९३५

मैं जानना चाहता हूं कि क्या माताजी के साथ मेरे मिलने का समय नजदीक आ रहा है या यह अब भी दूर की बात है। मेरी समझ में यह बात कतई नहीं आती कि क्यों माताजी मुझसे कभी मिलना नहीं चाहतीं।

यह होने से पहले बहुत-सी शर्तें पूरी करनी होंगी।

मेरा ख्याल है कि माताजी को थोड़े समय के लिये ध्यान के लिये मुझे रोज बुलाना चाहिये, या सप्ताह में एक बार लंबे ध्यान के लिये।

माताजी किसी के साथ ऐसा नहीं करतीं, और साप्ताहिक ध्यान भी सिर्फ दो-तीन के साथ करती हैं और माताजी इसे भी बढ़ाने की जगह कम करना चाहती हैं।
११ अप्रैल १९३५

बहुत अच्छा हो यदि मैं माताजी के साथ अच्छा लम्बा ध्यान कर सकूं। मेरी समझ में नहीं आता कि माताजी मुझसे क्यों नहीं मिलना चाहतीं। भेंट का समय कम करना और लोगों के लिये ठीक हो सकता है, लेकिन मुझ पर यह नियम क्यों लागू हो रहा है, वे तो मुझसे व्यक्तिगत रूप से तीन वर्ष से अधिक से नहीं मिलीं।

यह सब पर लागू होता है जबतक कि भीतरी परिवर्तन न हो जायें।
१४ अप्रैल १९३५

मुझे बहुत खाली-खाली-सा लगता है मानों मेरे पास कोई धंधा नहीं है। अतः कभी-कभी मैं कुछ करना चाहता हूं। अगर माताजी मुझसे फिर से मिलना शुरू करें तो मैं कोई बड़ी योजना बना लूंगा, या तो आंतरिक प्रगति की या बाहरी काम की, उदाहरण के लिये बहुत-से लोगों को बुलाना और उनसे यह जानना कि उनके लिये क्या किया जा सकता है।

यह सब असामयिक है। बड़े पैमाने पर काम तभी किया जा सकता है जब अंदर से बड़ा परिवर्तन हो—लोगों में भी और वस्तुओं में भी।

मैं एक बड़ा-सा मकान बनवाने की कोशिश कर सकता हूं जो हैदराबाद-शैली में आश्रम के पास हो। दूसरे काम हैं, प्रकाशन, अनुवाद, आनेवाले दर्शकों की व्यवस्था। ये सब भविष्य की बातें हैं। अभी के लिये मैं साधना को आगे चला सकता हूं और अगर माताजी मुझसे मिलना शुरू कर दें तो मैं इसे अधिक सचेतन रूप से कर सकूंगा।

साधना माताजी के साथ भौतिक रूप से मिलने पर निर्भर नहीं करनी चाहिये। यदि ऐसी कोई शर्त हो तो गड़बड़ होकर रहेगी। यह बिना कारण नहीं है कि माताजी लोगों से मिलना-जुलना बंद कर रही हैं।

मैं चाहता हूं कि श्रीअरविन्द मुझसे इन विषयों के बारे में कुछ कहें।

ये चीजें तुम्हारे अंदर तब उठती हैं जब प्राणिक मन रिक्तता नहीं चाहता, वह सक्रिय होना चाहता है, अतः वह योजनाओं से भर जाता है। उसे प्रकाश, शांति और आंतरिक आनंद से भर दो। जैसे-जैसे तुम साधना में विकसित होते जाओ तुम्हारे क्रिया-कलापों को उच्चतर स्रोत से आना चाहिये।
१४ जून १९३५

कल मैं एक ऐसी उत्तेजना की अवस्था में आ गया कि मैं फिर चाहता था कि माताजी से

निवेदन करूं कि वे पुनः मुझसे मिलना शुरू करें। यह विछोह मुझे एक तरह का अपमान लगता है और निराश करता है। इस तरह से जीने का कोई मतलब नहीं है। शायद मैं यहां से चला ही जाऊं यदि माताजी से मिलना संभव न हो। मैं इस बारे में श्रीअरविन्द की सलाह मांगता हूं।

यह तो स्पष्ट है कि यह गलत क्रिया है। जब तुम इस तरह की किसी हठी कामना के झोंके में बह जाते हो तो निश्चित है कि यह गलत गतिविधि है। और ऊपर से तुम्हारा यह आग्रह कि अगर तुम्हारी मनोकामना पूरी न हुई तो, तुम यहां से चले जाओगे, यह चीज इस बात को और भी ज्यादा प्रमाणित करती है कि तुम्हारी इच्छा गलत है। इसमें कोई संदेह नहीं।

तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि माताजी तुमसे ज्यादा अच्छी तरह से जानती हैं कि तुम्हारे और तुम्हारी साधना के लिये सबसे अच्छा क्या है। तुम्हें यह बात उनपर छोड़ देनी चाहिये कि वे तुम्हें बुलायें या न बुलायें। अपने-आपको ऐसी किसी कामना से धर दबोचने देना और उसे पूरा करने का आग्रह करना बिलकुल उचित वृत्ति नहीं है। विशेष रूप से इस प्रबल कामना का यह प्रबल हठ कि माताजी तुमसे भौतिक रूप से मिलें—यह चीज किसी भी साधक के लिये खतरनाक होती है और इसने बहुतों को हानि पहुंचायी है। इसका यह अर्थ है कि किसी प्राणिक मांग ने तुम्हें पकड़ लिया है जो अपने-आपको संतुष्ट करना चाहती है, और अगर तुमने उसे पूरा न किया तो वह असंतुष्ट रहेगी, अधिकाधिक की मांग करेगी, विद्रोह करेगी और तुम्हारे लिये चीजों को असंभव बना देगी। अगर माताजी तुम्हारी मांग को स्वीकार नहीं करतीं तो तुम घर चले जाने की धमकी देते हो, यह तथ्य ही यह दर्शाता है कि उपर्युक्त प्रकार की हठी कामना तुम्हारे अंदर उठी है और लौट-लौट कर आ रही है। स्पष्ट है कि यह चैत्य अभीप्सा नहीं है क्योंकि चैत्य अभीप्सा हमेशा माताजी के निर्णय और उनकी इच्छा को स्वीकारती और मानती है। माताजी को काफी वर्षों का लंबा अनुभव है कि लोगों की इस तरह की हठी प्राणिक मांगों के आगे झुक जाने पर कितने विनाशकारी परिणाम आते हैं, इसीलिये वे ऐसे लोगों से पीछे हट गयी हैं और बहुत-से लोग, जिनसे वे पहले मिला करती थीं, अब नहीं मिलतीं। जबतक साधकों का प्राण नहीं बदलता और इन मांगों और आग्रहों से मुक्त नहीं होता तबतक तुम्हें यह आशा नहीं करनी चाहिये कि वे अपने निश्चय को बदल देंगी। तुम्हें इस मांग को उठा फेंकना चाहिये और चुपचाप अपने साधना-पथ पर चलते रहना चाहिये।

पहली चीज जो योगी में जरूर होनी चाहिये वह है सतत आंतरिक शांति और अचंचलता, कोई उत्तेजना न हो, कामनाओं का ऐसा कोई कोलाहल न हो जिस पर वह अधिकार नहीं कर सकता, यह पहली और प्राथमिक चीज है। जैसा कि मैंने तुम्हें बतलाया है, माताजी की उपस्थिति की आंतरिक वास्तविकता, केवल उनकी उपस्थिति की ही नहीं बल्कि उनका शासन भी अब तुम्हारी साधना का लक्ष्य होना चाहिये। बाहरी चीजों के लिये कोई भी आग्रह तुम्हें सच्चे मार्ग से भटका कर इधर-उधर ले जायेगा। इन सब चीजों में भागवत इच्छा और गुरु के संकल्प का राज्य होना चाहिये।

हमेशा माताजी के निर्णय और उनकी इच्छा को मान दो।

—श्रीअरविन्द

१६ जून १९३५

पिछली रात मैंने माताजी की चेतना, स्पर्श और संपर्क का अनुभव किया। उससे मैं बहुत खुश और आनन्द-विभोर हो गया। मैं अपने उस भाग के प्रति सचेतन हो गया जिसकी यहां से जाने

की जरा भी इच्छा नहीं है और दुःखी हो गया कि मैंने यहां से जाने के बारे में क्यों सोचा ?

यह अच्छी बात है।

मैंने जाने की बात इसलिये की थी क्योंकि मुझे विश्वास न था कि मैं साधना कर रहा हूं या यूं ही अपना समय नष्ट कर रहा हूं।

तुम्हारी साधना पहले से बहुत अच्छी है।

और फिर माताजी ने प्रणाम के समय मुझे देखना बंद कर दिया है। जब मैं उन्हें देखते रहने की कोशिश करता हूं तब भी वे नीचे ही देखती रहती हैं। और फिर उन्होंने जाते समय भी मेरी ओर देखना बंद कर दिया है।

यह सच्ची बात नहीं है। स्पष्ट है कि तुमने गलत समझा है। जब माताजी बहुत जल्दी में होती हैं तब वे इस तरह जल्दी मचाती हैं और नीचे ही देखती रहती हैं। यह बात केवल तुम पर ही नहीं, सभी पर लागू होती है। माताजी साधारणतः जाते समय किसी की ओर नहीं देखतीं। उनकी आंखें दो-चार लोगों पर शायद पड़ जाती हैं। लेकिन इसका कोई अभिप्राय नहीं होता।

'नयी कोपलें' :

शीशा

वह देखो, क्या जगमगा रहा है ? स्वर्णिम नक्काशी से रंजित यह एक खूबसूरत शीशा है जो सूरज की किरणों को अपने में समाना चाह रहा है। मगर यह चंचल रौशनी इस खेल में निपुण है। वह कुशलता से भाग निकलती है। इस शीशे को शिल्पी ने पूर्णता से रचा है और सब इसकी तरफ आकर्षित हो जाते हैं। इसे देखते ही मन बहल जाता है और इसे जितना सराहो, कम है। इसकी खूबसूरती जन्नत के उस अनोखे चांद की याद दिलाती है।

मगर अचानक उसमें किसी हाथ की लापरवाही से एक दरार पैदा हो जाती है। चाहे वह जितनी भी छोटी हो, शीशे का सौन्दर्य बिखर जाता है और एक हसीन आफ़ताब की जगह एक मामूली-सा कांच का टुकड़ा बन जाता है जिसकी कोई कदर नहीं करता और जो आखिर में चूर चूर हो जाता है।

हमारा दिल भी एक शीशा है जिसे खुदा ने अपने रंग में रंगा है। सबका मित्र है यह। माज़ी की यादों और आनेवाले कल के ख्वाबों को समेटकर न जाने कितने नगमे रचाता है। हमारे अंदर यह ईश्वर की पुकार है, सदा है जो एक रौशन शमा की तरह प्रज्वलित रहती है। परंतु एक समय आता है जब अचानक किसी की छोटी-सी लापरवाही उसे छू जाती है और उसमें दरार पैदा कर जाती है। तब दिल के सारे ख्वाब, सारी खुशियां एक साये की तरह उसके आगे-पीछे भागती हैं, मगर उसमें समा नहीं

पातीं। एक मुस्कुराती शिखा की जगह दिल एक दीप रह जाता है, तनहा, अकेला। गम से खामोश वह दुनिया से मुंह मोड़ लेता है और बिना किसी आरज़ू के एक बिछुड़ी हुई कश्ती की तरह जिन्दगी के सफर में भटकता रहता है। क्या यह शीशे की भांति धीरे-धीरे चूर हो जायेगा ? या फिर कोई है जो इस बुझे दीप को एक नये आगाज़ की तरफ फिर से रौशन करेगा ?

—सुरुचि वर्मा

श्रीअरविन्द का कार्य और उनकी शिक्षा

श्रीअरविन्द का कार्य है एक अनोखा पार्थिव रूपांतर।

*

श्रीअरविन्द ने अतिमानसिक चेतना को मानव शरीर में अवतरित किया। उन्होंने लक्ष्य तक पहुंचने के लिये जिस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये उसकी प्रकृति और उसपर चलने का तरीका भी बताया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी व्यक्तिगत उपलब्धि के द्वारा हमारे सामने उदाहरण भी रखा; उन्होंने हमारे सामने प्रमाण रखा कि यह किया जा सकता है और बताया कि उसे करने का समय यही है।

*

क्षण-भर के लिये यह विश्वास करने में न हिचकिचाओ कि श्रीअरविन्द ने परिवर्तन का जो महान् कार्य ले रखा है उसकी पूर्णाहुति सफलता में ही होगी। क्योंकि यह वस्तुतः एक तथ्य है : हमने हाथ में जो काम लिया है उसके बारे में संदेह की कोई छाया भी नहीं है . . .। रूपांतर होनेवाला है : कोई चीज उसे नहीं रोक सकती, सर्वशक्तिमान् के आदेश को कोई विफल नहीं कर सकता। समस्त शंकाशीलता और दुर्बलता को उठा फेंको और उस महान् दिवस के आने से पहले, जब यह लंबा युद्ध चिर-विजय में बदल जायेगा, कुछ समय वीरता के साथ सहन करने का निश्चय करो।

*

हमें श्रीअरविन्द पर श्रद्धा है।

वे हमारे लिये उस चीज के प्रतिनिधि हैं जिसे हम अपने लिये शब्दों के द्वारा गढ़ते हैं, जो हमें अपने अनुभव को व्यक्त करने के लिये अधिक-से-अधिक यथार्थ मालूम होते हैं। स्पष्ट है कि ये शब्द अपने अनुभव को रूप देने के लिये हमारी दृष्टि में अच्छे-से-अच्छे हैं।

लेकिन अगर हम अपने उत्साह में यह विश्वास कर लें कि ये शब्द ही, श्रीअरविन्द क्या हैं और उन्होंने हमें क्या अनुभूति दी है इसे व्यक्त करने के लिये उपयुक्त हैं, तो हम मतांध बन जायेंगे और एक धर्म की नींव डालने की तैयारी में होंगे।

जिसे आध्यात्मिक अनुभूति और श्रद्धा हो, वह उसे अपने योग्य सबसे अधिक उपयुक्त शब्दों में रूपान्वित करता है।

लेकिन अगर उसे यह विश्वास हो कि इस अनुभूति और श्रद्धा को रूपान्वित करने के लिये बस यही एकमात्र शुद्ध और उपयुक्त रूप है, तो वह मतांध बन जाता है और एक मत बनाने की ओर प्रवृत्त होता है।

*

हर एक के अपने विचार होते हैं और वह श्रीअरविन्द के लेखों में से अपने विचारों का समर्थन करनेवाले वाक्य खोज निकालता है। जो लोग इन मतों का विरोध करते हैं वे भी उनके लेखों से अनुकूल वाक्य पा सकते हैं। पारस्परिक विरोध इसी तरह काम करते हैं। जबतक वस्तुओं के बारे में श्रीअरविन्द की समग्र दृष्टि को न लिया जाये तबतक सचमुच कुछ नहीं किया जा सकता।

(१० अक्तूबर, १९५४)

संभवन की शाश्वतता में प्रत्येक अवतार एक अधिक पूर्ण सिद्धि का उद्घोषक और अग्रदूत होता है।

फिर भी लोगों में हमेशा यह वृत्ति रहती है कि भविष्य के अवतारों के विरुद्ध भूतकाल के अवतार की पूजा करें।

अब फिर से श्रीअरविन्द आगामी कल की उपलब्धि की जगत् के सामने घोषणा करने आये हैं; और फिर से उनके संदेश का उसी तरह विरोध हो रहा है जैसा उनसे पहले आनेवालों का हुआ था।

लेकिन आगामी कल उनके द्वारा प्रकाश में लाये गये सत्य को प्रमाणित करेगा और उनका कार्य पूरा होगा।

(२१ फरवरी, १९५७)

*

तुम्हारी मुख्य भूल यह थी कि तुमने श्रीअरविन्द की शिक्षा को आध्यात्मिक शिक्षाओं में से एक मान लिया—और यहां होनेवाले कार्य को भागवत कार्यों के बहुत से पहलुओं में से एक जाना।

इसने तुम्हारी आधारभूत स्थिति को मिथ्या बना दिया और यही सभी कठिनाइयों और गड़बड़ों का कारण है।

अगर तुम्हारे मन और तुम्हारी वृत्ति में यह भूल ठीक कर दी जाये तो दूसरी सब कठिनाइयां आसानी से गायब हो जायेंगी।

तुम्हें यह समझ लेना चाहिये कि विश्व-इतिहास में श्रीअरविन्द जिस चीज के प्रतिनिधि हैं, वह कोई शिक्षा नहीं है, कोई अंतःप्रकाश भी नहीं है; यह सीधा परम प्रभु से आया हुआ निर्णायक कार्य है।

और मैं बस उस कार्य को पूरा करने की कोशिश कर रही हूं।

(१९६१)

*

एक मित्र के गांधीजी के बारे में लिखे गये निबंध की आलोचना करते हुए मैंने अहिंसा तथा कुछ अन्य सिद्धांतों पर श्रीअरविन्द के उद्धरण दिये थे। इन विषयों को गांधीवाद में "स्वतः प्रमाण" माना जाता है। मेरे मित्र ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि श्रीअरविन्द के लिये आदर-सम्मान के कारण मुझे अन्य महापुरुषों के बारे में अंधा न हो जाना चाहिये : उसके अनुसार, सभी ने 'सत्य' की झांकी पायी है। मुझे लगा कि औरों के साथ श्रीअरविन्द की बात रखकर मैंने भूल की। मैं इस बारे में विस्तार से उत्तर देना चाहता हूं। लेकिन मैं तभी लिखूंगा जब आपकी स्वीकृति मिल जाये। अगर आप अपना उत्तर दे सकें तो मुझे बहुत खुशी होगी।

सत्य तक पहुंचने और उसे अभिव्यक्त करने के लिये मानवजाति ने जो प्रयत्न किया है उसमें उन सबका स्थान है जिन्होंने कोई शोध-कार्य किया है, वह चाहे जितना छोटा क्यों न हो, और गांधी उनमें से एक हैं।

लेकिन हमेशा यह बड़ी भूल होती आयी है कि इन आंशिक शोधों को परम सामंजस्य में एक करने की जगह इनका विरोध किया गया है। इसीलिये मानवजाति अभीतक अंधेरे में टटोल रही है।

श्रीअरविन्द यह प्रकट करने के लिये आये हैं कि यह परम सामंजस्य विद्यमान है। वे हमें उसे खोजने का मार्ग दिखाने आये हैं।

(मार्च, १९७०)

(एक समस्या के बारे में)

तुम्हें श्रीअरविन्द की चीजें पढ़कर उत्तर जान लेना चाहिये।

(१९ अक्तूबर, १९७२)

*

अगर कोई सावधानी से श्रीअरविन्द की चीजें पढ़े तो वह जो कुछ जानना चाहे उसका उत्तर मिल जाता है।

(२५ अक्तूबर, १९७२)

*

श्रीअरविन्द ने सभी विषयों पर जो कुछ कहा है उसका सावधानी के साथ अध्ययन करने से तुम इस जगत् की सभी चीजों के पूर्ण ज्ञान तक पहुंच सकते हो।

*

श्रीअरविन्द का अध्ययन करो और उनकी साधना का अनुसरण करो।

—'श्रीमातृवाणी' खण्ड १३

प्राण : एक अनिवार्य यंत्र

प्राण एक अनिवार्य यंत्र है—इसके बिना कोई सृष्टि या कोई प्रबल कर्म संभव नहीं है। बस, प्रश्न है इस पर प्रभुत्व पाने और इसे सच्चे प्राण के रूप में परिवर्तित कर देने का। यह सच्चा प्राण ही एक साथ प्रबल और प्रशांत और महान् तीव्र कर्म में समर्थ और अहं से मुक्त होता है।

*

प्राण का परिवर्तन होने पर—सच्चे प्राण के निकट होने पर, जो भगवान् का, केवल भगवान् का सबल, उदार, शांत और इच्छुक यंत्र है—अंध प्राण-शक्ति से अवश्य मुक्ति प्राप्त होगी।

*

प्राण एक अच्छा यंत्र है पर बुरा मालिक है। यदि तुम इसे इसकी रुचि और अरुचि, इसकी मौजों, इसकी कामनाओं, इसके बुरे अभ्यासों का अनुसरण करने दो तो यह तुम्हारा मालिक बन जायेगा और सुख-शांति प्राप्त करना फिर संभव न रहेगा। उस समय यह तुम्हारा यंत्र नहीं बनता और न भागवत शक्ति का ही यंत्र बनता है, बल्कि अज्ञान की किसी शक्ति का अथवा किसी विरोधी शक्ति का भी यंत्र बन जाता है जो इसे पकड़ सकती और इसका उपयोग कर सकती है।

*

प्राण में स्थित प्राण-शक्ति जड़-जगत् और भौतिक प्रकृति के अंदर होनेवाले भागवत शक्ति के सभी कर्मों के लिये अनिवार्य यंत्र है। अतः तभी जब यह प्राण रूपांतरित हो जायेगा और भागवत शक्ति का शुद्ध और सबल यंत्र बन जायेगा, दिव्य जीवन प्राप्त हो सकेगा। केवल तभी भौतिक प्रकृति का सफल रूपांतर साधित हो सकेगा या बाह्य जगत् में मुक्त-पूर्ण दिव्य कर्म संसिद्ध हो सकेगा। अभी हमें जो साधन प्राप्त हैं उनके द्वारा ऐसा कोई कार्य करना असंभव है। . . .

परंतु इस बात को सदा स्मरण रखना होगा कि मनुष्य की प्राण-सत्ता और प्राण-शक्ति भागवत ज्योति से पृथक् हैं और इस प्रकार पृथक् होने के कारण वे किसी भी शक्ति के, जो उन्हें अधिकृत कर सके, चाहे वह ज्योतिपूर्ण हो या अंधकारपूर्ण, दिव्य हो या अदिव्य, यंत्र होती है। सामान्यतया प्राण-शक्ति मानव-मन और मानव-प्राण की साधारण अंधकारपूर्ण या अर्ध-सचेतन क्रियाओं की, उसके सामान्य भावों, हितों, आवेगों और कामनाओं की सेवा करती है। परंतु प्राण-शक्ति के लिये यह संभव है कि वह साधारण सीमाओं से परे वर्द्धित हो और, यदि वह इस प्रकार वर्द्धित हो तो, वह अपनी शक्तियों का एक ऐसा संवेग, एक तीव्रता, एक उत्तेजना या उन्नयन प्राप्त कर सकती है जिसकी सहायता से यह या तो भागवत शक्तियों का, देवताओं की शक्तियों का अथवा आसुरिक शक्तियों का यंत्र बन सकती या बनने के लिये प्रायः बाध्य हो सकती है। अथवा, यदि प्रकृति में कोई केंद्रीय सुदृढ़ संयम न हो तो उसका कार्य इन दोनों विपरीत चीजों का अस्तव्यस्त मिश्रण हो सकता है, अथवा क्रम-हीन डांवांडोल स्थिति में रहकर वह कभी एक की और कभी दूसरे की सेवा कर सकती है। इसलिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि तुम्हारे अंदर एक महान् प्राण-शक्ति कार्य करे; उसे उच्चतर चेतना के संपर्क में रखना होगा, उसे सच्चे संयम के प्रति समर्पित करना होगा, उसे भगवान् के शासन के अधीन

लाना होगा। यही कारण है कि कभी-कभी प्राण-शक्ति के कार्य के प्रति तिरस्कार का या स्वयं उसके प्रति निरादर का बोध होता है क्योंकि उसमें ज्योति और संयम पर्याप्त नहीं हैं और वह एक अज्ञानपूर्ण अदिव्य व्यापार के साथ घनिष्ठ रूप से युक्त है। यह भी एक कारण है कि उसे उच्चतर मूल से आनेवाली अंत:प्रेरणा और शक्ति की ओर उद्घाटित करने की आवश्यकता है। प्राण-शक्ति स्वयं अपने-आपमें कहीं नहीं ले जाती, नानाविध, बहुधा कष्टपूर्ण और विनाशकारी वृत्तों में चक्कर काटती है, यहांतक कि पहाड़ की कगार तक ले जाती है, क्योंकि इसे समुचित पथ-प्रदर्शन नहीं प्राप्त है; इसे उच्चतर चेतना की सक्रिय शक्ति के साथ तथा एक महान् और उज्ज्वल उद्देश्य के लिये इसके द्वारा कार्य करनेवाली भागवत शक्ति के साथ संयुक्त कर देना होगा।

इस संपर्क को स्थापित करने के लिये दो क्रियाएं आवश्यक हैं। पहली है ऊर्ध्वमुखी; प्राण उच्चतर चेतना के साथ युक्त होने के लिये ऊपर उठता है, अपने-आपको उच्चतर शक्ति की ज्योति और संवेग में डुबो देता है। दूसरी है निम्नमुखी; प्राण नीरव, प्रशांत, विशुद्ध, सामान्य गतियों से शून्य, प्रतीक्षा करता रहता है जबतक कि ऊपर से सक्रिय शक्ति उसमें नहीं उतरती, उसके सच्चे स्वरूप में उसे बदल नहीं देती और ज्ञान तथा शक्ति के द्वारा उसकी वृत्तियों को स्पंदित नहीं कर देती। यही कारण है कि कभी-कभी साधक यह अनुभव करता है कि वह एक अधिक सुखदायी और अधिक महान् चेतना में ऊपर उठ रहा है, एक अधिक ज्योतिपूर्ण राज्य और अधिक विशुद्ध अनुभूति में प्रवेश कर रहा है, पर कभी-कभी, इसके विपरीत, वह यह अनुभव करता है कि प्राण-भाग में लौट जाने की, वहां साधना करने की तथा उसके अंदर सच्ची चेतना को उतार लाने की आवश्यकता है। इन दो क्रियाओं के बीच वास्तव में कोई विरोध नहीं है; ये एक-दूसरे की पूरक और आवश्यक हैं, आरोहण दिव्य अवतरण को संभव बनाता है और अवतरण उस चीज को संपन्न करता है जिसके लिये आरोहण किया जाता है और जिसे आरोहण अनिवार्य बना देता है।

जब तुम प्राण के साथ उसके निचले स्तरों से ऊपर उठते हो और उसे चैत्य के साथ जोड़ देते हो तब तुम्हारा प्राण-पुरुष उस विशुद्ध अभीप्सा और भक्ति से भर जाता है जो चैत्य के लिये स्वाभाविक होती है। इसके साथ-ही-साथ प्राण-पुरुष इन सब भावों को अपनी निजी प्रचुर शक्ति प्रदान करता है, वह नीचे शरीर तक संपूर्ण प्रकृति के रूपांतर के लिये तथा जड़-भौतिक तक में दिव्य चेतना को उतार लाने के लिये उन्हें सक्रिय शक्ति बना देता है। जब वह केवल चैत्य पुरुष को स्पर्श ही नहीं करता बल्कि उच्चतर मन के साथ घुलमिल जाता है तब महत्तर ज्योति और ज्ञान के संपर्क में आने तथा उनका अनुसरण करने के योग्य बन जाता है। सामान्यतया, प्राण या तो मानव मन के द्वारा चालित होता है और उसके अधिक या कम अज्ञानपूर्ण आदेशों द्वारा शासित होता है, अथवा वह इन दोनों क्रियाओं को मिला-जुला देता है; क्योंकि साधारण मानव-मन इससे अच्छी क्रिया करने या पूर्ण पथ-प्रदर्शन के लिये अत्यंत अज्ञानपूर्ण होता है। परंतु जब प्राण उच्चतर मन के संपर्क में होता है तो फिर एक महत्तर प्रकाश और ज्ञान के द्वारा, एक अधिक सच्चे विवेक और दिव्य सत्य और भागवत संकल्प के किसी दिव्य संदेश के द्वारा परिचालित होना उसके लिये संभव हो जाता है। इस प्रकार चैत्य पुरुष और उच्चतर मन की आज्ञा का पालन जब प्राण करने लगता है तब यही होता है जीवन पर हमारी यौगिक चेतना के सक्रिय कार्य करने का आरंभ।

परंतु दिव्य जीवन के लिये यह भी पर्याप्त नहीं है। उच्चतर मानसिक चेतना के संपर्क में आना ही काफी नहीं है, यह तो केवल एक अनिवार्य स्थिति है। इसके लिये और भी ऊंचे तथा अधिक

शक्तिशाली क्षेत्रों से भागवत शक्ति का अवतरण होना चाहिये। इन अभीतक अदृश्य शिखरों से उतरनेवाली इस दिव्य शक्ति के बिना उच्चतर चेतना का अतिमानसिक ज्योति और शक्ति में, प्राण और उसकी शक्ति का भागवत शक्ति के विशुद्ध, विशाल, प्रशांत, तीव्र और शक्तिशाली यंत्र में, स्वयं शरीर का दिव्य ज्योति, दिव्य कर्म, शक्ति, सौंदर्य और आनंद में रूपांतरित होना संभव नहीं है। यही कारण है कि इस योग में भगवान् की ओर आरोहण ही, जो अन्य योग-मार्गों के जैसी ही चीज है, पर्याप्त नहीं है; मन, प्राण और शरीर की समस्त शक्तियों का रूपांतर करने के लिये भगवान् का अवतरण भी होना चाहिये।

—श्रीअरविन्द

'गैर्वाणी' :

वराणां वरः

भारतवर्षे एषा बहु-प्रचलिता कथा यदेकदा काचिद् दरिद्रान्धवृद्धा तपश्चरित्वा शिवं प्रासादयत्। सः आशुतोषः प्रकटीभूय अगदत्—"मातः ! प्रसन्नोऽस्मि तव पूजया। याचस्व वरमेकम्।"

ऊहापोहे पतिता सा अचिन्तयत्—"किं याचेय ? प्रासादम्, दासवर्गम्, वंशधरपौत्रम्, निजचक्षुषः ज्योतिः वा ?" चिन्तनाय नावर्तत अधिकसमयः किन्तु सा चतुरा वृद्धा मुहूर्तमात्रं विचार्य बद्धकरम् अवादीत्—"हे शुभङ्कर ! सौभाग्यशालिनी अहम्। मादृश्यै अकिञ्चनायै वरं प्रदातुं कैलास्तदवतीर्णः भगवान् ! अट्टालिकायाः छादे निजपौत्रं स्वर्णपात्रेण दुग्धं पिबन्तं पश्येयमहम् इति वरं प्राप्य अनुगृहीता भविष्याम्यहम्।"

"तथास्तु" कथयित्वा अन्तर्हितः आशुतोषः। धनसमृद्धिं, पौत्रं, चक्षुः—सर्वमयाचत वृद्धा एकेनैव वरेण—गर्गरः धृतसागरः !

एतादृशी एव वर्तते अन्या कथा यस्याः लेखकः श्रीमनोजदासः—

प्रजानां सुखदुःखे ज्ञातुकामः नृपः प्रायशः निजराज्ये छद्मवेशेन एकलः एव सर्वत्र अभ्रमत्। तस्मिन् निबिडान्धकारमये निशीथेऽपि सः अश्वमारुह्य विद्युद्वेगेन राज्यात् निर्गतः। मध्ये आसीत् वनम्। सूचीभेद्यः अन्धकारः। अविरतवृष्टिः। तदापि अश्वारूढः नृपः वनोपान्ते स्थितं ग्रामं प्रति सावधानः सन् क्षिप्रगत्या अगच्छत्। किमपि अवाञ्छितं न घटेत इति हृदि प्रच्छन्ना आशङ्का सत्यं फलीभूता एव। हठात् आत्मानं दस्युभिः समाक्रान्तं वीक्ष्य राजा झटिति खड्गं बहिरकरोत् किन्तु वृथा एव यतो हि ततोऽपि द्रुततरं कुतोऽपि प्रकटीभूय पञ्च अश्वारोहिणः तान् सर्वान् दस्यून् हत्वा राज्ञः प्राणरक्षामकुर्वन्। राजा चकितः। ते पञ्च आसन् नृपस्य विश्वस्ततमाः अङ्गरक्षकाः ये अज्ञातरूपेण दिवानक्तं तस्य छाया इव तमन्वसरन्।

स्वाभाविकं यत् नरेशः तेषां चिरकृतज्ञः अभवत्। प्रभातपर्यन्तं तु सम्पूर्णराज्ये पञ्चवीराणां शौर्यगाथा प्रसृता। परेद्युः तान् पुरस्कर्तुं नृपः राजसभायाम् अगदत्—"भो मे विश्वस्ताः अङ्गरक्षकाः ! सत्यमित्रतायाः परिचयः दत्तः युष्माभिः। याचेत प्रत्येकं निजप्रियतमवस्तु वररूपेण। प्रतिज्ञां करोमि यत् सामर्थ्ये सति अवश्यं प्रदास्यामि।"

तेषु एकः वीरः सुविचिन्त्य अवदत्—"राजन्। आशैशवात् महाप्रासादस्य स्वप्नमपश्यमहम्। विशाल-सौधं प्राप्य परिवारेण सह आजीवनं सुखेन स्थास्यामि।"

तत्कालं नृपः राज्यस्य उत्तमं स्थपतिमाहूय उचितनिर्देशनमददात्।

द्वितीयः वीरः उत्थाय विनम्रतया अयाचत—"महाराज! भूसम्पदं मन्त्रिपदं च प्राप्य आजीवनं भवतः कृतज्ञः भविष्यामि।" तस्यापि इच्छा तत्कालं परिपूरिता।

प्रणम्य तृतीयः अवदत्—"अन्नदातः। मम ग्रामस्य निर्धनकृषकाः धान्यविक्रयणाय ग्रामात् नगरमायन्ति। अकुट्टिमे विषमे च मार्गे प्रतिवर्षं बहवः दुर्घटनाः जायन्ते। वरं याचेऽहं यत् सः मार्गः प्रशस्तः सुदृढश्च स्यात्।"

परोपकारिणः वीरस्य सौहार्दं बहुशः प्रशस्य नरेशः तत्कालं मार्गरचनायापि आदेशं दत्तवान्।

चतुर्थः रहसि निजकामनां प्राकाशयत्—"हे रक्षकः! महामन्त्रिणः सुशीलां, गुणवतीं कन्यां वधूरूपेण प्राप्य चिरकृतार्थो भविष्यामि।" महामन्त्रिणा सह परामृश्य तस्यापि इच्छापूर्तिं भूपतिः कृतवान्।

वारे आगते अन्तिमः वीरः साष्टाङ्गं प्रणम्य वरमयाचत—"भगवन्! इच्छाम्यहं यत् भवान् वर्षे दिनमेकं मम गृहे अतिथिरूपेण तिष्ठतु।"

तस्य अपूर्वयाचनेन विस्मिताः सर्वे। केचन तं मूर्खम् अचिन्तयन् अन्ये च उन्मादिनम्। स्वयं राजा तेन विचित्रवरेण आश्चर्यान्वितः। किन्तु आसीदस्य दानं पूर्णतया नृपस्य सामर्थ्याधीनम् अतः सः सहर्षं तथास्तु इति अभणत्।

प्रथमचतुर्वीराणां कथा अत्रैव समाप्यते। पञ्चमस्य श्रूयतामग्रे—वर्षे दिनमेकम् अतिथिरूपेण राज्ञः पदार्पणाय प्रासादस्य विभिन्नविभागाः कार्ये संलग्नाः।

सर्वप्रथमम् आवश्यकता जाता वीरस्य गृहपर्यन्तं गमनाय राजमार्गस्य। अविलम्बं सञ्जातः सः। परं प्रश्नः उद्भूतः गृहस्य। तस्य लघु-गृहे कथं स्यात् भूपतेः वासः? अतः नरेशानुकूलः प्रासादोऽपि अचिरमेव रचितः। महासौधस्य अनुरक्षणाय दासदासीनां समूहोऽपि समागतः राजकोषात् प्रचुरधनवृष्टिश्चारब्धा। महाराजः सामान्यजनस्य गृहं प्रतिवर्षम् अतिथिः भूत्वा गच्छति इति जनपरिवादं निवारयितुं पूर्वतः एव कुलगुरुः तं पञ्चमं वीरं उपाधिभिः व्याभूषयत्।

अधुनापि अवर्तत एकः अभावः। नृपोचितेन आचारव्यवहारेण सर्वथा अनभिज्ञस्य वीरस्य गृहे नासीत् कोऽपि ईदृशः यः तं महाराजस्य रुच्याः अरुच्याः वा परिचयं दातुं शक्नुयात्। राजकन्यां विहाय कः स्यादेतेषु विषयेषु निष्णातः? अथ अचिरमेव वधू-रूपेण पदार्पणमभवत् राजकुमार्याः तस्मिन् महाप्रासादे।

अथ स्वयं राजानम् प्राप्तुम् इच्छुकः सः वीरः अनायासं धनसमृद्धिम्, अट्टालिका-प्रासादम्, उपाधिम्—सर्वमेव, अयाचितमपि प्राप्नोत्।

भो बालकाः! अपि परिलक्षितम् अस्याः कथायाः गर्भे निहितं बहुमूल्यरत्नम्?

वराणां वरम् इति महत्तमं वस्तु याचित्वा अस्माकं कथानायकः तत् सर्वं प्राप्नोत् यत् पृथक्शः तस्य मित्राणि अयाचन्त। वस्तुतः ततोऽपि अधिकम् अलभत सः। सर्वथा तथैव यथा कोऽपि ईश्वरभक्तः भगवन्तं धनं याचते, अन्यः शान्तिम्, तृतीयश्च तस्य प्रेमसागरे अवगाहनम् अपरश्च भक्तिगङ्गायां स्नात्वा आत्मनः पवित्रीकरणम्। किन्तु किं कदापि चिन्तितमस्माभिः यत् एतान् आंशिकपदार्थान् विसृज्य यदि वयं प्रभुरूपिणं विशालसागरं प्रति निजहृदयम् उद्घाटयेम तर्हि सः ईश्वरः निजसम्पूर्ण-ऐश्वर्येण प्रतिष्ठितेत नः हृदये। तदानीं तटस्थ-लघु-तरङ्गाणाम् आचमनाय कः नमेत्?

वरों का वर

भारतवर्ष की एक बहुत प्रचलित कहानी है कि शिवजी की एक भक्त अंधी, गरीब बूढ़ी माई के सामने आशुतोष प्रकट हुए और बोले, 'माई, मैं तेरी भक्ति से प्रसन्न हुआ, बोल क्या चाहती है ? एक वर देने के लिये मैं तेरे सामने उपस्थित हो गया हूं।''

बुढ़िया बड़े असमंजस में पड़ गयी—महल मांगे, नौकर-चाकर मांगे, अपने वंश को चलाने के लिये एक पोता मांगे या नेत्रों की ज्योति मांगे ?

"मांगू तो आखिर क्या मांगू'' ? सोच-विचार करने का समय न था। लेकिन बूढ़ी माई ने उन कुछ क्षणों में विचार कर लिया, बोली—"नाथ ! बड़भागी हूं मैं, मुझ अकिंचन को वर देने आप गोलोक से उतर आये। देव, मुझ अभागिन पर बस इतनी सी दया कीजिये कि मैं अपने महल की अटारी पर सोने के बर्तन में अपने पोते को दूध पीता देख सकूं।''

तथास्तु कहकर शिवजी अन्तर्धान हो गये। सोना, चांदी, पोता, दृष्टि सब मांग ली बूढ़ी माई ने अपने एक वर में।

इसे कहते हैं गागर में सागर।

इसी तरह की एक और कहानी सुनते चलिये जिसके लेखक श्री मनोज दास हैं—

घनघोर घटा से घिरी थी वह रात। उस प्रदेश के राजा रात में छद्मवेश धारण कर प्रायः अपनी प्रजा का सुख-दुःख जानने के लिये निकल पड़ते थे। साथ में कोई दूसरा न होता था। उस रात को भी दूर गांव में जाने के लिये उन्होंने अपने घोड़े को एड़ लगायी और वह हवा से बातें करने लगा। जंगल का घुप् अंधेरा, आसमान से लगी बरसात की झड़ी, हाथ को हाथ न सूझता था, लेकिन नृप अपने सधे हुए घोड़े की सहायता से लक्ष्य की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहे थे। हृदय के कोने में किसी अनहोनी की आशंका तो छिपी हुई थी और वही घटी। अचानक राजा ने अपने-आपको डाकुओं से घिरा पाया। उन्हें म्यान से अपनी तलवार भी न खींचनी पड़ी क्योंकि बिजली की तेजी से पांच घुड़सवार प्रकट हो गये और उन्होंने देखते-न-देखते सभी डाकुओं को मौत के घाट उतार दिया।

वे थे राजा के विश्वस्त अंगरक्षक जो महाराज के बिना जाने उनकी रक्षा के लिये चौबीसों घंटे छाया की तरह लगे रहते थे।

स्वाभाविक था कि महाराज बहुत ही प्रसन्न हो उठे। अगले दिन सवेरे तक सारे राज्य में उन वीर अंगरक्षकों की गाथा के गुणगान गाये जा रहे थे। राजा ने उन्हें पुरस्कृत करने के लिये राज-दरबार में बुलाया।

"मित्रो, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूं। तुम में से हर एक वह चीज मांग ले जो उसे सबसे अधिक प्रिय हो, सबसे अधिक मूल्यवान् हो। मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि अपनी क्षमता और पहुंच के भीतर होने पर मैं तुम्हें वह अवश्य प्रदान करूंगा।''

एक वीर ने सोच-विचार कर कहा—"राजन् ! बचपन से मेरी राजप्रासाद में रहने की कामना थी, क्या आप मेरे लिये एक महल बनवा देंगे ?''

उसी क्षण राजा ने अपने स्थपतियों को बड़ा-सा महल बनाने का आदेश दे दिया।

दूसरे ने याचना की—"महाराज ! जागीर, सम्मान, मन्त्रिपद मिल जाये तो आजीवन आपका आभारी रहूंगा।''

क्षण भर में उसकी इच्छा भी चरितार्थ हो गयी।

तीसरे ने झुक कर निवेदन किया—"प्रभो ! मेरे गांव के गरीब किसान अपना अनाज बेचने शहर आते हैं। गांव से शहर तक का रास्ता इतना ऊबड़-खाबड़ और कच्चा है कि हर साल कई दुर्घटनाएं हो जाया करती हैं। कृपया उसे पक्का बनवा दीजिये।

परोपकारी वीर के वर की हृदय से प्रशंसा की महाराज ने और चुटकी बजाकर इस काम को भी करने का आदेश दे दिया।

चौथे ने अपनी चाह एकांत में प्रकट करनी चाही। उसने महामन्त्री की गुणवती, सुन्दरी कन्या का हाथ मांगा। महामन्त्री के साथ सलाह कर उसकी भी इच्छापूर्ति हो गयी।

पांचवे यानी अंतिम वीर की बारी आयी तो उसने वर मांगा, "राजन्, मेरी आपसे केवल यही विनती है कि आप साल में एक दिन मेरे अतिथि बनकर मेरे घर पर रहिये।"

उसकी यह अनोखी मांग सुनकर वहां उपस्थित सभी की त्यौरियों पर बल पड़े, कइयों ने उसे मूर्ख समझा औरों ने सनकी। स्वयं राजा भी इस अनोखी मांग से आश्चर्य में पड़ गये। लेकिन यह तो उनके सामर्थ्य की बात थी अतः "ऐसा ही होगा" कहकर खुशी खुशी स्वीकार कर ली।

पहले चारों की कहानी तो पूरी हो गयी लेकिन हमारे पांचवे वीर की आगे बढ़ी—

साल में एक बार पांचवे वीर के घर पर राजा के पधारने के लिये राजदरबार के विभिन्न विभाग अपने-अपने कार्य में जुट गये।

सबसे पहले आवश्यकता थी उस गांव तक जाने के लिये पक्की, सुन्दर सड़क की। आनन-फानन वह बनकर तैयार हो गयी, फिर सवाल उठा मकान का। वीर का साधारण घर था, राजा के सम्मान के योग्य प्रासाद बनकर तैयार हो गया। इतने बड़े महल के रख-रखाव के लिये वहां दास-दासियों की टोली भी जुट गयी और राजकोष से धन की वर्षा भी होने लगी। महाराज की सवारी किसी ऐरे-गैरे के यहां तो जा नहीं सकती अतः उस वीर को जल्दी ही महाराज की ओर से उपाधियां भी मिल गयीं।

कहानी और आगे बढ़ती है क्योंकि अभी एक और चीज की कमी महसूस की जाने लगी। राजकीय तौर-तरीकों को जाननेवाले किसी ऐसे कुशल व्यक्ति की भी उस महाप्रासाद में अनिवार्यता हो उठी जो राजा की भोजन-रुचि उनकी दूसरी आवश्यकताओं का समुचित प्रबंध कर सके। स्वयं राजकुमारी से बढ़कर इस विषय में और कौन निष्णात हो सकता था भला। दो-तीन महीनों के अंदर-ही-अंदर वधू-रूप में राजकुमारी का उस महल में पदार्पण हो गया। इस तरह स्वयं राजा को अपने यहां चाहनेवाले को धन-दौलत, महल-दोमहले, उपाधि आदि चीजें अनायास, बिन मांगे मिल गयीं।

क्या तुमने कभी सोचा है बच्चो कि यह कहानी अपने गर्भ में कौन-सा बहुमूल्य रत्न छिपाये हुए है ?

वरों का वर अर्थात् सबसे महत्त्वपूर्ण सौगात मांगकर उस वीर ने वह सब पा लिया जो उसके साथियों को अंशतः मिला था। वस्तुतः उसने तो उससे कहीं अधिक पा लिया। ठीक उसी तरह जैसे कोई भगवान् से धन मांगता है, कोई शांति, कोई प्रेम के सागर में डूब जाना चाहता है, तो कोई भक्ति की गंगा में डुबकी लगाकर पवित्र होना चाहता है, लेकिन क्या हमने कभी सोचा है कि इन सब आंशिक चीजों को छोड़कर अगर हम प्रभुरूपी विशाल सागर के लिये अपना हृदय खोल दें, उस जल से ओत-प्रोत हो जायें तो तट पर बिखरी हुई लहरियों का आचमन करने के लिये झुकने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

—वन्दना

पुस्तक-परिचय

'पुष्प-गुच्छ' पुस्तक में श्रीअरविन्द की कुछ छोटी कविताओं का हिन्दी में अनुवाद है, माताजी की कुछ प्रार्थनाओं का अनुवाद है तथा कुछ स्वयं लेखक यानी श्री छोटेनारायण शर्मा जी की कविताएं हैं। इसके प्रकाशक हैं देवड़ा सेवा निधि, कलकत्ता तथा मूल्य है ७५ रु.।

यथा नाम तथा रूप बन पड़ी है यह पुस्तक। वैसे श्रीअरविन्द की कृतियों को अनुवाद के लिये हाथ में लेना अपने-आपमें एक साहसिक अभियान है जिसे लेखक ने कुशलतापूर्वक निभाया और सोने में सुहागा यह कि उन्होंने पुस्तक में अंग्रेजी मूल और हिन्दी अनुवाद साथ-साथ दिया है ताकि पाठक दोनों का रस ले सकें। स्वयं लेखक कहते हैं कि श्रीअरविन्द वाणी के शिल्पकार हैं...। उनकी छोटी कविताओं का भी मोल आंकना संभव नहीं...। उनके रूप-रंगों का अपरिमेय विस्तार, बिम्बों की बहुआयामी व्यंजना, भावों का अतल गांभीर्य और साथ ही उनका सहज प्रसाद और बोधगम्यता—सब मिलाकर हम कविता के एक आश्चर्य से भरे लोक में प्रवेश करते हैं...।

लेखक के साथ-साथ प्रकाशक भी प्रशंसनीय हैं जिन्होंने सुन्दर साज-सज्जा के साथ पुस्तक को चित्ताकर्षक बना दिया है। आजकल की छपाई, कागज के दाम इत्यादि को देखकर पुस्तक का मूल्य भी अधिक नहीं कहा जा सकता।

सब मिलाकर 'पुष्प गुच्छ' सुन्दर बन पड़ा है जो अपनी सुरभि साहित्य के आंगन में बिखेरता रहेगा।

तुम किसी को कोई अच्छी सलाह तबतक नहीं दे सकते जबतक स्वयं अपने-आपको न दे लो और उसके अनुसार आचरण न करो।

—श्रीमाँ

A new world, based on Truth and refusing the old slavery to falsehood, wants to take birth.

In all countries there are people who know it, at least feel it.

To them we call.

"Will you collaborate?"

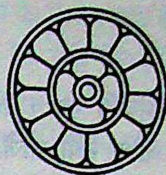
1972 The Mother

यदि तुमने भगवान् को चुना है तो इसका कारण है कि भगवान् ने तुम्हें चुन लिया है।

—श्रीमां

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये।

—श्रीमां



प्रार्थना और ध्यान

१३ जून १९१४

सबसे पहले ज्ञान को जीतना चाहिये यानी हमें तुझे जानना सीखना चाहिये, तेरे साथ युक्त होना सीखना चाहिये और इस लक्ष्य को पाने के लिये सभी साधन अच्छे हैं और उनका उपयोग किया जा सकता है। लेकिन यह मान लेना बड़ी भूल होगी कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के साथ सब काम पूरा हो जायेगा। सिद्धांत रूप में सब कुछ पूरा हो जाता है, परिकल्पना के रूप में विजय-लाभ होता है और जिनका उद्देश्य केवल अपनी मुक्ति के लिये अहंकारमयी अभीप्सा हो वे इससे संतुष्ट हो सकते हैं और केवल इसी सायुज्य में और इसी के लिये जी सकते हैं, उन्हें तेरी अभिव्यक्ति की तनिक भी परवाह न होगी।

लेकिन जिन्हें तूने धरती पर अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किया है, वे इस तरह से प्राप्त परिणाम से संतुष्ट नहीं हो सकते। पहले-पहल और सबसे पहले तुझे जानना होगा, हां, लेकिन एक बार तेरा ज्ञान प्राप्त हो जाये तब तेरी अभिव्यक्ति का पूरा काम बचा रहता है; और फिर बीच में आ जाते हैं इस अभिव्यक्ति के गुण, शक्ति, जटिलता और पूर्णता। बहुधा जिन्होंने तुझे जान लिया है वे उस ज्ञान से चौंधियाये हुए तथा आनंद-विभोर रहते हैं, वे अपने लिये तुझे देखकर और किसी-न-किसी तरह अपनी बाह्यतम सत्ता में तुझे प्रकट करके संतुष्ट हो जाते हैं। जो तेरी अभिव्यक्ति में पूर्ण होना चाहता है इससे संतुष्ट नहीं हो सकता; उसके लिये जरूरी है कि वह तुझे सभी भूमिकाओं पर, सत्ता की सभी अवस्थाओं में प्रकट करे और इस भांति उसने जो ज्ञान अर्जित किया है उसका सारे विश्व के लिये अच्छे-से-अच्छा उपयोग करे।

इस कार्यक्रम की विशालता के आगे सारी सत्ता उल्लसित हो उठती है और तेरे आगे खुशी के गीत गाती है।

समस्त प्रकृति सनातन क्रियाशीलता में है, पूरी तरह तेरी सर्वोच्च शक्तियों से स्पंदित है, उनकी प्रेरणा को प्रत्युत्तर देती है और उनके द्वारा आलोकित और रूपांतरित होना चाहती है...

तू जगत् का स्वामी और उसकी एकमात्र सद्‌वस्तु है।

—श्रीमां

दैनन्दिनी

सितम्बर

१. वर दे कि हम डटे रहने का प्रयास करनेवाले भूत के विरुद्ध, सफलतापूर्वक उस भविष्य का युद्ध लड़ सकें जो अभी जन्म लेने को है ताकि नयी चीजें अभिव्यक्त हो सकें और हम उन्हें ग्रहण करने योग्य बनें।

२. सत्य ही तुम्हारा स्वामी और तुम्हारा पथ-प्रदर्शक हो।

३. जब कोई सत्य में निवास करता है तो वह सभी विरोधों के ऊपर होता है।

४. केवल शांत स्थिरता में ही सब कुछ जाना और किया जा सकता है। जो कुछ उत्तेजना और उग्रता में किया जाता है वह मतिभ्रंश और मूर्खता है। सत्ता में भागवत उपस्थिति का पहला चिह्न है शांति।

५. विगत कल की सिद्धियां आगामी कल की उपलब्धियों की ओर छलांग लगाने के लिये लचकदार तख्ता हों।

६. सबसे अच्छे विद्यार्थी वे हैं जो जानना चाहते हैं, वे नहीं जो दिखाना चाहते हैं।

७. अगर चेतना के विकास को जीवन का मुख्य लक्ष्य मान लिया जाये, तो बहुत-सी कठिनाइयों का समाधान मिल जायेगा।

८. हमारा हर रोज और हर समय का प्रयास यही हो कि हम तुझे ज्यादा अच्छी तरह जान सकें और तेरी सेवा ज्यादा अच्छी तरह कर सकें।

९. विश्वास रखो कि तुम जब कभी मुझे बुलाते हो, मैं सुनती हूं और मेरी सहायता और मेरी शक्ति सीधी तुम्हारी ओर जाती हैं।

१०. ... वह जो भगवान् के पथ पर चलता है, अपने प्रयास को कभी ढीला नहीं होने देता—चाहे जितने लंबे समय तक उसे प्रयास क्यों न जारी रखना पड़े।
चाहे उसे बहुत बार पराजय का सामना क्यों न करना पड़े, वह हमेशा अंतिम विजय के लिये संग्राम में लगा रहता है।
वह दूसरे के गुणों की प्रशंसा करता है और सफलता प्राप्त करने में दूसरों को सहायता देने के लिये हमेशा तत्पर रहता है।

११. तुम धरती पर आये हो अपने-आपको जानना सीखने के लिये।

१२. आत्मा के साथ संपर्क और सत्ता के सत्य के विकास और उसकी अभिव्यक्ति की परम आवश्यकता पर जोर दो।

१३. हमारा लक्ष्य सफलता नहीं है—हमारा लक्ष्य है पूर्णता।

१४. एक सच्चे और निष्कपट हृदय से हम सब विजय के लिये संकल्प करते हैं, लेकिन वह एक-एक चरण करके ही उपलब्ध हो सकती है। अध्यवसायपूर्ण अनुशासन पहला कदम है।

१५. प्रश्न—मैं केवल सुन्दर होना चाहता हूं।
उत्तर—सचाई के साथ शारीरिक व्यायाम करो और तुम सफल हो जाओगे।

१६. यह कभी न मानो कि तुम जानते हो। हमेशा ज्यादा अच्छी तरह जानने की कोशिश करो।

१७. मानव जीवन का लक्ष्य है भगवान् को खोजना और उन्हें अभिव्यक्त करना।

१८. वीर किसी चीज से नहीं डरता, किसी चीज की शिकायत नहीं करता और कभी हार नहीं मानता।

१९. अगर तुम्हें काम नापसंद है, तो तुम जीवन में हमेशा दुःखी रहोगे।

२०. इसी जीवन में तुम एक ही बार, हमेशा के लिये अटल रूप में अपने लक्ष्य का चुनाव कर सकते हो।

२१. व्यक्ति में यह विश्वास होना चाहिये कि चाहे जितना उपलब्ध हो चुका हो, फिर भी उसके अंदर इच्छा हो तो वह हमेशा ज्यादा अच्छा कर सकता है।

२२. एक अच्छा शिक्षक बनने के लिये गुरु की सूक्ष्म दृष्टि और उनका ज्ञान होना चाहिये और साथ ही सब कसौटियों के लिये धैर्य।

२३. हम यहां हैं ही कठिन काम करने के लिये। यदि हम वही दोहराते रहें जो दूसरे करते हैं तो इसकी सार्थकता ही क्या है; पहले ही दुनिया में बहुतेरे विद्यालय हैं।

२४. हमें अपनी संभावनाओं के प्रति सजग-सचेतन बना, अपनी कठिनाइयों के प्रति भी ताकि हम निष्ठा के साथ तेरी सेवा करने के लिये उन पर विजय पा सकें।

२५. सच्ची बुद्धिमानी तो यह है कि जो कुछ करो खुशी से करो, और यह संभव है यदि तुम जो कुछ करो उसे प्रगति का साधन बना लो।

२६. व्यक्ति को एकाग्र होना सीखना चाहिये और उसे सभी कार्य पूर्ण एकाग्रता के साथ करने चाहियें।

२७. सबके लिये सबसे अच्छा उपाय है, भगवान् के प्रति आत्म-निवेदन और उनकी अनंत कृपा पर विश्वास।

२८. प्रश्न—योग में श्रद्धा की ऐसी अनिवार्य आवश्यकता क्यों है?
उत्तर—क्योंकि हम एक ऐसे लक्ष्य के लिये प्रयास कर रहे हैं जैसा पहले कभी नहीं किया गया।

२९. सच्ची मनोवृत्ति तो यह होनी चाहिये कि जीवन सतत अध्ययन का क्षेत्र है जहां सीखना यह सोचकर कभी बंद नहीं करना चाहिये कि हमें जो कुछ जानना चाहिये वह सब हम जानते हैं। हम सदा अधिक सीख सकते हैं और ज्यादा समझ सकते हैं।

३०. तुम्हें एक चीज के बारे में बिलकुल सुनिश्चित रहना चाहिये। तुम्हारा भविष्य तुम्हारे अपने हाथों में है। तुम जो बनना चाहते हो वह अवश्य बनोगे। जितना ही ऊंचा तुम्हारा आदर्श होगा, जितनी ऊंची तुम्हारी अभीप्सा होगी उतनी ही ऊंची प्राप्ति हो सकेगी। लेकिन तुम्हें अपने निश्चय पर दृढ़ रहना होगा और जीवन में अपने सच्चे ध्येय को कभी नहीं भूलना होगा।



छोटी-सी सीख

"हम अधिकतर यह नहीं देखते कि हम कितने अव्यवस्थित हैं। हमारा सामान अस्त-व्यस्त रहता है। हमारे काम-काज भी बिखरे-बिखरे से रहते हैं। हमारा आंतरिक जीवन भी बाह्य जीवन की तरह अव्यवस्थित रहता है... अगर हमारा मस्तिष्क एक बाजार जैसा होता है तो हृदय पागलखाना...। माताजी अपने उपदेश और उदाहरण के द्वारा जो चीजें हमें सिखा रही हैं उनमें से एक है अपने बाह्य जीवन को और उसकी भौतिक चीजों को उचित व्यवस्था में साफ-सुथरा रखना। यह हमारे पार्थिव जीवन के लिये बहुत जरूरी है। माताजी ने हमें सावधानी के साथ चीजें बरतना सिखाया। वे अपनी चीजों का उपयोग केवल सावधानी से ही नहीं, लाड़ और प्यार से करती हैं...।"

—नलिनीकान्त गुप्त

योग में अधीरता

अधीरता योग से उल्टी चीज है। गीता ने साधक की पहली आवश्यकता बतलायी है समचित्तता, उतावली या उत्तेजना के बिना आत्मसंयम। कुछ वैष्णव संप्रदायों में अधीरता को बढ़ा-चढ़ा कर भागवत दर्शन के लिये आतुरता का रूप दे दिया है। इस तरह अधीरता के कब्जे में आना, प्रगति का निश्चित चिह्न माना जाता है। इस मनोभाव के परिणामस्वरूप अभिमान या रूठने की वृत्ति आती है जिसमें भक्त अपने भगवान् पर अधिकार जमाता है और बदले की आशा रखता है, उसकी इच्छा के अनुसार उत्तर न मिले तो रूठ जाता है। शायद यह कहने की जरूरत नहीं कि ऐसी चीजें साधक को भावुकता की ऐसी गलियों में भटका देती हैं जिनका योग के केंद्रीय प्रयोजन के साथ कोई संबंध नहीं।

माताजी ने बतलाया है कि अधीरता नकल की ओर ले जाती है, विशेष रूप से तब जब तुम्हें किसी अनुभूति की चाह हो, फिर वह चाहे भगवान् का अंतर्दर्शन हो, ज्ञान के प्रकाश की मांग हो या शक्ति आदि किसी चीज के अवतरण की। जब सत्ता में अनुभूति के लिये उतावली होती है तो प्राण मन पर सूक्ष्म दबाव डालता है, कल्पना आदि पर जोर डालता है, ताकि वे वांछित वस्तु की कल्पना कर लें और यह अचेतन या अर्द्ध चेतन रूप में अनुभूति जैसी कोई चीज हमारे सामने खड़े कर देती है। सब प्रकार की नकली अनुभूतियों के लिये द्वार खुल जाते हैं। हम तुरंत परिणाम पाने के मोह में, अपने झूठे उत्साह द्वारा इन चीजों को सच्ची अनुभूति मानकर उनके अंदर रम जाते हैं।

इस प्रकार की गलती इसलिये हो सकती है क्योंकि हमारी अधीरता से पैदा हुई बेचैनी चैत्य के विवेक को ढक लेती है। और चीज यहीं खतम नहीं हो जाती। भ्रांति बढ़ती जाती है और निश्चित मिथ्यात्व आ जाता है। हम पूरी तरह से आत्मनिष्ठ जगत् में रहना शुरू कर देते हैं जिसका सच्ची वस्तुस्थिति से कोई संबंध नहीं होता। हम अपने मिथ्यात्व पर लट्टू हो जाते हैं और अगर कोई हमारी भूल की ओर उंगली उठाये तो हम बिगड़ बैठते हैं। एक चीज दूसरी की ओर ले जाती है और हम जाल में फंस जाते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से अधीरता बचकानी चीज है। यह भगवान् पर विश्वास के अभाव का चिह्न है, आंतरिक शांति और श्रद्धा तथा तीव्र आशा और तुरंत निराशा से भरे बाहरी व्यक्तित्व के बीच असामंजस्य का लक्षण है।

—नलिनीकांत गुप्त

अमृत की यादें

(१२)

मद्रास में रहते हुए मुझे लोगों से मिलने का भी सुयोग प्राप्त हुआ। उनमें से कुछ थे—एनी बेसेंट, महात्मा गांधी, वा. रा. इत्यादि। लेकिन किसी ने मेरे हृदय का उस तरह स्पर्श न किया जिस तरह मेरे प्रभु ने मुझे आलिंगनबद्ध कर लिया था। मुझे ऐसा लगता था मानों मैं श्रीअरविन्द के साथ एकात्म हो गया हूं—कितने महान् थे मेरे स्वामी! वे तो अवतार थे! लेकिन हमारे साथ ऐसे घुल-मिल जाते थे मानों हममें से एक हों और उन्होंने मेरी आत्मा पर आधिपत्य कर लिया था। फिर मैं और किसी की तरफ कैसे आकृष्ट होता भला?

मद्रास में मेरे मित्रों ने मुझसे थियोसॉफिकल सोसायटी से जुड़ जाने को कहा और बाद में बहुतों ने महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन में भाग लेने को कहा, लेकिन मेरा मन इन सुझावों में कोई रस न लेता, कैसे लेता भला? जब कि मेरे स्वामी का आदेश कुछ और ही था, हालांकि उन्होंने स्पष्ट रूप से मुझसे कुछ न कहा था।

उस समय कई तथाकथित महान् आन्दोलन चल रहे थे, लेकिन वे मानव अंतरात्मा के सत्य को किसी भी तरह आलोड़ित न कर रहे थे। वे मानव मन के प्रकाश तले उठते और क्रियान्वित किये जाते। हम भी इनसे इसलिये आकर्षित न होते थे क्योंकि श्रीअरविन्द ने अपनी दृष्टि बाह्य आकर्षणों से हटा ली थी, वे अंतर्मुखी हो गये थे और आंतरिक जीवन ही उनका केंद्र बन गया था। यही कारण था कि राजनीति, देशभक्ति तथा सामाजिक कल्याण की भावना मेरे अंदर घर नहीं कर पायी थी। जबतक हम अपनी चेतना और प्रकृति को नहीं बदलते, केवल दिखावे के लिये बाहरी क्रियाएं करके हमारी आंतरिक अपूर्णता तो धुल नहीं जायेगी, अतः मेरा उस समय के क्रिया-कलापों में कूदना कोई मायने नहीं रखता था। मद्रास में रहते हुए कई बाहरी दबावों के बावजूद मैंने अपने हृदय की बात सुनी और श्रीअरविन्द के योग-पथ पर पूरी तरह संलग्न रहा।

अब मैं अपना काफी समय पांडिचेरी में बिताने लगा, लेकिन मद्रास के काम की वजह से वहां जाना ही पड़ता था। एक बार मेरे बहुत अनुरोध के बाद श्रीअरविन्द ने मुझसे योगाभ्यास के बारे में रोज कुछ-न-कुछ कहने की बात मान ली। मेरा दिल बल्लियों उछलने लगा। दुःख केवल इस बात का था कि दस-बारह दिन बाद मुझे मद्रास के लिये रवाना होना था। खैर, मैं रोज दोपहर को तीन, साढ़े तीन के बीच उनके पास जाता। वे मुझे योगाभ्यास के बारे में सरल तरीके से समझाते। मैं उनकी अधिकांश बातें लिख लिया करता था।

अपना शरीर छोड़ने से बहुत वर्ष पहले श्रीअरविन्द ने मुझसे वे दोनों छोटी कापियां ले लीं जिनमें मैं योगाभ्यास की बातें लिखा करता था। वे शायद नहीं चाहते थे कि योग के वे रहस्य सर्वसामान्य बनें। वे छोटी कापियां मेरे शरीर का अंग-सी बन गयी थीं। मेरे चार-पांच वर्ष के मद्रास प्रवास-काल में मैं निरन्तर उन्हें अपने पास रखता। रात को वे मेरे तकिये के नीचे होतीं और दिन में मेरी जेब में। मैं बार-बार उनका पारायण करता।

मद्रास में एनी बेसेंट द्वारा उद्घाटित पुस्तकालय में कई दैनिक, मासिक पत्रिकाएं विभिन्न भाषाओं में आती थीं। पुस्तकालय सारे दिन खुला रहता था। पढ़नेवालों का वहां तांता लगा रहता, यानी विशाल

हॉल भरा ही रहता था। प्रकाश की भी व्यवस्था बड़ी अच्छी थी। पुस्तकालय में रात को रहने के लिये वे लोग किसी व्यक्ति को ढूंढ़ रहे थे। भाग्यवश मुझे उसके लिये चुन लिया गया। रात के नौ बजे से सवेरे सात बजे तक वह बड़ा-सा पुस्तकालय मेरा ही घर होता। मेरे मित्र भी वहां साहित्य की चर्चा करने पहुंच जाते और हम देर रात तक विभिन्न विषयों की किताबों का रसास्वादन करते। इतना सब होने पर भी मुझे सबसे अधिक आनन्ददायक और संतोषप्रद लगतीं श्रीअरविन्द की पुस्तकें।

मेरे मद्रास जाने से पहले कभी-कभी श्रीअरविन्द मुझसे बिना किसी विशेष प्रसंग के कह देते थे, "चाहे कुछ भी हो, घटनाओं से अपने-आपको अलग रखो। उन्हें साक्षी-रूप में देखने की आदत डाल लो और उनमें लिप्त न होओ।" मेरे मद्रास के निवास-काल में मुझे इस छोटे, सारगर्भित मंत्र ने हमेशा राह दिखलायी।

मद्रास के पुस्तकालय में जो लोग किताबें पढ़ने आते थे उनमें से एक था लॉ कॉलेज का एक विद्यार्थी। उसकी मेरे साथ बहुत दोस्ती हो गयी। वह मेरी जीवन शैली को काफी गौर से देखा करता था।

प्रसंगवश मैं यहां यह कहता चलूं कि जब कभी मैं अपने परिवार के साथ रहता तो मुझे पारम्परिक प्रथाओं, धार्मिक कृत्यों को मानना ही पड़ता था, लेकिन पांडिचेरी में परिवारवालों की दृष्टि और पहुंच से दूर मैं उन सभी कर्मकाण्डों को एकदम से बिसरा बैठता था। मद्रास में भी मैं स्वतंत्र था, अपनी मर्जी के मुताबिक काम करता, किसी भी नियम-कानून से बंधा न था, लेकिन इस स्वतंत्रता के पीछे कोई आवाज या तो मेरे सपनों में या दिन के किसी भी समय कान में गूंजा करती—"तुम बंधन में बंधे हो, जंजीरों से जकड़े हुए हो।" मैं इस आवाज का मतलब अच्छी तरह समझता था। मैं सतही कोलाहल और भंवर में पड़ा हुआ था, धार्मिक कर्मकाण्डों में बंधा हुआ था। लेकिन फिर मैं सोचता, जिस किसी हालत में रहूं, मेरी अंतरात्मा के स्वामी, उसके प्रभु हमेशा मेरे साथ रहेंगे, मेरा संग कभी न छोड़ेंगे।

हां, तो लॉ कॉलेज का जो विद्यार्थी पुस्तकालय में मेरी गतिविधियों पर नजर रखता था, अपनी पत्नी के साथ एक छोटे-से किराये के घर में रहता था। वह वैष्णव था और उसे यह पता लग गया था कि मैं भी वैष्णव ब्राह्मण हूं। मेरी जीवन-पद्धति तो वैष्णवों से एकदम भिन्न थी यह देखकर उसने मेरी जीवन-शैली को ठीक ढर्रे में ढालने की जिम्मेदारी स्वयं ही अपने कंधों पर ले ली! वह सरल अंग्रेजी में लिखी बोध-कथाओं की किताबें पुस्तकालय में लाने लगा जिसकी प्रत्येक बोध-कथा में ऐसे नैतिक अभ्यास थे जिन्हें अपने जीवन में उतारकर व्यक्ति धार्मिक बन सकता था। ऐसी नैतिक कथाओं की किताबें वह मेरे हाथ में पकड़ा कर कहता "आवश्यकतानुसार अपने पास रखो और पढ़ने के बाद मुझे लौटा देना। फिर मैं तुम्हें दूसरी किताबें दूंगा।" वह मुझसे शायद तीन-चार वर्ष बड़ा होगा।

उसे संदेह हो गया कि मैं उसकी दी हुई किताबें बिना पढ़े लौटा रहा हूं, और चूंकि मुझे नैतिक दृष्टि से ठीक करने की जिम्मेदारी उसने अपने ऊपर ले ली थी अतः उसने मुझसे कहा—"चलो, आज से मैं तुम्हारे साथ-साथ पुस्तक पढ़ूंगा।" मैं झट से ना भी न कर सका, कुछ दिनों तक यह सिलसिला चला, लेकिन अंत में मेरी उकताहट देखकर बिना प्रयास के बंद भी हो गया।

हफ्ते में एक दिन वह मुझे अपने घर खाने पर भी बुलाता। लेकिन अपनी जी-तोड़ कोशिश के बावजूद जब उसने देख लिया कि मुझे तथाकथित धर्म के रास्ते लाना पहाड़ को हिलाने जैसा काम है तो उसने मुझे मेरे हवाले ही छोड़ दिया। उसे क्या पता था कि मेरे अंदर श्रीअरविन्द के प्रकाश की जो ज्योति प्रज्ज्वलित थी उसके सामने और कोई प्रकाश टिक नहीं सकता था।

मैंने अपनी दीक्षा के बारे में संक्षेप में कहा था, यह भी बताया था कि वह पारम्परिक तरीके से नहीं

मिली थी और मुझे दीक्षा का जो मंत्र श्रीअरविन्द से मिला था वह था, अपने-आपको सभी घटनाओं से पृथक् कर लो और साक्षी पुरुष की भांति घटनाओं का अवलोकन करो। पारम्परिक तरीके में तो गुरु शुभ दिन, शुभ मुहूर्त देखकर शिष्य के कान में दीक्षा-मंत्र फूंक देते हैं, लेकिन श्रीअरविन्द का तरीका एकदम से अलग था, उन्होंने कभी कोई मंत्र हमारे कान में न फूंका। सामान्य रूप में लोग बड़ी तीव्रता से गुरु की खोज करते हैं, लेकिन खोज के बाद भी गुरु न जाने उन्हें स्वीकार करें या न करें और इसमें कितना समय लग जाये, इन बातों की आशंका सदैव उनके मन में बनी रहती है—यह है पारम्परिक तरीका। लेकिन श्रीअरविन्द के तौर-तरीके कुछ और ही तरह के थे। उनके निकट जाते-जाते हमें अनुभव होता था कि उन्होंने हमें पहले से ही स्वीकार कर लिया है, कि नीरवता में हमारी साधना शुरू हो गयी है। गुरु की करुणा और शिष्य की ग्रहणशीलता का विकास सहज रूप से होता रहता था—यहां एक शब्द भी बोलने की जरूरत न होती थी। हर एक की अपनी क्षमता के अनुसार प्रगति होती थी। साहित्य, संगीत, कला आदि में गुरु की प्रेरणा बिना बोले निरंतर मिलती रहती थी।

तो यह रही मेरे सौभाग्य की कहानी और मैं अपने गुरुओं—श्रीअरविन्द तथा श्रीमां—के प्रति सतत कृतज्ञ रहूंगा।

अमृत का विनोद

(१३)

अमृत के लेखों की शृंखला के अंत में उनके विनोद की भी छोटी-सी बानगी देखते चलिये—

माताजी शाम के समय क्रीड़ांगण में फ्रेंच में अनुवाद करने की कक्षाएं लिया करती थीं। एक दिन हमारे सतत व्यस्त अमृत देर से कक्षा में पहुंचे। माताजी ने उनसे पूछा, भगवान् और मानव के बीच की दूरी क्या है और साथ ही सहास यह भी जोड़ दिया, "जबतक तुम इस प्रश्न का उत्तर न दे सकोगे कक्षा में प्रवेश न कर पाओगे।" हमारे हाजिरजवाब अमृत उत्तर देने की बजाय लम्बे डग भरते हुए माताजी की ओर बढ़ने लगे। हम सबके सब भौंचक्के रह गये कि ये माताजी की आज्ञा का उल्लंघन कैसे कर रहे हैं! तीन लंबे डग भर कर वे माताजी के पास जा पहुंचे और बड़ी शालीनता से बोले—"बस तीन कदम का फासला है मां। आप भगवान् हैं और मैं मानव।" माताजी उनके इस उत्तर से प्रसन्न हो उठीं और हम सब तो कई दिनों तक उनके इस सटीक उत्तर की भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे।

*

माताजी के कमरे के दरवाजे के पास ही एक बड़ी आलमारी रखी रहती थी जो जरा बाहर को निकली हुई थी, परिणाम-स्वरूप बहुत बार लोग उससे टकरा कर चोट खा जाते थे। जब माताजी को उसे वहां से हटाने का सुझाव दिया गया तो उन्होंने यह कहकर मना कर दिया कि "यह लोगों को सचेतन बनाती है।" अतः वह आलमारी वहां प्रहरी की भांति खड़ी रही। एक बार हमारे व्यस्त अमृत चिट्ठियों, प्रार्थनाओं, और न जाने कौन-कौन से सामान से लदी-फंदी एक ट्रे अपने हाथ में लिये

माताजी के कमरे में आ रहे थे, आलमारी से सिर टकराया और माथे पर एक छोटा गुम्बद उभर आया। जब वे अपनी चीजें माताजी के सामने निकाल रहे थे तो उनके माथे के उभार को देखकर माताजी ने तुरंत उसका कारण पूछा। अमृत ने तपाक से मुस्कुराते हुए दर्द की परवाह किये बिना जवाब दिया—"मां, मैं अपने-आपको अधिक सचेतन बना रहा हूं।"

*

अमृत उन लोगों में से थे जिनका माताजी के पहली बार पांडिचेरी आने के साथ-साथ यानी १९१४ से ही परिचय हो गया था और अपनी मृत्यु के समय यानी ३१.१.१९६९ तक गुरु-शिष्य का वह संबंध बना रहा। ऐसा लगता है कि उनके संबंध में माताजी ने एक बार कहा था कि ५० वर्ष की उम्र में ही अमृत की मृत्यु बदी थी लेकिन उन्होंने उसे २० वर्ष की और अवधि दे दी। अमृत दुःख नहीं भोगना चाहते थे और उन्होंने दुःख भोगा भी नहीं। वे अपनी बीमारी में भी शय्याग्रस्त न हुए। यहां तक कि अंतिम दिन भी वे काफी प्रसन्न थे, थके हुए जरूर थे और अपनी आराम-कुर्सी पर शिथिल से बैठे थे। दोपहर के समय 'क' उनके कमरे में आया, उन्हें जरा मुरझाया-सा देख पूछ बैठा, "अमृत दा, कैसी तबीयत है आज आपकी ?" वे अपनी उसी जिन्दादिली से बोले, "भाई, बाकी सब तो ठीक है बस मेरी 'स्वीट-हार्ट' ही मुझे तंग कर रही है।" उनका इशारा अपने हृदय की ओर था क्योंकि वे हृद्रोग से पीड़ित थे। उसी रोज ३१ जनवरी की रात को वे हाथ-मुंह धोकर अपने कमरे में आकर लेटे और ८ बजकर ४० मिनट पर उन्होंने अपना शरीर छोड़ दिया।

*

नलिनी और अमृत प्रणव दा के विभाग में शारीरिक परीक्षा के लिये गये थे, वहां हुए उनके वार्तालाप का एक अंश—

नलिनी—डॉ० व्यास का कहना है कि मेरा स्वास्थ्य हर तरह से अधिक अच्छा हो गया है, यहां तक कि मेरे जैसे कमजोर की छाती भी अब चौड़ी हो रही है।

अमृत—अरे वाह ! अद्‌भुत, अद्‌भुत !

नलिनी—लेकिन तुम जानते हो, एक चीज मैं काफी समय से बढ़ा नहीं पा रहा हूं।

अमृत—कौन-सी चीज ?

नलिनी—अपनी लम्बाई। उसमें काफी समय से कोई फर्क नहीं आ रहा।

अमृत—लम्बाई बढ़ाने का मैं एक अच्छा उपाय जानता हूं।

नलिनी—मेरी लम्बाई बढ़ाने का उपाय ?

अमृत—हां, चुपके से, बड़े हौले-हौले अपने पंजों पर खड़े हो जाओ, लेकिन याद रखना बड़ी सफाई से यह काम करना, फिर देखना तुम लम्बे हो जाओगे !!

नलिनी—निरुत्तर !!!

*

चिन्मय रोज उनके लिये चार बजे पीने का पानी लेकर आते थे। एक दिन उन्हें जरा देर हो गयी।

अमृत—चिन्मय, मैं प्यास से मरा जा रहा हूं। तुम जानते हो, नाम तो मेरा अमृत है, लेकिन मेरे ऐसे भाग्य कहां कि अमृत पीकर अपनी प्यास बुझाऊं, इसीलिये मुझे पानी के सहारे रहना पड़ता है।

चिन्मय—मुझे विश्वास है अमृत-दा, आपने ध्यान करते समय कई बार अमृत पिया होगा।

अमृत—तुम गलती पर हो चिन्मय। यह अमृत तो देवों के लिये है इस मर्त्य जीव के लिये नहीं।

चिन्मय उनके इस उत्तर पर मुग्ध हो गये। वे सचमुच अपने-आपको भगवान् का सच्चा सेवक मानते थे और जीवन-पर्यंत वे अपने प्रभुओं की सेवा करते रहे।

(समाप्त)

गत-दिवस

चला गया है आज हमारा
एक दिवस यह और,
समय विगत होता रहता है
इसी तरह सब ठौर।

अभी-अभी तो दिन निकला था
होता है यह ज्ञात,
देर न कुछ भी लगी और यह
अभी आ गयी रात।

दिन ही क्यों, वर्षों पहले का
सुखमय शैशव काल,
मन में आता है मानों वह
अभी गया है हाल।

सुख की खिली चाँदनी हो या
होती हो दुःख-वृष्टि,
किन्तु ठहरकर समय न इन पर
कभी डालता दृष्टि।

यह रजनी भी चली जायेगी,
होगा इसका अंत,
दिन आयेगा चला जायेगा,
फिर वह भी हा हन्त!

चल यों निशि-दिन रूप पगों से
निशि-दिन बिना प्रयास,
चले जा रहे हम सवेग हैं
महामृत्यु के पास।

करना हो जो करें शीघ्र हम
तज आलस्य अभंग;
क्या जाने कब छूट जाये इस
समय-सखा का संग!

—सियारामशरण गुप्त

'श्रीअरविन्द के साथ बातचीत' :

प्रवर्तक पत्रिका के कुछ अंश

७ मार्च १९४०

जनवरी १९४० की 'प्रवर्तक' पत्रिका के 'जीवन साथी' नामक लेख का अंग्रेजी में अनुवाद छपा जिसमें श्रीअरविन्द के बारे में कुछ बातें कही गयी थीं। पुराणी ने वह हिस्सा क्रमशः पढ़कर सुनाया . . . "वे (श्रीअरविन्द) वासुदेव तथा प्रद्युम्न इत्यादि की बातें उठाया करते और व्याख्या करते समय बहुत भावुक हो जाया करते थे . . ."

श्रीअरविन्द—मुझे मालूम न था कि व्याख्या करते समय मैं भावुक हो जाया करता था।

पु—" . . . मैं श्रीअरविन्द को अपने सभी लेख पढ़कर सुनाया करता था। उद्‌बोधन नामक एक नाट्य-लेख मैंने उन्हें आरंभ से अंत तक पढ़कर सुनाया था।"

श्रीअरविन्द—हे भगवान्! यह तो आश्चर्य की बात होती अगर मैं उसे अंत तक सुन पाता।

पु—" . . . श्रीअरविन्द बड़े विस्तार से मुझे सुनाया करते थे कि ध्यान में वे किस तरह हवा में अधर रहते थे।"

श्रीअरविन्द—हे भगवान्! यह कहानी तो चलती चली जा रही है।

पु—" . . . मैंने स्वयं श्रीअरविन्द से सुना कि उनके ग्रे स्ट्रीट में पकड़े जाने के समय कैसे रामकृष्ण उनके सामने बैठकर उन्हें सांत्वना देते रहे।"

श्रीअरविन्द—कब ? यह एक और कहानी हो गयी।

पु—" . . . वे सुनाया करते थे कि कैसे जेल की लोहे की कड़ियां मक्खन की तरह पिघल गयीं . . ।"

श्रीअरविन्द—रूमानी !

पु—"श्रीअरविन्द कहते थे, चोरों के वे भुतहा चेहरे . . ."

श्रीअरविन्द—भुतहा ? मैंने कभी इस शब्द का प्रयोग नहीं किया। यह उसकी अपनी कल्पना है। वे भुतहा नहीं सामान्य मनुष्य थे, वह कल्पनाशील व्यक्ति है, हां, दत्त की तरह नहीं।

पु—"हमें डर था कि अगर श्रीअरविन्द ज्यादा समय तक एक स्थान पर रहे तो उनके रहस्य का पता चल जायेगा।"

श्रीअरविन्द—यह ठीक है।

पु—"श्रीअरविन्द को अप्रत्याशित रूप से हटा दिया गया। लोगों ने सोचा कि वे साधना के लिये हिमालय पर चले गये।"

श्रीअरविन्द—हे भगवान्!

पु—फिर वह लिखता है, "फिर श्रीअरविन्द को शहर की दक्षिणी सीमा पर बग्घी से सुरक्षित पहुंचाने का काम मुझे सौंपा गया। मैंने देखा कि कोचवान सो रहा था। मैंने बड़ी सावधानी से घोड़े खोले और स्वयं श्रीअरविन्द को नियत स्थान पर पहुंचा कर आया।"

श्रीअरविन्द—ये सारी बातें मुझे याद नहीं हैं। यह सच हो सकता है। मुझे इतना याद है कि मुझे किसी के घर पहुंचना था और जिस दिन मैं पहुंचा वहां सरस्वती पूजा चल रही थी।

पु—फिर वह लिखता है "जब मैं घर लौटा और अपनी पत्नी को सारा किस्सा सुनाया तो उसने पूछा, 'क्या कोचवान को पता न चला ?' मैंने कहा, 'नहीं।' तो उसने कहा, 'यह मामला तो गंभीर हो सकता था, कोई चोर भी गाड़ी ले जा सकता है।' मैंने जोड़ा, 'यह सब श्रीअरविन्द के संत स्वभाव के कारण हो सका।' उसने अंत में कहा, 'तुम्हारे साथ सभी चीजें बड़ी घटनाएं बन जाती हैं। अब जाओ, जाकर सो जाओ।' (हंसी)

श्रीअरविन्द—'य' कल्पनाशील है यह तो मैं जानता था, परंतु मेरा ख्याल था कि नयी-नयी कहानियां बनाना सिर्फ दत्त का काम है।

स—दत्त ने जरूर कोई विशेष क्षमता पा ली होगी जिससे वह इतने लोगों को बांध कर रख सकता है।

श्रीअरविन्द—हां, उसमें प्राण-शक्ति है जो उसने मुझसे पायी है और उसे अनुभव भी हुए हैं...। वह दावा करता था कि वह सिर के ऊपर जा चुका है, परंतु उसमें कुछ प्रकट न हुआ, कोई मानसिक परिणाम न आया। वह अतिमानस की ओर जाना चाहता था पर जब उससे उसके बारे में बातचीत की तो वह खिसक गया।

नी—हमने सुना है कि उसका आधार छोटा था तब वह आपकी शक्ति को कैसे पा सकता था ?

श्रीअरविन्द—क्यों नहीं ? क्या तुम समझते हो कि अगर मनुष्य छोटा है तो हमेशा छोटा ही रहेगा ? "छोटे" का मतलब यह है कि उसमें विस्तार न था।

नी—वह आपके साथ बहुत थोड़े समय के लिये सम्पर्क में था, शायद तीन या चार वर्ष ? है ना ?

श्रीअरविन्द—नहीं, मैं एक महीने तक उसके मकान में रहा था और वह यहां भी तीन-चार बार तो आया ही था।

स—वह १०, १२ वर्ष से ज्यादा सम्पर्क में रहा था। अन्तिम बार मैं उससे शायद १९१४ में मिला था। तब उसने कहा था कि वह सीधा आपसे पथ-प्रदर्शन और प्रेरणा पाता है।

नी—क्या यह उसकी आध्यात्मिक चेतना के विकास का परिणाम था या आपकी शक्ति से उसने इतना सब पा लिया ?

श्रीअरविन्द—मेरी दी हुई शक्ति के प्रति प्राणिक उद्घाटन के कारण।

नी—और आध्यात्मिक ?

श्रीअरविन्द—बहुत मिली-जुली।

नी—तो आपने उसे प्राण के लिये शक्ति दी ?

श्रीअरविन्द—मैंने दोनों के लिये शक्ति दी।

स—परंतु खुला उसका प्राण।

श्रीअरविन्द—हां, क्रिया और गतिविधि में शक्ति लाने के लिये यह एक ज्यादा बड़ी चेतना, वैश्व चेतना में उद्घाटन था। जब मैंने उसे छोड़ा तो अपनी योजना और विचार उसे दिये और उसने उन्हें कार्यान्वित किया।

पु—जी, उसने आपके नाम और संपर्क की सहायता से बहुत कुछ पाया।

श्रीअरविन्द—हां, वह बंगाल में अपने-आपको मेरा आध्यात्मिक एजेण्ट कहता है।

स—सभी जानते थे कि उसका आपके साथ संपर्क था।

श्रीअरविन्द—एक समय तो वह कहा करता था कि उसका शरीर जलता है और उसका सिर सुलगता है—यह सच है—और मेरे संपर्क के बाद यह चीज गायब हो गयी।

स—जब माताजी ने पहली बार उसे देखा तो उन्होंने कहा कि वह अद्‌भुत था।

श्रीअरविन्द—अद्‌भुत! मुझे पता नहीं, कम-से-कम माताजी ने तो मुझसे कुछ नहीं कहा। 'र' ने कहा था कि वह अमरीका में अद्‌भुत होगा।

स—इससे तो सारी प्रशंसा धुल जाती है। (हंसी)

श्रीअरविन्द—'र' ने यह बात उसकी ऊर्जा और वाक्‌पटुता के कारण कही।

नी—हनुमन्तराव के इलाज के बारे में प्रमाण मिला है। स्वयं उसने एक पत्र लिखा है।

श्रीअरविन्द (पता देखकर)—यह तो माताजी के नाम है। यह उन्हें लिखा गया है।

नी—जी, यह आपको पढ़कर सुनाने के लिये यहां भेजा गया है।

श्रीअरविन्द—यह निश्चय किसने किया? माताजी के पत्र उनके पास जाने चाहियें।

च—यह एक ही बात नहीं है क्या?

श्रीअरविन्द—अच्छा पढ़ो।

नी पत्र पढ़ता है जिसमें माताजी की चमत्कारिक शक्ति द्वारा रोगी के, पागलपन से छूटने के, सांप काटने के उपचार के उदाहरण थे।

श्रीअरविन्द—कोढ़ की कोई बात नहीं है।

नी—जी नहीं।

श्रीअरविन्द—यह प्राणिक शक्ति है। इस प्रकार के रोगमुक्ति के बहुत-से उदाहरण हैं जिसमें किसी के मस्तक पर हाथ रखकर उसे रोगमुक्त किया जा सकता है। वे उसे शरीर में द्रव का अबाध आकर्षण कहा करते थे।

च—वह कहता है कि यह माताजी की शक्ति है।

श्रीअरविन्द—क्यों नहीं?

नी—आपने कहा, यह प्राणिक शक्ति है।

श्रीअरविन्द—हां, ऐसी शक्ति जो प्राण के द्वारा काम करती है, यह प्राणिक-भौतिक शक्ति है, भौतिक के अधिक निकट होने के कारण ऐसे मामलों में इसका ज्यादा असर होता है। तुम मानसिक शक्ति द्वारा भी रोगमुक्त कर सकते हो, लेकिन इसमें एकाग्रता की शक्ति अधिक होनी चाहिये।

पु (पीछे से मुस्कुराते हुए)—नीरद ऐसी ही शक्ति चाहता है!

श्रीअरविन्द—कैसे? पहले दायें और फिर बायें हाथ को आगे बढ़ाकर लेना चाहता है क्या?

नी—मेरे प्रश्न का समाधान हो गया। श्रीअरविन्द ने कहा है कि अंतःप्रेरणा पाने से पहले प्राण को शुद्ध होना चाहिये।

पु—यह तो अंतःप्रेरणा हुई, शक्ति द्वारा चिकित्सा हुई, दवाई के द्वारा नहीं।

नी—ऐसा लगता है कि दोनों के लिये शुद्धि जरूरी है।

श्रीअरविन्द—शुद्धि के बिना तुम अहंकारमय हो सकते हो। यूं तो बहुत-से लोग शुद्धि के बिना चिकित्सा कर देते हैं।

नी—मैं यही पूछना चाहता था कि इसकी क्या जरूरत है?

श्रीअरविन्द—किसकी? प्राणिक शुद्धि की? (हंसी)

—नीरदवरण

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार

(२८)

यदि माताजी का यह निश्चित निर्णय है कि वे मुझसे व्यक्तिगत रूप से नहीं मिलेंगी और यदि ऐसी कोई संभावना है कि "जब समय आयेगा" तो वे मुझे बुला लेंगी तो मेरे जाने का विचार एकदम गलत काम होगा और मैं प्रतीक्षा कर सकता हूं।

मैंने जो कहा था वह यह है कि यह बात पूरी तरह माताजी के ऊपर छोड़ दो कि वे तुम्हें बुलायें या न बुलायें।

मैंने सदा माताजी की इच्छा और निर्णय को मान दिया है, लेकिन अपने बारे में घट रही चीजों में मैं कोई तर्क नहीं देखता।

मेरा केवल यही मतलब था कि उनके निश्चय का मान किया जाये, वह चाहे कुछ भी क्यों न हो। चूंकि उन्होंने यह निश्चय किया है कि अभी वे व्यक्तिगत रूप से किसी से भी नहीं मिलेंगी अतः हमें उनकी इच्छा को मानना होगा और तुम्हें उनसे मिलने का आग्रह नहीं करते रहना चाहिये।
१७ जून १९३५

मैं फिर से यही जानने के लिये उत्सुक हूं कि माताजी मुझसे क्यों नहीं मिल रहीं, उनके पास पहुंचने के लिये क्या मेरे अंदर आवश्यक प्रयास और आग्रह की कमी है ? क्या मैं पर्याप्त रूप से सच्चा या सतत प्रयासी नहीं हूं ? अगर श्रीअंरविन्द मुझे इसका उत्तर दे दें तो मैं बहुत प्रसन्न होऊंगा।

मैं पहले भी कई बार इसका उत्तर दे चुका हूं कि तुम्हें इन विचारों पर आग्रह नहीं करना चाहिये—तुम्हें हर चीज माताजी के ऊपर छोड़ देनी चाहिये।

इन दिनों मेरे अंदर यह अभीप्सा उठ रही है कि सच्चे रास्ते पर चलूं, जो उचित है वही करूं और आगे ही आगे बढ़ता रहूं।

वही मार्ग सच्चा है जिस पर माताजी तुम्हें चलाना चाहती हैं, और कोई नहीं।

मैं जानना चाहता हूं कि श्रीअरविन्द ने मेरी कविता को कहां तक पसंद किया। मैं स्वयं नहीं जानता कि उसे लिखते समय मैं किस दिशा में जा रहा था। मैंने 'क्ष' को किसी कपड़े पर इस्त्री करते देखा और अपने-आपसे कहा कि कोई इस पर इस आशय की कविता लिख सकता है कि अंदर की आग गरम इस्त्री से कहीं अधिक तीव्र होती है। अतः मैंने वह कविता लिख मारी।

यह बहुत जरूरी है कि तुम छन्द के बारे में विस्तार से सीखो और फिर कुछ लिखो, साथ ही अपने विचारों को व्यवस्थित करो—वे बेतरतीबी से बिखरे हुए न हों—जैसा कि तुमने स्वयं लिखा है, अन्यथा कविता की चाहे जितनी सामग्री और कल्पना हो, तुम्हारी कविता प्रभावजनक न हो सकेगी।

९ जुलाई १९३५

काफी समय से मुझे लग रहा है कि माताजी मुझसे मिलना चाहती हैं। कृपया कहिये कि यह बात ठीक है या नहीं।

यह बिलकुल गलत है। मैंने तुमसे कितनी बार कहा है कि यह गलत गतिविधि है और इसे प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये।

२३ जुलाई १९३५

आज भी मुझे ऐसा लग रहा है कि यदि माताजी मुझे व्यक्तिगत रूप से मिलने के लिये न बुलायें तो मेरा जीवन व्यर्थ है। सारा दिन मैं दुःखी और व्यथित रहा, ऐसी आवाजों से संतप्त रहा जो कौओं की कांय-कांय की तरह सारा दिन मेरे आस-पास मंडरा रही थीं। मेरी स्थिति चाहे जितनी अच्छी क्यों न हो, इससे वह अचानक गिर जाती है और फिर से वही पुरानी बात शुरू हो जाती है।

मैं पहले कई बार जब चाहूं ऊपर के कमरों में जा सकता था, लेकिन पिछले कई महीनों से नहीं गया। एक दिन मैं यह मानकर अंदर चला गया कि इसमें माताजी को कोई आपत्ति न होगी, लेकिन ऐसा लगता है कि मेरे ऊपर जाने ने तहलका मचा दिया! उस दिन उन्होंने मुझसे कहा कि उनके पास मिलने के लिये समय नहीं है। वह रविवार का दिन था जब माताजी प्रार्थनाएं पढ़ा करती हैं।

अब यहां रहना बेमन से जीना और अधूरा जीवन बिताना है। जीवन की, साधना की या अन्य किसी चीज की पूर्णता नहीं है। मैंने आश्रम या और किसी चीज में रस लेना छोड़ दिया है और न ही मेरा कोई मित्र है जिससे मैं आनंद पा सकूं। मुझे चारों तरफ गलतफहमी का आभास मिलता रहता है। मेरे ख्याल से मेरा यहां से चले जाना ही करने लायक एकमात्र चीज है। कृपया इस विषय पर अपना अंतिम मत दें। यदि माताजी अगस्त दर्शन से पहले या बाद में मुझसे मिलने की नहीं सोच रहीं तो मुझे जाने दीजिये।

किसी को भी स्वतंत्र रूप से ऊपर के कमरे में जाने की स्वीकृति नहीं मिलती, उन लोगों को छोड़कर जो वहां काम करते हैं, वे स्वभावतः अपने काम के समय वहां आ-जा सकते हैं; लेकिन वे माताजी का समय नहीं लेते—वे अपना काम करके चले जाते हैं। और कोई ऊपर के कमरों में नहीं जा सकता। हां, ध्यान के कमरे में या उस छोटे कमरे में लोग आते-जाते हैं जहां माताजी लोगों से मिला करती हैं। और वहां भी बस वे ही जा सकते हैं जिन्हें माताजी ने बुलाया हो और वह भी उन्हें दिये गये निश्चित समय पर, वे भी मनमाने ढंग से वहां आ-जा या जो मर्जी नहीं कर सकते। सब कुछ कड़े नियम और आज्ञापालन के अनुसार होता है।

माताजी ने तुमसे मिलना केवल इसलिये नहीं छोड़ा क्योंकि उनके पास समय नहीं है—यद्यपि यह सच है कि उनके पास बिलकुल समय नहीं होता और वे काम की अत्यधिकता के कारण बहुत थक जाती हैं और उन्हें विश्राम के लिये बिलकुल समय नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त साधक उन पर भिन्न-भिन्न प्रकार से दबाव डालते हैं और उनसे मिलने का बहुत आग्रह करते हैं, यह सारी चीज भी उन्हें बहुत ज्यादा थका देती है। उन्होंने तुमसे मिलना इसलिये छोड़ दिया क्योंकि तुम्हारा प्राण पूरी तरह से अनियंत्रित हो उठा था और तुम उनके प्रति इस तरह से व्यवहार कर रहे थे जिसकी अनुमति किसी हालत में नहीं दी जा सकती। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी देखा कि उनसे मिलने के तुम्हारे आग्रह में प्राणिक कामनाएं, सुझाव, अस्त-व्यस्तता तथा गलत गतियां मिली हुई थीं, अतः उन्होंने यह निश्चय किया कि जबतक ऐसा है, जबतक तुम सचमुच स्वतंत्र न होओ और जबतक अपने प्राण पर तुम्हारा पूरा अधिकार न हो जाये तबतक वे तुम्हें नहीं बुला सकतीं। केवल तुम्हारे साथ नहीं, दूसरों के साथ भी उन्होंने देखा कि उन्होंने मिलने की जो छूट दे रखी थी उसके अनर्थकारी परिणाम हो रहे थे—क्योंकि वे लोग अपनी गलत प्राणिक गतिविधियां पोस रहे थे, उन पर आग्रह कर रहे थे और वे इसे गुह्य रूप से उनके ऊपर इस तरह फेंक रहे थे कि बिना जाने ही वे अपने-आप पर और स्वयं माताजी के ऊपर अनन्त कठिनाइयों का अम्बार लगा कर उन्हें पूरी तरह से थका दे रहे थे। इसीलिये उन्होंने लोगों से मिलने का समय कम-से-कम कर दिया—ऐसे लोगों से मिलना बिलकुल छोड़ दिया जो उन पर इस तरह के गलत प्राणिक दबाव डाल रहे थे और केवल उन्हीं से मिलती थीं जो कुछ लाभ उठा रहे थे... लेकिन वहां भी मिलनेवालों की संख्या उन्होंने कम-से-कम कर दी थी। यह है हमारी वर्तमान अवस्था और यह तबतक चलती रहेगी जबतक आश्रम के वातावरण में सच्ची स्वतंत्रता और प्राण की अचंचलता तथा शुद्धि की स्थापना नहीं हो जाती।

तुम्हें स्वयं इस बात से अभिज्ञ होना चाहिये कि प्राणिक अस्त-व्यस्तता तथा विक्षोभ अभी तक तुम्हारे अंदर चल रहे हैं यद्यपि पहले से कम हैं। (आदत जारी रहती है और वही संभवतः इन प्राणिक गड़बड़ों को उत्तेजना देनेवाली प्रमुख चीज है) और तुम्हें यह भी मालूम होना चाहिये कि अभी तक तुम अपने प्राण से स्वतंत्र नहीं हो और उस पर तुम्हारा पूरा-पूरा नियंत्रण भी नहीं है। मैंने आशा की थी कि तुम आंतरिक संपर्क को बढ़ाते जाओगे जबतक कि तुम्हें सदा के लिये आंतरिक निकटता या उपस्थिति का अनुभव न हो जाये; क्योंकि जब व्यक्ति को वह संपर्क प्राप्त हो जाता है तो प्राण शांत हो जाता है और फिर माताजी से मिलने के लिये प्राणिक दबाव या शोरगुल नहीं रहता; तब चैत्य का शासन होता है और वह इससे संतुष्ट रहता है कि सब कुछ माताजी के ऊपर छोड़ दिया जाये। वह किसी चीज की मांग नहीं करता, बस वही चाहता है जो माताजी स्वयं अपने-आप दे दें। वह अधिकार के रूप में कोई चीज नहीं मांगता, माताजी जो खुशी-खुशी दे दें बस वही लेता है। दुर्भाग्य यह है कि प्राण की यह मांग फिर से तुम्हारे अंदर उठ रही है और यह सतत आग्रह सिर उठा रहा है। और यह गलत चीज है। तुम्हारे द्वारा माताजी के सामने यह विकल्प रखना कि या तो वे तुमसे मिलें या फिर तुम यहां से चले जाओगे यह दर्शाता है कि तुम गलती पर हो। औरों ने भी माताजी से मिलने की बात की है और उन्होंने मिलने से इंकार कर दिया क्योंकि वे अपने अनुभव से जानती हैं कि उनकी मांग के आगे झुक जाने से कोई हल नहीं निकलता—क्योंकि उनकी मांगें बढ़ती जाती और ज्यादा-ज्यादा उग्र और भयंकर रूप लेती जाती हैं—यही दुःखद चीज रेने (आश्रम के एक साधक) के साथ हुई और अंत में ऐसे लोग अपना संतुलन खो बैठते हैं और आखिर में उन सबकी नियति एक समान होती है—उन्हें यहां से चले जाना पड़ता है।

अगर तुम इन प्राणिक मांगों के आगे नहीं झुकते और अपने आंतरिक संपर्क को विकसित करने और आत्म-संयम तथा अचंचलता को बढ़ाने में ही संतुष्ट रहते तो समय आने पर तुम साधना की पूर्णता में विकसित होते और यहां जीवन तुम्हें जीने-योग्य मालूम होता। यहां से जाने का आवेग उस विरोधी शक्ति से आता है जो आश्रम से लोगों को भगाने की कोशिश कर रही है—लेकिन आज तक ऐसा कोई नहीं निकला जिसने यहां से जाने के बाद शांति या संतोष पाया हो।

२४ जुलाई १९३५

मैं श्रीअरविन्द का पत्र पाकर बहुत खुश हूं। इससे मुझे आशा बंधती है कि माताजी का मुझसे न मिलना एक अस्थायी बात है, अब मुझे और भयभीत होने की आवश्यकता नहीं।

निश्चय ही इसे हमेशा के लिये लागू करने का अभिप्राय नहीं है।

अतः आज मैं लहरविहीन पानी के विस्तार की तरह चुप और शांत हूं।

अच्छा है। दूसरी चीजों के आने के लिये यह सबसे अच्छा आधार है।

२५ जुलाई १९३५

अपनी साधना के बारे में माताजी से कभी-कभी मैं निर्देश पाना चाहता हूं।

मानसिक निर्देश बहुत उपयोगी नहीं होते। तुम्हें तब तक शांति, ज्योति और स्पष्टता में बढ़ते रहना चाहिये जब तक उच्चतर चेतना सतत रूप से और पूर्णता के साथ क्रिया न करे।

कभी-कभी मुझे लगता है कि मैं साधना में काफी प्रगति नहीं कर रहा और कभी लगता है कि मेरी स्थिति बहुत स्पष्ट है; दूसरी अवस्था में मैं वस्तुओं के क्रिया-कलाप को यौगिक दृष्टिकोण से देखता हूं और बहुत शांति का अनुभव करता हूं।

ये परिवर्तन अनिवार्य हैं और ये तबतक चलते रहते हैं जबतक तीन चीजें पर्याप्त मात्रा में और स्थिरता के साथ प्रतिष्ठित नहीं हो जातीं : १. स्थिर शांति और प्रसन्नता, २. स्पष्ट दृष्टि और समझ, ३. पूर्ण निस्स्वार्थ प्रेम और समर्पण।

१२ सितम्बर १९३५

पिछली बार जब मैंने पूछा कि क्या माताजी मुझसे मिलेंगी तो श्रीअरविन्द ने कहा था "अभी यह असंभव है।" मैं जानना चाहता हूं कि क्या अब यह संभव है ?

नहीं। सबसे अच्छी बात है कि इसके बारे में बिलकुल सोचो ही मत। इसे अपने-आप ही आने दो, जब चीजें तैयार हो जायेंगी तो इसका आना भी संभव हो जायेगा।

कभी-कभी मुझे यह भयंकर अनुभव होता है कि मैंने यहां अपना समय बरबाद किया। माताजी को देखे बिना या उनके साथ किसी भी तरह का गभीर संपर्क बनाये बिना कितने ही वर्ष यूं ही गुजरते चले जा रहे हैं।

केवल गभीर आंतरिक संपर्क ही प्रगति का चिह्न है—यह और साथ ही अचंचलता, शांति, पवित्रता, प्रकाश इत्यादि का विकास भी है प्रगति का चिह्न।

१८ सितम्बर १९३५

प्रसिद्ध डाकू रेले

बात सन् २२ या २३ की है। रेले नाम का एक डाकू पकड़ा गया। पुलिस के हाथ में आते ही वह पूरा-पूरा साधु बन गया। उसने अपने किये पर बड़ा पश्चात्ताप किया और बोला कि वह अपने पाप धोने के लिये सरकार की हर तरह सहायता करेगा। उसने कम-से-कम चालीस-पैंतालीस डाकों के बारे में मुखबिरी की और जेल जाने से बच गया। अब वह राजपूतों के एक गांव में जाकर बस गया। और नौ सौ चूहे खाकर हज करनेवाली बात को चरितार्थ करने लगा। थोड़े ही दिनों में अपने सदाचरण के कारण उसने अच्छा नाम कमा लिया। पुलिस में, आसपास के गांवों में उसका अच्छा नाम हो गया।

अचानक फिर कुछ गांवों में डाके पड़ने शुरू हो गये। पुलिस को उनकी सूचना हमेशा रेले द्वारा ही मिलती थी और वह अभियुक्तों को पकड़वाने के लिये बराबर प्रयास करता रहा। पुलिस उसके बताये हुए निशानों पर चलकर खूब सिर मारती रही पर परिणाम कुछ न निकला। जब डाकों की संख्या बढ़ चली तो महाराज भी चिंतित हुए। उन्होंने मुझसे कहा—यह मामला तुम्हें अपने हाथ में लेना होगा। यह हमारे लिये लज्जा की बात है कि डाके-पर-डाके पड़ते जाते हैं और हम कुछ भी नहीं कर पाते। तुम इस मामले में पूरी तरह लग जाओ। "महाराज का हुक्म सिर-आंखों पर" कहकर मैं चल दिया।

उन्हीं दिनों जसवन्तपुर में एक बड़ा डाका पड़ा। मैंने सोचा, चलो यहीं से सुराग लगाना शुरू किया जाये। यहां के निशान अभी मिट न पाये होंगे। शायद यह मामला जल्दी हाथ में आ जाये। मैं उस ओर चल पड़ा। रेले मेरा अनन्य मित्र और विश्वास-पात्र सहायक बनकर आ खड़ा हुआ। उसने कहा, सरकार खता माफ हो, मुझे तो लगता है कि इन डाकों के पीछे झबुआ के जागीरदार का हाथ है। अब सुनिये।

झबुआवाले मेरे ही खानदान के थे। पर मैंने इसकी परवाह न की और रेले के बताये हुए चिह्नों पर चलकर खोज करता गया। हर तरफ से ऐसे चिह्न मिलने लगे कि इन सारी डकैतियों में झबुआवालों का हाथ है। परंतु तीन महीने तक सिर पटकने और खाक छानने के बाद भी कोई ऐसा प्रमाण न मिला कि मैं किसी को पकड़ सकूं। मैं परेशान हो उठा। इतने में रेले दौड़ा हुआ आया और उसने खबर दी कि हमारे घर के पास ही एक गडरिये के यहां डाका पड़ा है। अब तो सचमुच मेरे रहे-सहे होश भी गायब हो गये। मैं जहां था वहीं सिर पकड़कर बैठ गया। मुझे चक्कर आ रहा था। मैं सोच रहा था—हे भगवान्! यह कैसी परीक्षा है! इधर स्थिति बिगड़ती जाती है उधर महाराज सोचते होंगे कि मैं अपनी बिरादरी वालों को बचाने के लिये समय बेकार खो रहा हूं। और पुलिस अफसर होते हुए भी मेरी आंखों से दो आंसू लुढ़क पड़े। ऐसे समय भगवान् को छोड़कर कौन सहायता कर सकता है?

मुझे इस तरह चिंतित देखकर वहां के चौकीदार को भी कुछ अजीब-सा लगा। मैंने भी उस पर आंखें गड़ायीं। आदमी बूढ़ा था; शक्ल-सूरत से भला और ईमानदार लगता था। मैंने मन में सोचा, इसे जरूर कुछ मालूम होगा, चलो, किस्मत आजमायी जाये। मैंने कहा, दद्दा ! वह अफसरों से ऐसे संबोधन की आशा न करता था। जरा चौंका, फिर मेरे पास आ गया। मैंने कहा—दद्दा, तुम तो यहीं के हो, अनुभवी और बुद्धिमान भी लगते हो, क्या तुम मेरी कुछ मदद नहीं कर सकते ? देखो, आज तीन महीने से भी अधिक हो चुके, चैन का नाम नहीं, आंखों में नींद भरी रहती है पर सोने का समय नहीं, खाने-पीने का ठिकाना नहीं, लेकिन इन डाकुओं का कुछ भी पता नहीं लगता। तुम्हें जरूर कुछ-न-कुछ मालूम होगा। हमारी मदद करोगे तो तुम्हारा भी भला होगा। मेरी दुःखभरी बातें सुन-सुनकर बूढ़ा कुछ पसीजा तो लेकिन आत्मरक्षा के नियमों को कैसे लांघता। उसने अपने गले के चारों ओर उंगली घुमायी और फिर छत की ओर निशाना किया यानी अगर उसने भेद बता दिया तो उसके गले में फांसी लग जायेगी। अब मुझे विश्वास हो गया कि यह आदमी कुछ जानता है और इससे कुछ निकलवाया जा सकता है। मैंने फिर मिन्नत की तो उसने एक गांव की ओर इशारा कर दिया और कहा—इससे अधिक कुछ न कहूंगा। जिस तरफ उसने इशारा किया था उधर ही रेले का घर था। मुझे कुछ दिनों से रेले पर संदेह होने लगा था अब वह पक्का हो गया।

मैंने पूरी शक्ति रेले के पीछे लगा दी। बिना प्रमाण के पकड़ा भी तो नहीं जा सकता। मैंने इधर जो कोशिश की तो उधर रेले के कान खड़े हो गये। वह अपने घर से गायब हो गया। अब बड़ी मुश्किल पेश आयी। वह कहीं आसपास के जंगलों में ही दो बन्दूकें लेकर रहने लगा पर हमें उसका पता न लग पाता था।

आखिर एक दिन रेले महाराज के छोटे भाई के पास जा पहुंचा और अपने पुराने कारनामों की दुहाई देते हुए बोला—देखिये, आपकी पुलिस ने मेरे नाकों दम कर रखा है। मेरा घर से निकलना, बैठना तक असंभव कर दिया है। महाराज उसकी बातों में आ गये। उन्होंने मुझे हाजिर होने का हुक्म भेजा और रेले को अपने यहां ही ठहरा लिया। मैं हुकुम पाते ही चल पड़ा परंतु जब मैं महाराज की सेवा में पहुंचा तो रेले वहां से गायब हो चुका था। उसके फरार हो जाने से ही महाराज को पता लग गया कि उसकी सारी बातों का क्या मूल्य था। मैं महाराज से मिलकर वापस आया और फिर अपने शिकार की टोह में लग गया।

किसी ने कहा, रेले हर रोज ब्राह्म मुहूर्त में कुछ मिनटों के लिये अपने घर आता है और खाने-पीने की चीजें लेकर चला जाता है। मैंने उसके घर के पास के एक सज्जन को जा पकड़ा। उनसे कहा, एक रात हमें अपने मकान में रहने दो। वह बेचारा कमजोर आदमी था। मना कैसे करता ! हम लोग अपने दल-बल सहित उसके घर में जा छिपे। एक छोटा-सा कमरा और बहुत-से आदमी। सचमुच वहां हमें अपने शरीरों को ठूंसना पड़ा। मेरा हुकुम हो गया कि किसी को लघुशंका आदि के लिये भी बाहर जाने की इजाजत नहीं। जो करना हो इसी कमरे में यहीं—हमारे लिये यह नयी बात न थी। हम लोगों को कई बार ऐसा अनुभव हो चुका था। अब हमने मकान-मालिक से कहा—तुम बाहर से ताला लगाकर कहीं चले जाओ। बात उसकी समझ में तो न आयी पर उसने आज्ञापालन में ही बुद्धिमानी समझी और वहां से चला गया। बात यह है कि रेले को इस मकान के सामने से ही गुजरना था। मैं चाहता था कि उसे गंध तक न लगे कि इस मकान में कोई है।

हम लोग दम रोके बैठे थे। एक-एक मिनट मानों बरसों का बन गया था। आखिर हमारे साथी हेड

कांस्टेबल ने बाहर से निश्चित संकेत दिया जिससे हमें पता लग गया कि रेले घर में घुस गया है। हम सब चुपके से बड़ी तेजी के साथ पीछे की ओर से निकले और झट रेले के मकान को घेर लिया। मकान को अच्छी तरह घेरकर मैंने दरवाजे के बाहर से रेले को बाहर निकलने के लिये चुनौती दी। रेले दरवाजे तक आया। इधर-उधर एक दृष्टि डाली और सारी स्थिति भांप ली। हम समझ रहे थे कि अब तो शिकार हमारे हाथ में आ ही गया। परंतु वह इतना कच्चा न था। उसने एक कड़े को पकड़ा और उचक कर छत पर जा पहुंचा और मानों छत के ऊपर से ही हमारे साथ कबड्डी खेलने लगा। चूहेदानी के अंदर पकड़े हुए चूहे कि तरह उसे यह न मालूम था कि उसके भागने के लिये कहीं कोई रास्ता नहीं था। वह हमें चकमा देकर किसी पड़ोसी की दीवार पर से एक गली में कूदा। दुर्भाग्य से वहां वही हेड कांस्टेबल खड़ा था जिसने हमें उसके आने के बारे में संकेत दिया था। उसे पता था कि अगर रेले बच निकला तो सबसे पहले उसका सिर कंधों से जुदा हो जायेगा। उसने जो रेले को कूदते देखा तो अपनी दुनाली चला दी और इस तरह इस साहसी पर कुमार्ग पर चलनेवाले वीर का अंत हो गया।

(अजित सिंह जी से सुनी हुई घटना)

प्रयास तथा संकल्प

आपने कहा है : "अगर तुम समर्पण करो तो तुम्हें प्रयास छोड़ देना चाहिये, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि संकल्प के कार्य भी छोड़ दो।"

प्रश्न और उत्तर १९२९ (२१ अप्रैल)

लेकिन अगर आदमी कुछ करना चाहे तो उसका अर्थ होता है व्यक्तिगत प्रयत्न। तब यह संकल्प क्या है ?

संकल्प और प्रयास, यानी, तनाव के इस संवेदन में फर्क है। प्रयास का अर्थ है अपने ऊपर ही निर्भर रहना; प्रयास में केवल अपना ही सहारा होता है, यह एक ऐसा तनाव है जो बहुत तीव्र और कभी-कभी बहुत पीड़ादायक होता है। तुम केवल अपने ही भरोसे रहते हो और तुम्हें लगता है कि अगर तुम हर क्षण प्रयास न करोगे तो सब कुछ मटियामेट हो जायेगा। यह है व्यक्तिगत प्रयास।

लेकिन संकल्प बिलकुल ही अलग चीज है। यह, तुम जो कुछ करते हो उसपर एकाग्र होने की क्षमता है, उसे भरसक अच्छे-से-अच्छा करो और जबतक ठीक-ठीक यह सूचना न मिल जाये कि काम समाप्त हो गया है तबतक बिना रुके करते जाओ। तुम्हारे सामने इसकी व्याख्या करना कठिन है। मान लो कि सहमति या परिस्थितियों के कारण कोई काम तुम्हारे हाथ में आता है। एक चित्रकार को ले लो। किसी-न-किसी तरह उसके अंदर एक प्रेरणा आयी और उसने एक चित्र बनाने का निश्चय किया। वह भली-भांति जानता है कि अगर उसमें प्रेरणा न हो, और अपने से भिन्न शक्तियों का सहारा न हो तो वह कुछ खास न कर सकेगा। वह चित्र की जगह पोता हुआ रंग लगेगा। उसे यह मालूम है। लेकिन यह तय हो गया है, चित्र बनाना है, इसके बहुत-से कारण हो सकते हैं पर चित्र तो बनाना ही है। अब अगर उसमें निष्क्रिय वृत्ति हो तो वह अपना पटल, रंग, पट्टी, कलम आदि सामने रखकर बैठ जायेगा और भगवान् से कहेगा : "लो, अब तुम चित्र बनानेवाले हो।" लेकिन भगवान् इस तरह काम

नहीं किया करते। स्वयं चित्रकार को सब कुछ अपने हाथ में लेना होगा, सब कुछ व्यवस्थित करना होगा, अपने विषय पर एकाग्र होना होगा, ऐसे आकार और रंग ढूंढ़ने होंगे जो उसे व्यक्त कर सकें और अपना सारा संकल्प लगा देना होगा ताकि काम अधिक-से-अधिक पूर्ण हो सके। उसका संकल्प हमेशा रहना चाहिये लेकिन उसे यह ख्याल भी रखना चाहिये कि उसे प्रेरणा के प्रति खुला रहना चाहिये। उसे यह न भूलना चाहिये कि तकनीक के ज्ञान के बावजूद, रंग, आकार, आकृति आदि को व्यवस्थित और संगठित करने के बावजूद यदि उसमें प्रेरणा नहीं है तो वह और हजारों, लाखों चित्रों के जैसा एक चित्र होगा और बहुत रोचक न लगेगा। वह भूलता नहीं, वह कोशिश करता है, वह अपने चित्रों में जो अभिव्यक्त करना चाहता है उसे किस तरह अभिव्यक्त किया जाये यह देखने और अनुभव करने का प्रयास करता है। उसके पास अपने रंग हैं, कलम है, अपना मॉडल है, उसने अपना खाका बना लिया है जिससे वह बड़ा चित्र बनायेगा। वह अपनी प्रेरणा का आवाहन करता है। ऐसे भी होते हैं जो, जो कुछ करना है उसका स्पष्ट, यथार्थ अंतर्दर्शन पा लेते हैं। पर उसके बाद दिन-पर-दिन, घंटे-पर-घंटे उनके अंदर काम करने का, अध्ययन करने का संकल्प रहता है, संकल्प रहता है कि पूरी सतर्कता के साथ तबतक अच्छे-से-अच्छा करते चलें जबतक वे अपनी पहली प्रेरणा को अधिक-से-अधिक पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर सकें . . .। ऐसे व्यक्ति ने भगवान् के लिये काम किया है, उनके सायुज्य में काम किया है, लेकिन निष्क्रिय रूप में नहीं, निष्क्रिय समर्पण के साथ नहीं, बल्कि सक्रिय समर्पण और गतिशील संकल्प के साथ। परिणाम प्रायः बहुत अच्छा होता है। हां, तो चित्रकार का उदाहरण मजेदार है। अगर चित्रकार सच्चा कलाकार हो तो वह देख सकता है कि वह क्या करनेवाला है। वह उस भागवत शक्ति के साथ नाता जोड़ सकता है जो सभी अभिव्यक्तियों के परे है और अभिव्यक्ति को प्रेरणा देती है। कवि और लेखक के लिये भी यही बात है, उन सबके लिये यही बात है जो कुछ करना चाहते हैं।

क्या तुम नहीं समझते कि अगर तुम अपने पाठों के लिये इसका प्रयोग करो तो इसमें सफलता मिलेगी ?

१३ मई, १९५३ 'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५
पृ० ४३-४४

वेदसुधा :

अभीप्सा

[श्रीअरविन्द साहित्य के प्रेमी-पाठक 'अभीप्सा' शब्द से भली-भांति परिचित होंगे। अभीप्सा का अर्थ है प्रबल इच्छा, तीव्र उत्कण्ठा, किसी भी वस्तु की ओर अभिमुख होकर उसे प्राप्त करने की परम स्पृहा। पर यह केवल उच्च और दिव्य वस्तुओं की अभिलाषा के लिये प्रचलित हो गया है। परम देव और उनकी समग्र दिव्यता को प्राप्त करने की गहरी लौ, लगन, अदम्य प्यास का सूचक बन गया है। वेद का सर्वप्रथम पद 'अग्नि' (अग्निमीळे) इसी अभीप्सा की अग्नि, दिव्य संकल्प की अग्नि का वाचक है, भागवत संकल्प-शक्ति का अधिष्ठातृदेव है। अग्निदेव के सैकड़ों सूक्त इसी की महत्ता और महिमा का गान कर रहे हैं। आइये, हम देखें, वेद में अभीप्सा की कैसी उड़ान भरी गयी है !]

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥ ऋ० १, १

भावार्थ—मैं अग्निदेव की उपासना करता हूं, जो अन्तर्यज्ञ में अग्रणी के पद पर स्थापित हैं, उसके नायक हैं (पुरोहितम्), दिव्य ऋत्विक हैं, सत्य के विधान के अनुसार यज्ञ का संपादन करनेवाले हैं (देवम् ऋत्विजम्), देवताओं का आह्वान करनेवाले तथा आह्वान (पुकार) के द्वारा अंतर्यज्ञ का निष्पादन करनेवाले हैं (होतारम्), आनन्दैश्वर्यों को हमारे अंदर धारण करने में सबसे श्रेष्ठ हैं, सबसे अधिक समर्थ हैं (रत्न-धा-तमम्)।

कृणवन्तु वेदं समग्निमिन्धतां परः।
तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं ते तनवावहै॥ ऋ० १, १७०, ४

भावार्थ—महत् किंवा साधना-यज्ञ के यजमान हृदय की वेदी को तैयार करें, उसमें सामने की ओर अभीप्सा की अग्नि को प्रदीप्त करें। हे प्रभो ! वहां हम तेरे लिये यज्ञ करें जिससे चेतना अमरत्व की ओर जागती है, जागृत होकर अमरत्व की अवस्था तक पहुंचती है।

तच्चक्षु देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्, शृणुयाम शरदः, प्रब्रवाम शरदः शतम्, अदीनाः स्याम शरदः शतम् भूयश्च शरदः शताम्॥ ऋ० ७, ६६, १६

भावार्थ—उस सर्वद्रष्टा और सब कुछ दिखानेवाले ज्ञानचक्षु की सहायता से हम सौ वर्ष तक ज्ञान प्राप्त करते रहें, सौ वर्ष तक प्रबुद्ध और जागृत रहें, सौ वर्ष तक बढ़ते और पुष्ट होते चलें, सौ वर्ष तक हमारा अस्तित्व बना रहे, हमें सौ वर्ष जीने का आशीर्वाद प्राप्त हो। सौ वर्ष से भी अधिक काल तक हम हृष्ट-पुष्ट बने रहें। उन्नत और संवर्द्धित होते हुए, दीर्घायुष्य और सतेज जीवन का आशीष प्राप्त करते हुए विकसित होते रहें।

बुध्येमं शरदः शतम्॥ रोहय शरदः शतम्॥ पूषय शरदः शतम्॥ भवेम शरदः शतम्॥ भूयेम शरदः शतम्॥ भूयसीः शरदः शतम्॥ अथर्व० १९, ६७, ३८

भावार्थ—वह देवों का हितकारी, सर्वसाथी ज्ञाननेत्र हमारे समक्ष शुद्ध पवित्र और तेजस्वी रूप में सदा से ही उदित है। उसकी सहायता से हम सौ वर्ष तक देखते रहें, सौ वर्ष तक जीते रहें, सौ वर्ष तक सुनते रहें, सौ वर्ष तक बोलते रहें, सौ वर्ष तक अदीन होकर विचरें, सौ वर्ष से भी अधिक काल तक हम सब इन्द्रियों की शक्ति से संपन्न रहते हुए अदीन भाव से जीवित रहें।

भद्रं कर्णायः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाश्रयिर्यजत्राः।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांस स्तनूभि र्व्यदेवहितं यदायुः॥ ऋ० १, ८९, ८

भावार्थ—हे पूजनीय देवो ! हम कानों से भली बात ही सुनें और आंखों से भली चीज ही देखें, सभी इन्द्रियों से हम विषयों को ग्रहण करें। दृढ़ अंगों से युक्त शरीरों से सदा स्तुति करते हुए देवों द्वारा नियत अपनी आयु को प्राप्त कर लें।

विशेष विवरण—यहां दृढ़ अंगों एवं हृष्ट-पुष्ट शरीरों से स्तुति करने की अभीप्सा की गयी है। ऐसी स्तुति का इसके सिवाय कोई आशय नहीं हो सकता कि हम अपने प्रत्येक अंग से भगवान् के लिये, भगवदिच्छा की पूर्ति के लिये कर्म करें। वेदों के अनुसार शरीर के प्रत्येक अंग में एक-

एक देवता का निवास है जिसकी शक्ति से ही वह अपना कार्य करता है। इसलिये प्रत्येक अंग से दिव्य चेष्टा, दिव्य कर्म करना ही सच्चा देव-यजन है, देवताओं और परमदेव का यजन-पूजन है।

असन्तापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा॥ अथर्व० ७, १६, ३, ६

भावार्थ—मेरा हृदय शोक-संताप, विषाद और अवसाद से रहित हो, मेरी इन्द्रियों की पहुंच, इन्द्रिय-शक्ति विशाल और महान् हो, मैं गुण-धर्म से समुद्र बन जाऊं। गहन-गम्भीर, विशाल-विराट्, गुणों का आगार, रत्नों का भण्डार।

प्राण की शुद्धि

यह सच है कि बाह्य प्राण की शुद्धि के लिये बाहरी अनुशासन जरूरी है अन्यथा वह बेचैन और मनमौजी और अपने ही आवेशों की दया पर रहता है जिसके कारण वहां अचंचल-स्थिर, उच्चतर चेतना के दृढ़ता के साथ रहने के लिये कोई आधार नहीं बनाया जा सकता।

*

साधारण जीवन में लोग क्रोध, कामना, लोभ, काम-वासना आदि प्राणिक गतिविधियों को स्वाभाविक और स्वीकार्य चीजें, मानव स्वभाव का भाग मान लेते हैं। जहांतक समाज इन्हें नापसंद करता है या आग्रह करता है कि इन्हें निश्चित सीमाओं में या उचित नियंत्रण या मर्यादा में रखा जाये, लोग इनपर नियंत्रण रखने की कोशिश करते हैं ताकि नैतिकता के या सामाजिक सदाचार के स्तर के अनुसार रह सकें। इसके विपरीत यहां, जैसा कि हर आध्यात्मिक जीवन में होता है, इन चीजों पर विजय और पूर्ण स्वामित्व की मांग की जाती है। इसीलिये यहां संघर्ष का अधिक अनुभव होता है, इसलिये नहीं कि ये चीजें साधारण लोगों की अपेक्षा साधकों में अधिक जोर से उठती हैं, बल्कि इसलिये कि आध्यात्मिक मन—जो नियंत्रण की मांग करता है—और प्राणिक गतिविधियां—जो विद्रोह करती और नये जीवन में भी पुराने जीवन की तरह ही चलती रहना चाहती हैं—इन दोनों में संघर्ष की तीव्रता होती है। रहा यह विचार कि साधना इस तरह की चीजों को उठाती है, इसमें एकमात्र सत्य यह है कि पहली बात तो यह है कि साधारण मनुष्य के अंदर ऐसी बहुत-सी चीजें होती हैं जिनके बारे में वह सचेतन नहीं होता क्योंकि प्राण उन्हें मन से छिपाता है और उनसे संतोष पाता है, जब कि मन को पता भी नहीं होता कि कौन-सी शक्ति क्रिया को चला रही है—जैसे जो चीजें परोपकार, मानवप्रेम, सेवा इत्यादि के नाम से की जाती हैं वे अहंकार द्वारा परिचालित होती हैं जो अपने-आपको इन औचित्यों के पीछे छिपाये रखता है, योग में गुप्त प्रयोजन को पर्दे के पीछे से निकालना, प्रकट करना और फिर दूर करना होता है। दूसरी बात यह है कि कुछ चीजें सामान्य जीवन में दबा दी जाती हैं और वे प्रकृति में दबी पड़ी रहती हैं, वे दबी रहती हैं लेकिन निकाली नहीं जातीं; इसलिये किसी भी समय अपने-आपको विभिन्न स्नायविक रूपों में या मन, प्राण अथवा शरीर के उपद्रवों में प्रकट कर सकती हैं, जिससे उनके सच्चे कारण का पता ही नहीं चलता। अभी हाल में यूरोपीय मानस-शास्त्रियों ने इसका पता लगाया है और इसपर बहुत जोर दिया है बल्कि यूं कहें कि अतिशय जोर दिया है और इसे मनोविश्लेषण शास्त्र के

नाम से एक नया शास्त्र बना दिया है। यहां साधना में मनुष्य को इन दबे हुए आवेगों के बारे में सचेतन होना और उन्हें निकाल बाहर करना होगा—इसे उठाना कहा जा सकता है पर इसका यह मतलब नहीं है कि उन्हें उठाकर क्रियाशील बनाना चाहिये, उन्हें केवल चेतना के आगे उठाना चाहिये ताकि वे सत्ता में से निकल जायें।

रही यह बात कि कुछ लोग अपने-आपको वश में रख सकते हैं जब कि दूसरे इनमें बह जाते हैं तो यह स्वभाव के अंतर के कारण होता है। कुछ लोग सात्त्विक होते हैं और उनके लिये संयम आसान होता है, कम-से-कम कुछ हदतक; अन्य लोग अधिक राजसिक होते हैं और उन्हें संयम कठिन और कभी-कभी असंभव लगता है। कुछ लोगों का मन और मानसिक संकल्प बलवान् होता है जब कि कुछ और लोग प्राणिक होते हैं जिनमें प्राणिक आवेश अधिक प्रबल और अधिक सतह पर होते हैं, कुछ लोग संयम जरूरी नहीं मानते और अपने-आपको खुली छूट देते हैं, साधना में मानसिक या प्राणिक संयम का स्थान आध्यात्मिक प्रभुत्व को ले लेना चाहिये—उसके लिये मानसिक संयम एकांगी है, वह नियंत्रण तो करता है पर मुक्त नहीं करता। केवल चैत्य और आध्यात्मिक ही यह कर सकते हैं। इस दृष्टि से सामान्य और आध्यात्मिक जीवन में यही मुख्य अंतर है।

*

प्राण की शुद्धि में लंबा समय लगता है क्योंकि जबतक सभी भाग मुक्त न हो जायें तबतक कोई भी पूरी तरह मुक्त नहीं होता, क्योंकि वे बहुत सारी ऐसी गतिविधियों का उपयोग करते हैं जिन्हें बदलना और आलोकित करना होता है और फिर प्रकृति की अभ्यासगत गतिविधियों में डटे रहने और प्रतिरोध करने की बड़ी आदत होती है। इसलिये तुम आसानी से समझ बैठते हो कि तुमने कोई प्रगति नहीं की—लेकिन शुद्धि के सभी सच्चे और अखंड प्रयास का परिणाम आता है और एक समय के बाद की गयी प्रगति स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है।

*

योग में कुछ प्राणिक गतियों का तीव्र होना एक जानी-मानी घटना है और इसका यह मतलब नहीं है कि तुम्हारा पतन हो गया है। इसका मतलब यही है कि पार्थिव प्राणिक प्रकृति की आधारभूत वृत्तियों के साथ केवल साहब सलामत का संबंध होने की जगह अब तुम उनके साथ भिड़ंत में आ गये हो... ये चीजें इस कारण इस तरह उठती हैं क्योंकि ये अपने जीवन के लिये लड़ रही हैं—वे वास्तव में तुम्हारे लिये व्यक्तिगत नहीं हैं और उनके आक्रमण की तीव्रता तुम्हारी प्रकृति की किसी "बुराई" के कारण नहीं है। मैं कह सकता हूं कि दस में से सात साधकों को इस तरह का अनुभव होता है। बाद में जब वे अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर सकतीं—यानी साधक को साधना-पथ से हटा नहीं सकतीं तो सारी चीज डूब जाती है और कोई तीव्र कठिनाई नहीं रहती।

*

वस्तुतः ये सभी अज्ञानमयी प्राणिक गतिविधियां बाहर से अज्ञानमयी वैश्व प्रकृति में आरंभ होती हैं। मनुष्य अपनी सत्ता के ऊपरी भागों में—मानसिक, प्राणिक और भौतिक में—बाहर की इन लहरों को एक उत्तर देने की आदत डाल लेता है। वह इन्हीं उत्तरों को (क्रोध, कामना, और काम-वासना इत्यादि)

अपने स्वभाव के रूप में मान लेता है और सोचता है कि अन्य तरह से हो ही नहीं सकता। लेकिन बात ऐसी नहीं है, वह बदल सकता है। उसके अंदर गहराई में एक और चेतना है जो उसकी सच्ची आंतरिक सत्ता है, जो उसकी सच्ची आत्मा है लेकिन जिसे सतही प्रकृति ढके रहती है। साधारण आदमी इसे नहीं जानता लेकिन साधना में प्रगति करते-करते योगी इसके बारे में अभिज्ञ हो जाता है। जैसे-जैसे साधना द्वारा इस आंतरिक सत्ता की चेतना बढ़ती जाती है वैसे-वैसे सतही प्रकृति और उसके प्रत्युत्तर को बाहर हांक दिया जाता है और उनसे पूरी तरह पिंड छुड़ाया जा सकता है। लेकिन अज्ञानमयी वैश्व प्रकृति छोड़ना नहीं चाहती और पुरानी गतिविधियों को साधक पर फेंकती है और फिर से उन्हें अंदर घुसाने की कोशिश करती है। आदत के कारण बाहरी प्रकृति पुराने उत्तर देती है। अगर तुम्हें यह पक्का ज्ञान मिल जाये कि ये चीजें बाहरी हैं और तुम्हारा सच्चा भाग नहीं हैं तो साधक के लिये ऐसे लौटने को धकिया देना ज्यादा आसान होता है और अगर वे पकड़ भी लें तो भी उन्हें जल्दी दूर किया जा सकता है।

*

प्राण में उत्पात तबतक आते रहेंगे जबतक पूर्ण शांति का वहां अवतरण न हो जाये। लेकिन मन में दृढ़ निश्चय के साथ, जिसे हमेशा सामने रखा जाये, उत्पातों की तीव्रता लुप्त हो सकती है और रास्ता छोटा हो जाता है।

*

अगर तुम्हें शांति मिल जाये तो प्राण को शुद्ध करना ज्यादा आसान हो जाता है। अगर तुम सफाई करो, केवल सफाई ही करते रहो तो तुम धीरे-धीरे बढ़ोगे क्योंकि प्राण फिर से गंदा हो जाता है और उसे सैंकड़ों बार साफ करने की जरूरत पड़ती है। शांति अपने-आपमें शुद्ध वस्तु है इसलिये उसे प्राप्त करना अपने उद्देश्य को पाने का निश्चित मार्ग है। केवल गंदगी को देखना और उसे साफ करते रहना एक नकारात्मक तरीका है।

—श्रीअरविन्द

'गैर्वाणी' :

बालकथे

भो बालकाः। श्रृणुत अद्य 'मधु-सञ्चयः' इति पत्रिकायां प्रकाशिते द्वे मनोरञ्जिके लघुकथे—

एकदा समृद्ध्याः देवी लक्ष्मीः दरिद्रतायाः च देवी दारिद्री परस्परं सम्मिलिते। अचिरमेव तयोः मध्ये विवादः समुद्भूतः। विवादविषयः आसीत् कस्याः आकर्षणं बलं च अधिकम् इति ? लक्ष्मीः अभणत्—"अयि दारिद्रि ! नैषः तर्कविषयः ? कुत्र त्वं कुत्र चाहम् ! पश्य तावत् मे वैभवम्..."

दारिद्री न सङ्कुचिता न च हीनभावग्रस्ता। सा अवदत्—"भगिनि, स्यात् तव वैभवम् अनन्तम्, सम्भवतः त्वम् आकर्षकतरा किन्तु बलवत्तरा अहम् एव।"

समृद्धिदेव्याः अट्टहासः निनदितः—"बलवत्तरा ? अयि, कः वर्तते जगति यः न स्यात् मे पूजकः आकाङ्क्षी वा ?"

"दर्शय धरित्र्यां स्थानमीदृशं यत्र नाहं विराजे।" दारिद्री अपि समानबलेन निजतर्कमुपास्थापयत्।

खिन्नमनाः इव समृद्धिदेवी अगदत्—"वृथा तर्कयसि त्वम्। मम माहात्म्यं सर्वे स्वीकुर्वन्ति एव। जनाः मां पूजयन्ति, मयि गृहे प्रविष्टायां घृतदीपान् प्रज्वालयन्ति। त्वं तु सर्वेषां नेत्रकण्टकम्, कः कुर्यात् तव अभ्यर्थनाम् ?"

"किन्तु भगिनि, किं न कदापि परिलक्षितं त्वया यत् त्वाम् अधिकृत्य बहुशः धरावासिनः उन्मत्ताः उद्दण्डाः भवन्ति। अवसरं प्राप्य त्वाम् विद्राव्य अहम् अखण्डसाम्राज्यं स्थापयामि। यं कमपि पृच्छ, जनाः मां त्वत्तः गरीयसीम् एव उद्घोषयिष्यन्ति।"

कुपिता लक्ष्मीः अवदत्—"व्यर्थं कलहं समुत्पादयितुम् इच्छसि किम् ? किम् आकाश-पातालौ, स्वर्ग-नरकौ वा कदापि कमपि पृच्छतः आवयोः कः महान् इति ? हास्यास्पदं वचनं ते।"

निजबलं दर्शयितुं दारिद्री अपि कृतनिश्चया जाता। पथिकमेकं विराम्य अकथयत्—"मित्र ! अहमस्मि दारिद्री एषा च लक्ष्मीः। त्वमेव निर्णयं कुरु, आवयोः का महत्तरा ?"

किङ्कर्तव्यविमूढः यात्री। धर्मसङ्कटे पतितः सः स्वगतमवदत्—"आः ! द्विधारमयोऽयं खड्गः लम्बते मम मस्तके। समृद्धिः गरीयसी इति उक्ते एषा दारिद्री मां भिक्षाटनाय विवशं कुर्यात्, त्वमेव महीयसी इति उक्ते च समृद्धिः चिरं पराङ्मुखी तिष्ठेत्।" प्रार्थनाभिः तस्य इष्टदेवः प्रसन्नः। कश्चित् विचारः हठात् स्फुरितः तस्य मनसि। बद्धाञ्जलिः अब्रवीत्—"हे देव्यौ ! निकटात् उभेऽपि भव्ये दृश्येथे किन्तु दूरादपि भवत्योः लावण्यं द्रष्टुकामः। कृपया ईषत् दूरं गत्वा मां प्रति आगम्यतां तर्हि सम्भवतः समुचितम् उत्तरं दातुं शक्नुयाम्।"

द्वेऽपि प्रसन्ने किञ्चित् दूरं गत्वा पान्थं प्रत्यागते।

पान्थः सविनयं न्यवेदयत्—"उभयोः भव्यता समाना यतो हि लक्ष्मीः माम् उपागच्छन्ती भृशम् आकर्षिका, मधुरा भव्या च दृश्यते स्म, देवी दारिद्री मत्तः दूरं गच्छन्ती तथैव मधुरा, भव्या आकर्षिका च प्रतीयते स्म।"

सन्तुष्टे ते द्वेऽपि हस्तेन हस्तं धृत्वा प्रतिगते।

एषा द्वितीया कथा—

कस्मादपि ग्रामात् निर्गच्छन् कश्चित् नगरवासी एकं स्वपन्तं कुम्भकारम् अपश्यत्। —हन्त, विक्रयार्थम् एतेन मृत्पात्राणि मार्गस्य प्रान्ते स्थापितानि किन्तु स्वयं स्वपिति, सर्वमस्य चोरितं भवेत् इति चिन्तयन् सः निजकर्तव्यं मत्वा कुम्भकारं सुखनिद्रायाः अजागरयत्। निद्राभिभूतः कुम्भकारः अपृच्छत्—"किम् इच्छति भवान् ?"

भ्रातः उत्तिष्ठ पूर्वम् इति कथयन् पथिकः मनसि अचिन्तयत्—विचित्रः अस्ति एषः। व्यापारं करोति अथ वा उद्योगहीनः एव उपवेष्टुमिच्छति ?

अनिच्छुकेनापि कुम्भकारेण उत्थातव्यमभवत्। ईषत् सावधानो यात्रिणमपृच्छत्—"कथयतु किं क्रेतुमिच्छति भवान् ?"

पथिकः सम्प्रति नासीत् ग्राहकः अपि तु उपदेशकः। तमबोधयत्—"भ्रातः ! आपणे असि त्वम्, व्यापारसमयः एषः, ईषत् जागरूकः तिष्ठ। इतः गतागतान् जनान् पश्य।"

"तेन किं भविष्यति महाशय ?" कुम्भकारोऽपृच्छत्।

"तान् दृष्ट्वा मधुरस्वरेण आह्वय आपणे।" यात्री अगदत्।

"तेन किं भविष्यति महानुभाव ?" कुम्भकारोऽपि समानस्वरेणापृच्छत्।

ईषत् कुपितोऽपि नगरवासी विस्मयमानः अवदत्—"अहो ! सत्यं सरलस्त्वम्। निजपात्राणां गुणगानं

कृत्वा तेषां विक्रयमपि अनायासं वर्धयितुं शक्ष्यसि।''

"अथ तेन किं भविष्यति ?'' पूर्ववत् सरलतया अकरोत् सः समानप्रश्नम्।

पथिकः क्रुद्धः एव। उच्चस्वरेणावदत्—"सत्यं विचित्रः मनुष्यस्त्वम्। अधुनापि पृच्छसि 'तेन किं भविष्यति ? अयि मूर्ख ! विक्रयवर्धनेन किं तव आयः न वर्धिष्यते ?''

"किन्तु तेन किं भविष्यति महाशय ?''—कुम्भकारस्य सहजप्रश्नः आसीत्।

—महामूर्खः एषः एतावत् अपि न बोधति; किन्तु मया एषः प्रबोधनीयः एव इति विचिन्त्य नगरवासी महाकुपितोऽपि स्नेहपूर्वकमगदत्—"अहो भ्रातः। आये वर्धिते त्वमधिकाधिकपात्राणि स्थापयिष्यसि, ततो जनसम्मर्दः तव आपणमागमिष्यति व्यापारश्च तव दिनानुदिनं समृद्धतरः भविष्यति।

अथ तेन किं भविष्यति इति कुम्भकारेण कृते समाने प्रश्ने पथिकस्य धैर्यपरीक्षा सञ्जाता। किन्तु सोऽपि तस्य मूर्खद्ररिद्रस्य प्रश्नेन अक्लान्तः इव सुमन्दमवदत्—"मित्र ! प्रचुरं धनमर्जित्वा त्वम् असङ्ख्यान् परिजनान् स्वं परितः प्राप्स्यसि।''

यस्य प्रश्नस्य प्रतीक्षामकरोत् सः एव प्रविष्टः यात्रिणः कर्णकुहरम्...

उत्तरतया अन्तिमवाक्यम् अक्षरूपेण अक्षिपत् सः—"अयि ! किं भविष्यति अन्यत् ? ततः परं सुखसाधनैः सुसम्पन्नस्त्वम् आनन्देन स्वप्स्यसि।''

तेन किं भविष्यति इत्येतत् श्रोतुं सामर्थ्यं नावशिष्टं पथिकस्य अतः निजपथे सर्तुमुद्यतस्य तस्य कर्णे ग्रामीणस्य हासमयी वाणी निनदिता—"हे महानुभाव ! समीचीनम् उक्तं भवता यत् परमहं सुखनिद्रां भजिष्ये। किन्तु भवान् यदा माम् अजागरयत् तदा किमकरवमहमिति कृपया वदतु...?''

आओ बच्चो...

आओ बच्चो, 'मधु सञ्चय' पत्रिका में छपी दो मजेदार कहानियों का रसास्वादन लें आज। देखना कितने पते की बात कह गयी हैं ये दोनों लघु कथाएं—

कहते हैं कि एक बार समृद्धि की देवी लक्ष्मी तथा दरिद्रता की देवी दरिद्री के बीच वाक्-युद्ध छिड़ गया। विवाद इस बात पर था कि कौन अधिक आकर्षक और ताकतवर है ? समृद्धि ने कहा—"अरे दरिद्री, यह भी कोई बहस का विषय है, कहां तुम और कहां मैं ? मेरे वैभव को तो देखो...''

दरिद्री जरा भी न सिमटी, न सिकुड़ी। कहने लगी—"बहन, हो सकता है तुम्हारा वैभव अपरम्पार हो, तुम अधिक आकर्षक हो, लेकिन ताकतवर मैं तुमसे कहीं ज्यादा हूं।''

समृद्धि की हंसी छूट गयी—"ताकतवर, अरे संसार का ऐसा कौन-सा व्यक्ति है जो मुझे पाना नहीं चाहता ? जो मुझे नहीं पूजता ?''

"और संसार में ऐसी कौन-सी जगह है जहां मैं नहीं विराजती ?'' दरिद्री ने भी उतनी ही जोर से अपना तर्क रखा।

समृद्धि जरा खिन्न-सी हो उठी—"तुम तो बहन, बेकार में मुझसे उलझ रही हो। सब जानते हैं कि मैं महान् हूं। लोग मुझे पाने के लिये पूजा करते हैं, मैं प्रवेश कर जाऊं तो घी के दीये जलाते हैं, तुम तो किसी को फूटी आंख भी नहीं सुहातीं।''

"लेकिन बहन, क्या तुमने यह कभी नहीं सोचा कि तुम्हें पाकर बहुत बार धरतीवासी उन्मत्त-से हो उठते हैं, और तब मैं तुम्हें खदेड़ कर अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित कर लेती हूं। किसी से भी

पूछकर देख लो, तुमसे उन्नीस नहीं बीस ही ठहरूंगी।"

समृद्धि भड़क उठी—"बेबात की रार मचा दी है तूने। आकाश और पाताल, स्वर्ग या नरक क्या किसी से पूछने जाते हैं कि हम में से कौन बड़ा ? कैसी हास्यास्पद बातें करती है तू।"

दरिद्री ने भी ठान ली थी कि आज अपनी ताकत का अन्दाजा वह समृद्धि को दिलवाकर रहेगी। रास्ते चलते एक व्यक्ति को रोककर बोली—"भाई, मैं हूं दरिद्री और ये हैं समृद्धि। तुम बताओ, हममें से कौन बड़ा ?"

अचानक आफत-सी टूट पड़ी उस पथिक पर। धर्म-संकट का मारा वह मन-ही-मन सोचने लगा—कैसी दुधारी तलवार पर खड़ा कर दिया है इसने मुझे। अगर समृद्धि को महान् कह दिया तो यह दरिद्री मुझे रास्ते का भिखारी बनाकर छोड़ेगी और डर के मारे इस दरिद्री को बड़ा कह बैठा तो समृद्धि हमेशा के लिये मुझसे दामन छुड़ा बैठेगी। सभी देवों से प्रार्थना करते-करते अचानक उस पथिक पर किसी देव ने अपनी कृपा बरसा दी। एक विचार कौंध गया उसके मस्तिष्क में। हाथ जोड़कर बोला—"देवियो, पास से तो आप दोनों ही अपनी-अपनी तरह से बहुत भव्य और बलशालिनी दीख रही हैं, लेकिन जरा मैं दूर से आप दोनों के आकर्षण को परखना चाहता हूं। कृपया कुछ दूर जाकर मेरी तरफ वापिस आइये तो संभवतः मैं उचित उत्तर दे सकूं।

दोनों खुशी-खुशी कुछ कदम जाकर लौट आयीं।

पथिक ने सविनय निवेदन किया—"आप दोनों ही मुझे समान रूप से भव्यता की प्रतिमूर्ति लगीं क्योंकि देवी समृद्धि, जब आप मेरी ओर आ रही थीं तो कितनी आकर्षक, मधुर और भव्य दीख रही थीं और देवी दरिद्री, आप जब मुझसे दूर जा रही थीं तो उतनी ही आकर्षक, मधुर और भव्य दीख रही थीं . . .।"

दोनों ही खुशी-खुशी, गलबहियां किये चली गयीं।

और यह रही दूसरी मनोरंजक कहानी—

एक शहरी किसी गांव से जा रहा था, रास्ते में उसने एक कुम्हार को देखा जो अपने बरतन सजाये वहीं बैठा ऊंघ रहा था। शहरी को यह बड़ा अजीब लगा कि एक दुकानदार दुकानदारी के समय ऊंघ रहा है, उसने अपना कर्तव्य समझकर उसे उठाने का प्रयास किया, लेकिन वह तो आराम की नींद सो रहा था। "अरे कहीं इसके सारे बर्तन लेकर कोई चम्पत ही न हो जाये" यह सोचकर उसने उसे झकझोर कर उठाया। नींद में ही कुम्हार बोला—"क्या चाहिये बाबूजी ?"

"पहले उठो तो भाई" कहकर शहरी मन-ही-मन सोचने लगा, कैसा अजीब इंसान है, दुकानदारी करने चला है या मक्खियां मारने।

मन मार कर कुम्हार को उठना ही पड़ा, जरा संभलकर बैठा फिर शहरी की ओर देखकर बोला—"जी फरमाइये, क्या चाहिये आपको ?"

शहरी तो इस समय खरीददार नहीं उपदेशक था, उसे समझाते हुए बोला—"अरे भाई, तुम अपनी दुकान पर बैठे हो, यह दुकानदारी का समय है, तुम्हें जरा चुस्त होकर बैठना चाहिये, आते-जाते लोगों पर नजर रखनी चाहिये।"

"फिर क्या होगा बाबूजी ?" कुम्हार ने पूछा।

यहां से गुजरनेवालों की निगाहें ताड़ो और उन्हें अपने पास बुलाओ।" शहरी ने समझाने के उसी लहजे में कहा।

"फिर क्या होगा बाबूजी ?" कुम्हार ने पूछा।

शहरी को उस कुम्हार की बेवकूफी पर क्रोध तो आया पर अपने ऊपर संयम रखकर बोला—"भाई, तुम भोले हो, जब तुम अपने बरतनों का बखान करोगे तो तुम्हारी बिक्री भी रातों-रात बढ़ जायेगी।"

"फिर क्या होगा बाबूजी ?" कुम्हार के मुंह से वही भोलापन टपक रहा था।

शहरी को क्रोध आ ही गया। जरा तेज स्वर में बोला, "अजीब इंसान हो तुम भी, अब भी पूछते हो कि "फिर क्या होगा ?" अरे भाई, बिक्री बढ़ेगी तो आय भी तो बढ़ेगी।"

"लेकिन, फिर क्या होगा बाबूजी" वही समान लहजा !!

यह तो सचमुच मूढ़मति है। शहरी अंदर-ही-अंदर बौखला उठा था, फिर भी अपने को संयम में रखकर बोला—"भले मानस, आय बढ़ेगी तो तुम ज्यादा बर्तन रख सकोगे, बर्तन अधिक होने से ग्राहकों का तांता लग जायेगा, तुम्हारी बिक्री दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ जायेगी और देखते-न-देखते तुम मालामाल हो जाओगे।"

"और फिर क्या होगा बाबूजी" जब कुम्हार ने फिर वही प्रश्न दागा तो शहरी का पारा चढ़ जरूर गया लेकिन फिर अगले ही पल उसे उस गरीब इंसान की बेवकूफी पर मन-ही-मन हंसी आ गयी। धीरे से बोला—"भैय्या, जब तुम्हारे पास खूब रुपये-पैसे होंगे तो तुम बहुत सारे नौकर-चाकर रख सकोगे जो तुम्हारे आगे-पीछे घूमेंगे।"

जिस प्रश्न के उत्तर की वह प्रतीक्षा कर रहा था वही उसके कानों में गूंज उठा, "फिर क्या होगा बाबूजी ?"

अपना अंतिम पासा फेंकते हुए शहरी ने हथियार डालने के से लहजे में कहा, "अरे होगा क्या ? फिर तुम ऐश की जिन्दगी बिताओगे। आराम करोगे।"

"फिर क्या होगा" सुनने की शक्ति उसके कानों में अब बची न थी अतः शहरी उस गंवार से अपना पिण्ड छुड़ाने के लिये अपने रास्ते बढ़ने ही वाला था कि देहाती ने मुस्कुरा कर बड़ी शांति से कहा—"वाह, वाह, बहुत ठीक कहा आपने कि फिर मैं आराम करूंगा, लेकिन बाबूजी जरा यह तो बताइये कि जब आपने मुझे जगाया था तो मैं क्या कर रहा था !!!?"

—वन्दना

अक्तूबर २००० से सितम्बर २००१ तक के लेखों की सूची

श्रीअरविन्दवाणी—मार्ग (११—२०००); स्वप्न-तरी (Dream Boat) (कविता), एक पत्र का अंश, कर्मयोग (१२—२०००); सत्य पर डटे रहो, भोजन के बारे में (१—२००१); संगति के तरीके को ढूंढो, जीवन यात्रा . . ., भोजन के बारे में (३—२००१); प्रकृति की प्रयोगशाला, प्राण, शुभ और अशुभ के परे (४—२००१); कर्मयोग, वैश्व चेतना, संवेदनशीलता, सत्य-ज्ञान, अनन्तता (५—२००१); यूरोपीय और एशियावासी का मन (७—२००१); प्राण : एक अनिवार्य यंत्र (८—२००१); प्राण की शुद्धि (९—२००१)।

श्रीअरविन्द के साथ बातचीत (नीरदवरण)—अतिमानस, जैन धर्म के बारे में (१०—२०००); अनुभूतियां (११—२०००); क्रांति इत्यादि के बारे में (१२—२०००); क्रांति के वे दिन (१—२००१); ग्रामोद्धार इत्यादि के बारे में (२—२००१); विभिन्न विषय (३—२००१); दो कहानियां (४—२००१); नियति इत्यादि के बारे में (५—२००१); चेतना, अहंकार इत्यादि के बारे में (६—२००१); दर्शन (७—२००१); कुछ इधर, कुछ उधर की (८—२००१); प्रवर्तक पत्रिका के कुछ अंश (९—२००१)।

ऋषिवर बोले—आशा की घड़ी (११—२०००); बुरे विचारों से कैसे बचें ? (१२—२०००)।

गैर्वाणी—समस्तकलुषनाशिनी गङ्गा (१०—२०००); स्मरणमेव तारयति . . . (११—२०००); चित्तमुक्ति (१२—२०००); अक्षयप्रदीप (१—२००१); एकाकारौ (२—२००१); भेद (३—२००१); राज्यपालः (४—२००१); चरित्रपरिवर्तनम् (५—२००१); माधुर्यम् (६—२००१); हृद्देशं प्रविष्टः (७—२००१); वराणां वरः (८—२००१); बालकथे (९—२००१)।

अन्य—यत्र तत्र सर्वत्र (१०—२०००); अकंपित दीप (कविता) (नीरज) (११—२०००); दिल का आईना (१—२००१); माताजी का बचपन (श्वेत कमल), यह योग (२—२००१); अंगुष्ठ मात्र (अनुवेन) (३—२००१); बैजू बावरे, कृतज्ञता का पुरस्कार (अनुवेन) (४—२००१); गलीचा (एक आर्मीनियन उपकथा) (५—२००१); चाहे कितनी बाधाएं आयें (कविता) (केदारनाथ कोमल), अंधी, बधिर और अप्रतिम हेलन केलर, 'नयी कोपलें' : सितारों की झालर (सुरुचि वर्मा), तबतक के लिये अलविदा (कनिष्ठा), एक किशोर शिष्य के साथ श्रीमां का पत्र-व्यवहार (६—२००१); दिव्य जननी (कविता) (प्रतापनारायण मिश्र), 'नयी कोपलें' : किताब या गृहकार्य (गौरी पराशर), क्या भगवान् के दर्शन हुए हैं ? (श्री चन्द्रदीप) (७—२००१); किशोर-दल, बढ़ा चरण (कविता) (आरसीप्रसाद सिंह), डॉ० कृष्ण धन घोष : एक परिचय (श्री सुरेशचन्द्र त्यागी), 'नयी कोपलें' : शीशा (सुरुचि वर्मा) (८—२००१); गत दिवस (कविता) (सियारामशरण गुप्त), प्रसिद्ध डाकू रेले (अजितसिंह से सुनी हुई घटना), वेद-सुधा : अभीप्सा (श्री जगन्नाथ वेदालंकार) (९—२००१)।

नलिनीकान्त गुप्त के लेख—दशावतार (१—२००१); यह सृष्टि (२—२००१); योग में अधीरता (९—२००१)।

अमृत की यादें—अक्तूबर २००० से सितम्बर २००१ तक गये।

श्रीअरविन्द के साथ दारा का पत्र-व्यवहार—अक्तूबर २००० से सितम्बर २००१ तक गये।

पुस्तक परिचय—मार्च, अप्रैल तथा अगस्त २००१ में गया।

प्रार्थना और ध्यान तथा **दैनन्दिनी** हर महीने गये।

A new world, based on Truth and refusing the old slavery to falsehood, wants to take birth.

In all countries there are people who know it, at least feel it.

To them we call.

"Will you collaborate?"

1972 The Mother

यदि तुमने भगवान् को चुना है तो इसका कारण है कि भगवान् ने तुम्हें चुन लिया है।

—श्रीमां

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये।

—श्रीमां